आधुनिक हिन्दी काव्यालोचना के विकास में प्रतिनिधि कवियों का योगदान

(THE CONTRIBUTION OF REPRESENTATIVE POETS IN THE DEVELOPMENT OF MODERN HINDI CRITICISM ON POETRY)

Thesis Submitted to the

UNIVERSITY OF COCHIN

for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

By

K. K. VELAYUDHAN
(के. के. वेलायुधन)

Prof. and Head of the Department
DR. N. RAMAN NAIR

Supervising Teacher
DR. P. V. VIJAYAN

DEPARTMENT OF HINDI
UNIVERSITY OF COCHIN
COCHIN - 22

1983

C E R T I F I C A T E

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by K.K.Velayudhan under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for degree in any University.

Dr. P.V. VIJAYAN
(SUPERVISING TEACHER)

Department of Hindi,
University of Cochin,
C o c h i n - 22.

ACKNOWLEDGEMENT

This work was carried out in the Department of Hindi, University of Cochin, Cochin-22, during the tenure of fellowship awarded to me by the Cochin University. I sincerely express my gratitude to the Cochin University for this help and encouragement.

COCHIN - 22,

- FEBRUARY, 1983.

(K. K. VELAYUDHAN).

प्राक्कथन

प्रा क्क थ न

मनुष्य अपनी बुद्धि शक्ति विवेक और विवेचन के कारण दूसरे प्राणियों से भिन्न दिखाई देता है । ये नैसर्गिक गुण संसार में उसे उत्कृष्ट बना देते हैं । कहा जाता है कि साहित्य भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है । यदि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है तो आलोचना उस जीवन की अभिव्यक्ति कौशल की परीक्षा करने की प्रक्रिया है । आलोचना मुख्यतः सृजनात्मक साहित्य के विश्लेषण, विवेचन और निर्णय की प्रक्रिया है । अतः हम देखते हैं कि आलोचना साहित्य सृजनात्मक साहित्य के समान उतना ही पुराना है । अंतर केवल इतना है कि पहले सृजनात्मक साहित्य रचा जाता है और बाद में आलोचना साहित्य । आगे विकास के अनेक चरणों को पार करते हुए उसने अपनी विशेषताओं के कारण साहित्यिक क्षेत्र में अपना अलग अस्तित्व जमा दिया । परंतु गहरे अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सृजनात्मक साहित्य और आलोचना साहित्य दोनों एक और समान है । दोनों परस्पर पूरक हैं और दोनों में घनिष्ठ संबंध हैं । अंतर यह है कि सृजन में "राग तत्व" प्रधान है और आलोचना में "बुद्धि तत्व" प्रधान है । किंतु आरंभ से ही सृजन और आलोचना को अलग अलग साहित्यिक विधा के रूप में व्यवहृत करने का प्रयत्न किया गया है । और यही नहीं एक गलत धारणा फैल गई है कि जो साहित्यकार सृजनात्मक साहित्य में पराजित होता है वह आलोचक बन जाता है ।

आधुनिक काल के द्वितीय चरण में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता और नैतिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप काव्य क्षेत्र में नयी सौंदर्य चेतना, कल्पना और कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप में छायावाद ने जन्म लिया । हिन्दी कविता के

इतिहास में छायावाद का आविर्भाव विशेष महत्व रखता है । उस समय प्रतिष्ठित आलोचकों ने छायावादी कविता के प्रति न्याय नहीं किया । उनके विषय में गलत धारणाएं रखते हुए उन्होंने आलोचना की । ऐसी स्थिति में छायावादी कवियों को अपनी कविता की विशेषताओं को स्पष्ट करना पड़ा । इसी सिलसिले में उन्होंने विस्तार से अपने सृजनात्मक मूल्यों और कविता की विशेषताओं पर प्रकाश डाला ताकि सहृदय पाठकों को उनकी कविताओं के सही आस्वादन और मूल्यांकन में सहायता मिले । सचमुच वे कवि हैं, आलोचक नहीं । आलोचना करना उनका उद्देश नहीं रहा । लेकिन परिस्थितियों के दबाव से उन्होंने आलोचना क्षेत्र में पदार्पण किया । आगे छायावादोत्तर काव्य प्रवृत्तियों के कवियों ने भी आलोचक का काम करते हुए नयी काव्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण और अध्ययन किया ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध "आधुनिक हिन्दी काव्यालोचना के विकास में प्रतिनिधि कवियों का योगदान" में मैं ने छायावाद से लेकर नयी कविता तक की विभिन्न काव्य धाराओं में आनेवाले प्रमुख और प्रतिनिधि कवियों के आलोचनात्मक विचारों का अपने ढंग से अध्ययन किया है । इसके पूर्व कवियों की आलोचना से संबद्ध दो शोध प्रबंध मिलते हैं - "आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धांत" - डॉ॰ सुरेशचंद्र गुप्त और "छायावादी कवियों का आलोचना साहित्य" - डॉ॰ शीला व्यास । डॉ॰ गुप्त ने अपने प्रबंध में भारतेंदु से लेकर प्रयोगवाद तक के कवियों के सैद्धांतिक विचारों पर अधिक ज़ोर दिया है। डॉ॰ शीला व्यास का अध्ययन केवल छायावादी कवियों तक सीमित रहा है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में छ: अध्याय हैं । प्रथम अध्याय "हिन्दी काव्यालोचना का उद्भव और विकास" में मैं ने सृजन और आलोचना का स्वरूप निर्धारित करते हुए उनकी तात्विक भिन्नता और समानता का दिग्दर्शन किया है । आगे हिन्दी आलोचना के विकास का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया गया है ।

द्वितीय अध्याय "छायावादी कवियों की काव्यालोचना" में श्री· जयशंकर प्रसाद, श्री· सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, श्री· सुमित्रानंदन पंत और श्रीमती· महादेवी वर्मा की आलोचना का विस्तार से विवेचन किया है । इन कवियों ने अपने काव्य के भावपक्ष और कला पक्ष के अनुरूप पुरानी मान्यताओं में परिवर्तन-परिवर्धन किया तथा उन्हें रोमानटिक भावना से परिपुष्ट किया । कवियों और काव्य प्रवृत्तियों के संबंध में इनके विचारों का विश्लेषण किया गया है ।

तृतीय अध्याय "छायावादोत्तर कवियों की काव्यालोचना" के अंतर्गत श्री· रामधारी सिंह दिनकर, श्री· हरिवंशराय बच्चन और श्री· भगवती चरण वर्मा की सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना का अध्ययन किया गया है । छायावादोत्तर कवियों में मैं ने व्यक्तिपरक काव्य धारा के अंतर्गत आनेवाले बच्चन के साथ राष्ट्रीय काव्य धारा के कवि दिनकरजी का अध्ययन किया है ।

चौथे अध्याय "प्रगतिवादी कवियों की काव्यालोचना" में श्री· नरेंद्र शर्मा, श्री· शिवमंगल सिंह सुमन, श्री· रामेश्वर शुक्ल अंचल, और श्री· नागार्जुन के विचारों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है । डॉ· रांगेय राघव और डॉ· रामविलास शर्मा का अध्ययन मैं ने नहीं किया है, क्योंकि साहित्यिक क्षेत्र में इनकी प्रतिष्ठा कवि से अधिक आलोचक के रूप में हुई है । अत: मैं इन्हें प्रतिनिधि कवि आलोचक नहीं मानता और मैं ने इनकी आलोचना का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है ।

पाँचवाँ अध्याय "प्रयोगवादी नये कवियों की काव्यालोचना" में मैं ने अज्ञेय, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा और जगदीश गुप्त की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का अध्ययन किया है । इनमें पहले चार सप्तकों के कवि है और बाकि दो सप्तकेतर कवि हैं । प्रयोगवादी कविता की सहज परिणति नयी कविता है, इसलिए मैं ने प्रयोगवादी - नयी कविता के प्रतिनिधि कवियों के रूप में उपर्युक्त छ: कवि आलोचकों की आलोचना का अध्ययन किया है ।

छठे अध्याय में उपर्युक्त अध्ययन के निष्कर्षों से उपलब्ध सामग्री को उपसंहार के रूप में प्रस्तुत किया गया है । नयी काव्य प्रवृत्तियों की सही परख और मूल्यांकन में कवियों का योगदान महत्वपूर्ण है । और आधुनिक हिन्दी काव्यालोचना के विकास में इन कवियों का योगदान अक्षुण्ण है । आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों के विवेचन और मूल्यांकन करते हुए आलोचकों द्वारा फैलायी गयी भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए इन कवि-आलोचकों ने काव्य प्रवृत्तियों के अध्ययन की बड़ी सहायता पहुँचाई है ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध का कार्यान्वयन कोचीन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के गुरुवर डॉ॰ पी॰वी॰ विजयन जी के निर्देश में सम्पन्न हुआ है । उनकी प्रेरणा एवं समयानुकूल निर्देश मुझे विशेष रूप से सहायक रहा है । आधुनिक हिन्दी साहित्य के विशेषज्ञ डॉ॰ विजयन जी की आलोचना दृष्टि, काव्यालोचना के प्रति मेरी अभिरुचि बढ़ाने में बहुत हद तक प्रेरणाप्रद रही है । मैं इस अवसर पर उनके चरणों पर अपनी कृतज्ञता के फूल चढ़ा रहा हूँ ।

विभागाध्यक्ष एवं आचार्य डॉ॰ एन॰ रामन नायर के प्रति भी मैं आभारी हूँ । वे मुझे समय समय पर आवश्यक निर्देश देते रहे हैं । विभाग के अन्य गुरुजनों और हितैषियों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनसे मुझे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से सहायता मिली है । विभागीय वाचनालय की अध्यक्षा के प्रति भी मैं विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस कार्य में मेरी मदद की है ।

कोचीन विश्व विद्यालय के अधिकारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे छात्र वृत्ति देकर मेरे शोध कार्य में सहायता पहुँचायी है ।

टंकन यंत्र की अशुद्धियों केलिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ।

कोचीन - 22,
16·02·1983

के॰ के॰ वेलायुधन

विषय सूची

विषय सूची

पृष्ठ-संख्या

अध्याय - एक ... 1 - 35

हिन्दी काव्यालोचना का उद्भव और विकास

सृजन और आलोचना - सृजन आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति - आलोचना - व्याख्या विश्लेषण और निर्णय से कृति के सौंदर्य की पहचान - सृजन में रागतत्व प्रधान - आलोचना में बुद्धि तत्व - दोनों परस्पर पूरक है । हिन्दी काव्यालोचना का आरंभ - भक्तिकाल - सूर की "साहित्य लहरी" नंददास की "रसमंजरी" - रीतिकालीन टीकाएं, व्याख्याएं - आधुनिक काल - भारतेंदु युग - द्विवेदी युग - शुक्ल युग - शुक्लोत्तर युग - आलोचना के प्रकार ।

अध्याय - दो ... ... 36 - 102

छायावादी कवियों की काव्यालोचना

कवियों के आलोचक बनने का कारण - प्रसादजी की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप - काव्य की आत्मा - काव्य की प्रेरणा - काव्य का प्रयोजन - काव्य भाषा - काव्य में छंद - व्यावहारिक आदर्श और यथार्थ - छायावाद - निराला ।

पृष्ठ-संख्या

निराला जी की काव्यालोचना - सैद्धांतिक -
काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य की
आत्मा - काव्य का प्रयोजन - काव्य की
प्रेरणा - काव्य भाषा - काव्य में छंद -
व्यावहारिक - छायावाद - रहस्यवाद -
पंत - कवींद्र रवींद्र । पंतजी की काव्यालोचना -
सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व -
काव्य की आत्मा - काव्य का प्रयोजन - काव्य
भाषा - काव्य में छंद - व्यावहारिक -
छायावाद - प्रगतिवाद - निराला । महादेवी
की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का
स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य की आत्मा -
काव्य का प्रयोजन - काव्य की प्रेरणा - काव्य
के भेद - काव्य भाषा और छंद - व्यावहारिक -
छायावाद - रहस्यवाद - आदर्श और यथार्थ -
निष्कर्ष ।

अध्याय - तीन 103 - 162

छायावादोत्तर कवियों की काव्यालोचना

दिनकर की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्यालोचना
काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य का
प्रयोजन - काव्य के भेद - काव्य भाषा - छंद -
व्यावहारिक - पंत - प्रसाद - मैथिलीशरण -
महादेवी वर्मा - छायावाद - छायावादोत्तर कविता -

पृष्ठ-संख्या

प्रगतिवादी कविता । बच्चन की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - रचना प्रक्रिया - काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य की आत्मा - काव्य भाषा काव्य में छंद - व्यावहारिक - छायावाद - प्रगतिवाद - प्रयोगवाद - पंत । भगवतीचरण वर्मा की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य की आत्मा - काव्य की प्रेरणा - काव्य का प्रयोजन - व्यावहारिक - आदर्श और यथार्थ - छायावाद - प्रगतिवाद - प्रयोगवाद - निष्कर्ष ।

अध्याय - चार ... 163 - 203

प्रगतिवादी कवियों की काव्यालोचना

नरेंद्र शर्मा की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य की आत्मा - काव्य की प्रेरणा - काव्य का प्रयोजन - काव्य भाषा और छंद - व्यावहारिक - प्रगतिवाद । अंचल की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य की प्रेरणा - काव्य का प्रयोजन - काव्य भाषा - व्यावहारिक - प्रगतिवाद । सुमन की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य की प्रेरणा और प्रयोजन - काव्य भाषा - प्रगतिवाद । नागार्जुन की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व -

पृष्ठ-संख्या

काव्य की आत्मा - काव्य की प्रेरणा और
प्रयोजन - काव्य भाषा और छंद - व्यावहारिक -
सूरदास - तुलसीदास - विद्यापति - निराला ।
निष्कर्ष ।

अध्याय - पाँच 204 - 286

प्रयोगवादी नये कवियों की काव्यालोचना

अज्ञेय की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का
स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य की आत्मा -
काव्य की प्रेरणा - काव्य का प्रयोजन - काव्य
भाषा और छंद - व्यावहारिक - खड़ीबोली
कविता - छायावाद - रहस्यवाद - प्रगतिवाद
प्रयोगवाद - नयी कविता । मुक्तिबोध की
काव्यालोचना - सैद्धांतिक - रचना प्रक्रिया -
काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य भाषा
और छंद - व्यावहारिक - प्रसाद और कामायनी -
पंत - शमशेर - नयी कविता - माथुर की काव्यालोचना
सैद्धांतिक - काव्य के तत्व - काव्य भाषा और छंद -
नयी कविता - छायावाद । धर्मवीर भारती की
काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप -
काव्य के तत्व - काव्य की आत्मा - काव्य भाषा
और छंद - व्यावहारिक - प्रगतिवाद -

पृष्ठ-संख्या

प्रयोगवाद - नयी कविता - लक्ष्मीकांत वर्मा की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य भाषा और छंद - व्यावहारिक - नयी कविता - ताज़ी कविता । जगदीश गुप्त की काव्यालोचना - सैद्धांतिक - काव्य का स्वरूप - काव्य के तत्व - काव्य की आत्मा - काव्य भाषा और छंद - व्यावहारिक छायावाद - प्रगतिवाद - प्रयोगवाद - नयी कविता । निष्कर्ष ।

अध्याय - छ: 287 - 295

उपसंहार

सहायक ग्रंथ सूची ... 296 - 303

****

अध्याय - एक

हिन्दी काव्यालोचना का उद्भव और विकास

अध्याय - एक

हिन्दी काव्यालोचना का उद्भव और विकास

साहित्य मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - सृजनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य । सृजनात्मक साहित्य से तात्पर्य उन रचनाओं से है जो जीवन की पृष्ठभूमि में रची मौलिक कृतियाँ से है जैसे कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास आदि साहित्यिक विधायें । आलोचनात्मक साहित्य का विषय ये रचनाएं हैं जो सृजनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आती हैं ।

यहाँ साहित्य की मूल प्रेरणा या सृजनात्मक शक्ति के संबंध में विचार करना संगत मालूम पड़ता है । भारतीय वाङमय में कवि, काव्य, और काव्यालोचना की प्रक्रिया की विवेचना अवश्य मिलती है, परंतु रस, ध्वनि, अलंकार, छंदशास्त्र, नायिकाभेद और इन काव्यांगों के पारस्परिक संबंध पर ही अधिक लिखा गया है । एक स्वतंत्र प्रकरण के रूप में सृजन प्रक्रिया या कवि मानस के व्यापार का अध्ययन भारतीय आचार्यों ने नहीं किया है । इस अभाव की पूर्ति आधुनिक युग में मनोविज्ञान ने की है ।

भारतीय आचार्यों ने काव्य सृजन की मूल प्रेरणा "प्रतिभा" को माना है। अभिनव गुप्त के अनुसार, अपूर्व वस्तुओं के निर्माण में क्षमता रखने वाली शक्ति प्रतिभा है -

"प्रतिभा अपूर्व वस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा"[1]

आचार्य मम्मट ने प्रतिभा के लिए शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और बताया है कि वह शक्ति एक ऐसा विशिष्ट संस्कार है जो वस्तुत: कवित्व का बीज कहा जा सकता है -

"शक्ति: कवित्व बीज रूप: संस्कार विशेष:[2] ।"

इन उद्धरणों से यह मालूम होता है कि संस्कृत के आचार्यों ने काव्य सृजन के मूल स्रोत प्रतिभा को मानकर उसकी विस्तृत व्याख्या की है। प्रतिभा का अर्थ है, वह कल्पना शक्ति, अंतर्दृष्टि जिससे कवि प्रत्येक नवीन वस्तु स्थिति की संयोजना में अपने वैयक्तिक एवं आकर्षक ढंग से किसी मूर्त वस्तु, परिस्थिति, घटना, विचार अथवा भावोद्रेक की स्थापना करता है। कवि प्रतिभा की स्वतंत्र, स्वच्छंद, विविध और अदमनीय चेतना ही काव्य के रूप में मूर्तिमान होती है।

काव्य सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें भावना कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय में इस प्रकार गुम्फित हो जाते हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इस संश्लिष्ट प्रक्रिया में अभिव्यंजना के तत्व भी मिल जाते हैं। अभिव्यंजना काव्य सृजन का ही एक अंग है। काव्य प्रेरणा के भावुक क्षणों में कवि की अनुभूति अत्यंत तीव्र हो जाती है,

---

1· अभिनव भारती - अभिनव गुप्त

2· काव्य प्रकाश - मम्मट, पृ·11-13

उसकी कारयित्री प्रतिभा उद्दीप्त हो उठती है, उसकी अंतर्दृष्टि के विस्तार के साथ उसकी कल्पना शक्ति पंख खोलने लगती है और पृथ्वी से आकाश तक का सारा प्राकृतिक वैभव उसकेलिए हस्तामलकवत् हो जाता है । कवि की अंतश्चेतना के अनेक अदृश्य स्रोत उन्मुक्त हो जाते हैं और उसकी पूर्वस्थितियाँ या पूर्वानुभूतियाँ उसके मन को नयी मूर्तियों, नये अप्रस्तुत विधानों, नये स्वर लयों और संकेतों से भर देती है । कवि के संस्कार अथवा वासना जन्य विशेष गुणों से संपन्न व्यक्तित्व के ढाँचे में कृति स्थापित होती है । व्यक्तित्व की यह विशेषता ही काव्य को विशिष्टता प्रदान करती है । कभी कभी इस प्रकार स्थापित होनेवाली कलाकृति कवि को भी अपने व्यक्तित्व से एक दम नई दिखाई देगी । इसलिए टी॰एस॰ इलियट को कहना पड़ा - काव्य रचना कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व से पलायन है[1] । संक्षेप में कवि के मन का सौंदर्य उसके अपने अस्तित्व से स्वतंत्र सत्ता ग्रहण कर लेता है ।

सृजन प्रक्रिया को हम तीन क्रमों में विभाजित कर सकते हैं - अनुभूति के क्रम, अभिव्यक्ति के क्रम और अस्तित्व के क्रम । कवि के अंतर्मन में साधारणत: सुषुप्त रहनेवाला भाव किसी विशेष कारण से जब जागृत हो जाता है तब वह कवि को अदमनीय स्फूर्ति से भर देता है । और कवि को अभिव्यक्त कर देने केलिए लाचार कर देता है । अनुभूति के क्रमों के संदर्भ में कवि ऐसी कल्पनाएँ करने लगता है जिनका उसे आभास भी नहीं होता या जो सामान्यत: उसके ज्ञान, व्यवहार और चिंतन के विषय नहीं होते । इस अवस्था में कवि या कलाकार सृजन के उन अदृश्य स्रोतों में डुबकी लगाता है । वह अपने व्यक्तिगत बंधनों से उन्मुक्त हो जाता है । यह उन्मुक्त जीवन चेतना उसकी अनुभूति को नया रूप देने में समर्थ होती

---

1. The progress of an artist is a continual self-sacrifice, a continual extinction of personality.
Selected prose. T.S. Eliot, Ed. John Hayward, Penguin books, 1965

दूसरे क्षण में कवि कल्पना जन्य बिंब को रूप देने के लिए उपयुक्त भाषा की तलाश में छटपटाता है। अपने सूक्ष्म एवं गूढ भावों को अभिव्यक्त करने में सक्षम और संवेदनशील भाषा की खोज में उसे कई बार लिखने-काटने की प्रक्रिया करनी पड़ती है। तीसरा और अंतिम क्षण वह होता है जहाँ पर कवि के मन का सौंदर्य उसके अपने से अलग अस्तित्व ग्रहण करके स्वतंत्र सत्ता धारण कर लेता है। इस स्थिति में कृति कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होते हुए भी व्यक्तित्व के विलयन का कारण बन जाता है। मुक्तिबोध का विचार इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है - "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव-क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते-दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फेन्टसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फेन्टसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फेन्टसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।"[1]

सृजक कौन होता है? पहली शर्त यह है कि वह मानव है, बाद में वह समाज का अंग बनता है। उसे सृजन की प्रेरणा अपने जीवन से या जीवन में बने दृष्टिकोण से मिलती है। जिन विशिष्ट संवेदनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति वह अपनी रचना के माध्यम से करता है उन अनुभूति का कारणभूत अनुभव चाहे उसके हो या दूसरे के। सृजन के क्षणों में उसका मन अनेक तरंगोंवाले गर्जित सागर के समान है। अपने मन में अमूर्त रूप में, अंतर्जगत के अंग के रूप में वर्तमान भावों की अभिव्यक्ति करते समय रचनाकार सटीक, सशक्त एवं अपने उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले शब्दों का प्रयोग करता है। शब्द चयन की प्रक्रिया सरल नहीं है, विशेषतः कविता में। इसलिए कलाकार को फेन्टसी को शब्द बद्ध करने में बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। इस स्थिति में उसकी बुद्धि सक्रिय हो जाती है। कवि या कलाकार साधारणतः कल्पना जीवि होता है, ऐसा कहा जाता है। परंतु कला के अंतिम क्षण में, उसकी बुद्धि अनिवार्य रूप में उसका साथ देती है। फिर भी कला या काव्य में राग तत्व प्रमुख है, बुद्धि तत्व गौण।

---

1. एक साहित्यिक की डायरी - मुक्तिबोध, पृ. 18

मानव की अन्य अनेक वृत्तियों की भांति आलोचना की प्रवृत्ति भी चिरकाल से सिद्ध है । किंतु साहित्यिक क्षेत्र में इसका प्रवेश विलंब से हुआ है । कारण स्पष्ट है, पहला सृजनात्मक साहित्य रचा जाता है उसके बाद आलोचना की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है । सजग एवं सक्रिय मानव बुद्धि के बल से अपनी प्रतिक्रिया करता रहता है । यह उसका नैसर्गिक गुण है । आलोचना, प्रारंभिक दशा में केवल कृति विशेष के गुण दोष विवेचन तक सीमित थी । किंतु आज इतना समृद्ध है कि वह कई पद्धतियों और शैलियों में विभक्त किया गया है । फिर भी इसकी एक नियमित और निश्चित परिभाषा देना अब भी मुश्किल है क्योंकि प्रत्येक साहित्यिक विधा परिवर्तनशील है । लेकिन इतना कहा जा सकता है कि आलोचना कृति विशेष के अध्ययन और मूल्यांकन करनेवाली उच्चस्तरीय साहित्यिक विधा है ।

आगे हम आलोचना शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विचार करेंगे । आलोचना शब्द लोच् [जिसे पाणिनि ने अपनी पारिभाषिक शब्दावली में लोचृ लिखा है] से बना है - आ + लोच् + अन + आ = आलोचना अथवा आ + लोचृ + ल्युट [अन] आलोचना । लोच् या लोचृ का अर्थ है देखना । इसलिए किसी वस्तु या कृति की सम्यक व्याख्या, उसका मूल्यांकन आदि करना आलोचना है - "आ समन्तात् लोचनम् अवलोकनम् इति आलोचनम् स्त्रियां आलोचना ।" आलोचना किसी कवि या लेखक की कृति को देखना या परखना है । परीक्षा का अर्थ भी चारों ओर से देखना है [परित: ईक्षा परीक्षा] । आज समीक्षा, समालोचना आदि शब्दों का प्रयोग भी आलोचना के समानार्थी या पर्यायवाची के रूप में होता है यद्यपि इन शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद है । समीक्षा अर्थात् अच्छी तरह देखना, जाँच करना है - सम्यक ईक्षा या ईक्षणम् । किसी वस्तु, रचना या विषय के संबंध में सम्यक ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्येक तत्व का विवेचन करना समीक्षा है । जब साहित्य के संबंध में उसकी उत्पत्ति, उसके स्वरूप, उसके अंगों गुण दोष आदि विभिन्न तत्वों और पक्षों के संबंध में सम्यक विवेचन किया जाता है, तो उसे साहित्यिक समीक्षा कहा जाता है । आलोचना और समीक्षा का शब्दार्थ भिन्न है, फिर भी व्यवहार में दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है । वैसे ही समालोचना का प्रयोग भी आलोचना के समान होता है । समालोचना का अर्थ है सम्यक रूप से

देखना - सम् + लोच + टाप् । साहित्यिक रचना का भली भांति परीक्षण - विश्लेषण करके तत्संबंधी स्वसम्मति या निर्णय देना समालोचना है । ग्रीक् क्रिटिकोस ( ) और फ्रेंच क्रिटीस ( ) का अर्थ होता है निर्णय करना अथवा विवेचन करना । अंग्रेज़ी शब्द क्रिटिक् ( ) का अर्थ भी अलग करना है जिससे निर्णय की बात का पता चलता है।[1] पाश्चात्य देशों में भी साहित्यगत उत्तमोत्तम बातों को जानना और समाज को उनका ज्ञान कराना आलोचना का उद्देश माना गया है ।

आलोचना का स्वरूप निर्धारित करते समय स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि आलोचना और कवि कर्म में क्या संबंध है ? आलोचना सर्जनात्मक साहित्य है क्या ? भारतीय आचार्यों ने "प्रतिभा" को सृजन की मूल प्रेरणा मानी है । प्रतिभा उनकी राय में दो तरह की होती है - कारयित्री और भावयित्री । जो कवि कर्म में काम आती है वह कारयित्री प्रतिभा है और भावक या आलोचक की सहायता करनेवाली प्रतिभा भावयित्री होती है । यद्यपि उन्होंने कारयित्री प्रतिभा को कवि केलिए अपेक्षित माना है तथापि आगे उसे भावक केलिए भी आवश्यक बताया है । क्योंकि दोनों कवि ही है[2] । तात्पर्य यह है कि आलोचक को सहृदय होना अनिवार्य है अन्यथा वह कवि की भावनाओं को भली भांति ग्रहण नहीं कर सकेगा । पाश्चात्य कवि और आलोचक बेन जोनसन का भी यह मत है, "किसी कवि के विषय में मत निर्धारित करना कवि का ही कार्य है और वह भी सब कवियों का नहीं, केवल मुख्य कवियों का ही कार्य है[3] ।"

---

1. Criticism is the art of judging the qualities and values of an aesthetic object whether in literature or in fine arts. It involves the formation and expression of judgement. Encyclopaedia of Britanica)

2. To judge of poets is only the faculty of poets; and not of all poets, but the best.

   Ben Johnson, Vol.III, p.642

3. कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः इत्याचार्याः
   (प्राचीन आचार्य कहते हैं कि कवि और भावक में भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही कवि है) काव्य मीमांसा - राजशेखर, पृ.29-33.

काव्य की रचना हृदय के आवेग से संबन्धं है अत: उसमें प्राप्त आनंद के आस्वादन केलिए पाठक को भी कवि हृदय रखना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि कर्म और आलोचक कर्म में अंतर नहीं है। उत्तम कवि ही उत्तम आलोचक बन सकता है। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का निम्न कथन इस बात को और भी प्रामाणित करता है - "इनके [कवियों के] कार्यों से आनंद का यथेष्ट अनुभव वे ही कर सकते हैं जिनका हृदय इन्हीं के सदृश, किंबहुना इनसे भी अधिक सुसंस्कृत, कोमल और भावग्राही होता है[1]।" काव्य के आस्वादन केलिए प्रमाता को सहृदय होना चाहिए।

आलोचक क्या करता है ? कवि द्वारा रचे गये काव्य में मानव हृदय के किस अनीभूत अंश, वहाँ तक पाठकों के हृदय को आलोड़ित विलोड़ित करने में सफल हुआ है, यह देखना आलोचक का काम है। वह आलोच्य कृति के रसास्वादन में उसकी मदद करता है। इस केलिए आलोचक को पहले उस कृतिकार से एक साथ करना पड़ता है, न तो वह उसके द्वारा रचे गये भावचित्रों को समझ नहीं सकेगा। ऐसी दशा में वह पाठक की मदद कैसे करेगा ? इसलिए बच्चनजी कहते हैं - "किसी कविता का अर्थ तटस्थ रहकर भी जाना जा सकता है, पर भावनाओं को समझने केलिए अपने को कवि के साथ एक करना पड़ता है। साहित्य को समझनेकेलिए जीवन के अनुभव की आवश्यकता होती है[2]।" इससे यह बात स्पष्ट होती है कि आलोचक का दायित्व कवि से अधिक होता है। कवि का चित्रपट [कान्वास] इतना व्यापक होता है कि वह अपने इच्छानुसार उसमें रंग बिरंगी चित्र खींच सकता है। पर आलोचक की सीमाएं होती है। उसका विषय कवि की कृति होती है। वास्तव में आलोचना एक प्रकार से सृजनात्मक साहित्य का अंग होता है। अंतर इतना है कि जहाँ सृजनात्मक साहित्य में राग तत्व की प्रमुखता होती है, वहाँ आलोचना में बुद्धि तत्व की प्रमुखता होती है। दोनों एक प्रक्रिया के दो पहलू है।

1• समालोचना समुच्चय - महावीर प्रसाद द्विवेदी - पृ•26

2• मधुशाला भूमिका - बच्चन - पृ•15-16

कवि या कलाकार अपने हृदयगत उद्गारों को वाणी देता है । अनुवाचक उससे आनंद लाभ उठाता है । आलोचक अपनी आलोचना के द्वारा अनुवाचक की रुचि और बोध वृत्ति का परिष्कार कर उसे काव्य के रसास्वादन में सक्षम बना देता है । दिनकर जी कहते हैं - "आलोचना काव्य में प्रयुक्त कौशल का, रहस्य उद्घाटन करती है, उस मार्ग का भेद खोलती है जिस पर चलकर कवि ने अपने भावों को अभिव्यक्त किया है, अपनी कविता में आनन्द प्रभाव या चमत्कार उत्पन्न किया है । इसलिए रचनात्मक आलोचना के पढने से पाठक की आनंद ग्राहिणी योग्यता का प्रसार होता है[1] ।"

सृजन और आलोचना का चिरस्थाई संबंध है । सच्चे आलोचक कृति के अध्ययन से उसकी विशेषताओं से प्रभावित होकर अंत में प्रणेता की उस मनोदशा पर पहुंच जाते हैं जिसने उन्हें सृजन की प्रेरणा दी है । यहाँ आलोचक सृजन के अनेक अपूर्ण स्थलों का परिहार और परिष्कार कर सकता है । उसके सामने आलोचना का मार्ग सृजन ही खोल देता है । इसलिए दोनों में घनिष्ठ संबंध है और यह भी कह सकते हैं कि दोनों परस्पर पूरक हैं । एक बिंब है तो दूसरा प्रतिबिंब है । इस प्रसंग में स्कोट जेम्स के शब्द स्मरणीय हैं - "कलाकार वह मार्गदर्शक है जिसने जीवन को साफ करके मार्ग का निर्माण किया है । आलोचक वह प्रथम निरीक्षक है जो इस मार्ग पर परिभ्रमण करके इसके निर्मित स्वरूप का निरीक्षण करता है[2] ।" आलोचना भी सृजनात्मक साहित्य की भांति जीवन की अनुभूति से बनी हुई है । भिन्नता इसमें है कि एक सीधे जीवन या जीवन से बने दृष्टिकोण से अनुभूति ग्रहण करके उसकी अभिव्यक्ति करता है, दूसरे उस अनुभूति की अभिव्यक्ति को आत्मसात करके उसकी अभिव्यक्ति करता है और आत्मलाभ उठाता है । कवि के साधनों में भावना और कल्पना प्रधान है, बुद्धि प्राय: संप्रेषण में ही सहायक होती है । जबकि आलोचक के कर्म में भावना और कल्पना का समावेश होते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है ।

---

1. मिट्टी की ओर - दिनकर

2. The making of literatu re - Scott James, p. 373-76

सृजनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य के उपर्युक्त विवेचन के साथ साथ यह भी विचारणीय है कि आलोचना के विकास में सृजक साहित्यकारों का विशेषत: कवियों का क्या योगदान है ? हिन्दी की आलोचना के विकास में कवियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है । आधुनिक काल के आरंभ से लेकर कवियों ने आलोचना साहित्य की समृद्धि में योग दिया है । इस दिशा में छायावाद से शुरू होनेवाली आधुनिक काव्य प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि कवियों का योगदान विशेष विचारणीय है । आधुनिक काल के प्रथम चरण में आनेवाले भारतेन्दु तथा उस युग के अन्य कवियों की आलोचना पर प्रकाश डालते हुए हम इस विचार को आगे बढ़ाना उचित समझते हैं । आगे इस अध्याय में हिन्दी काव्यालोचना का उद्भव और विकास का प्रतिपादन करेंगे । क्योंकि इस पृष्ठभूमि के बिना अध्ययन अधूरा रह जायेगा ।

हिन्दी आलोचना साहित्य का विकास

हिन्दी साहित्य में आलोचना का व्यवस्थित एवं क्रमिक विकास आधुनिक काल में हुआ किंतु इसके पूर्व आलोचना ऐसी साहित्यिक विधा नहीं थी, यह भ्रामक धारणा है । क्योंकि सर्जन और आलोचना साथ साथ चलती है । हिन्दी आलोचना का पूर्व संस्कृत काव्य आलोचना में लक्षित होता है । क्योंकि उस समय सर्जनात्मक साहित्य मुख्य रूप से काव्य तक सीमित था और उससे संबंधित आलोचनाएं काव्य आलोचना के नाम से अभिहित किया जाता था । आलोचना दो प्रकार की होती थी - सैद्धांतिक और व्यावहारिक । संस्कृत साहित्य में सैद्धांतिक आलोचना का विकास बहुत पहले हो चुका था जो काव्यशास्त्र या अलंकारशास्त्र के नाम से अभिहित है । संस्कृत काव्यशास्त्र में रस अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि अनेक काव्य संबंधी सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी ।

सम्प्रदाय विशेष की स्थापना लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर होती है । संस्कृत काव्य-शास्त्र में नवीन मतवादों की प्रतिष्ठा पर जितना बल दिया गया है, उतना उसके प्रयोग पक्ष पर नहीं, यह बड़ी आश्चर्य की बात है । हिन्दी साहित्य में आलोचना का सैद्धांतिक रूप भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्यसिद्धांत निरूपण, कवि शिक्षा-प्रेरणा भाष्य के रूप में विद्यमान था । प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य ऐसी आलोचना की उद्भावना करता है जो उसके अनुरूप होती है और इसी प्रकार प्रत्येक युग की आलोचना भी उस युग की रचना को अपने अनुकूल बनाया करती है । वस्तुत: देश और समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्तियाँ ही एक ओर साहित्य निर्माण की दिशा का निश्चय करती है और दूसरी ओर आलोचना का स्वरूप भी निर्धारित करती है । कहा जा सकता है कि रचनात्मक साहित्य के इतिहास और आलोचना के इतिहास में धारावाहिक समानता रहा करती है । यह तत्व हिन्दी आलोचना के अन्य कालों के समान मध्यकाल के साहित्य और उसकी आलोचना पद्धति पर अक्षरश: चरितार्थ होता है, हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रंथों का उद्देश सिद्धांत विवेचन न होकर भक्ति शृंगार अथवा काव्य रचना प्रकारों का उल्लेख करना था । संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर लिखित "सूर की साहित्य लहरी" और नंददास की "रसमंजरी" आदि नायिका भेद संबन्धी ग्रंथों का लक्ष्य नायिका भेद समझाना नहीं था बल्कि अपने आराध्यदेव कृष्ण की प्रेम लीलाओं में भाग लेना था । इसी प्रकार रहीम, करनेस, कृपाराम जैसे कवियों ने नायिका भेद एवं अलंकार निरूपण का प्रतिपादन किया उनका उद्देश भी काव्य विवेचन न होकर रसिकता का पोषण करना था । नाभादास के "भक्तमाल" में सूक्तियों के रूप में समीक्षात्मक कथन मिलते हैं उनका उद्देश भी भक्तों के उदात्त चरित का महिमा गान करना है, कवि या कविता संबन्धी प्रौढ विवेचन प्रस्तुत करना नहीं है ।

रीतिकाल में सर्वप्रथम केशवदास ने ही आचार्यत्व की प्रेरणा से "कविप्रिया" एवं "रसिकप्रिया" जैसे काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया । केशव की यह परंपरा रीतिकाल में भिन्न भिन्न मार्गों पर भिन्न भिन्न रूपों में विकसित होती रही ।

रीतिकाल में सर्वांगनिरूपक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के साथ साथ, रस, नायिकाभेद एवं नखशिख संबंधी ग्रंथ निर्मित हुए। दूसरे प्रकार की रचनाओं का उद्देश काव्यशास्त्र की आड में कामुकता और रसिकता का प्रचार करना था। "सूर सूर तुलसी ससि" जैसी समीक्षात्मक सूक्तियाँ इस समय उपलब्ध होती है। सेनापति, देव, ठाकुर आदि के सामान्य काव्य के संबंध में इस प्रकार की सूक्तियाँ उपलब्ध होती है, किंतु इन सूक्तियों का महत्व काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की तुलना में बहुत कम है। दूसरे प्रकार की रचना जो उपलब्ध होती है वह टीका है। टीका का प्रमुख उद्देश मूल ग्रंथ के अर्थ तथा उसमें निहित सौंदर्य तत्वों का उद्घाटन करना है। प्रकारांतर से यह भी आलोचना का भेद माना जाता है। संस्कृत में इस प्रकार की टीकाओं की भरमार है। इनमें शास्त्रीय समीक्षा की प्रौढता का दर्शन होता है। भक्तिकाल और रीतिकाल में भी अनेक टीकाएं रची गई हैं भक्तिकालीन टीकाओं में छंदों की भक्तिपरक सूक्ष्म व्याख्या मिलती है। उन्हें हम विशुद्ध समीक्षात्मक ग्रंथ चाहे न मान पर रीतिकालीन टीकाओं का उद्देश विशुद्ध साहित्यिक रहा। रीतिकालीन टीकाएं पद्य में रची गई थी। टीका की दूसरी विशेषता यह थी कि वह तुलनात्मक पद्धति को लेकर चलती थी। इसलिए अपने प्रिय कवि को श्रेष्ठ सिद्ध करने में तल्लीन टीकाकार दूसरे कवि के प्रति न्याय न कर सके। कभी कभी टीका काव्येतर हो जाती थी और मौलिक रचना के पद तक पहुंच गई थी। यह टीका पद्धति आधुनिक काल में चलती रही। इस तरह हम देखते हैं कि रीतिकालीन कवियों का उद्देश रसिक जनों को काव्यशास्त्र का सामान्य परिचय देना था अतः उसमें प्रौढता, गंभीरता और सूक्ष्मता का अभाव है।

ऊपर हम ने देखा कि संस्कृत में काव्य शास्त्र के सैद्धांतिक निरूपणपर जितना बल दिया गया उतना उसके प्रयोग पक्ष पर नहीं दिया गया। हिन्दी में, रीतिकाल के कविशिक्षक और व्याख्याता आचार्यों ने संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों को हिन्दी के रसिक पाठकों केलिए सरल सुबोध ढंग में प्रतिपादित किया।

और यहाँ उन्होंने संस्कृत के ही उदाहरणों का प्रयोग किया । अपनी ओर से उसमें कोई नवीनता वे नहीं ला सके । यदि वे चाहते तो उसमें अपना मौलिक योगदान दे सकते थे । क्योंकि ऐसे अनेक अछूत प्रकरण जो मौलिक शोध की माँग करते थे, उपलब्ध थे जैसे काव्य रचना प्रक्रिया, कवि मानस आदि । कहने का तात्पर्य यह है कि उनका क्षेत्र काफी उर्वर था और मौलिक शोध का अवकाश भी था । लेकिन रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने संस्कृत की परंपरा को अक्षुण्ण रखते हुए अपने इस सुयोग को खो दिया । परंतु इस युग की आलोचना संबंधी रचनाओं का इतना मूल्य अवश्य होता है कि इन्होंने आधुनिक आलोचना की पृष्ठभूमि तैयार की ।

आधुनिक काल

"पाश्चात्य शिक्षा और अंग्रेजों के सम्पर्क ने भारत में नवीन बौद्धिक जागृति ला दी और उन्हें समाज सुधार तथा देश की सर्वतोन्मुखी विकास के लिए प्रेरित किया । भारतीय भी अपने जीवन और साहित्य पर नवीन दृष्टि से विचार करने लगा ।[1]" मुद्रण यन्त्र का आविष्कार तथा गद्य का आविर्भाव इस प्रक्रिया को और भी गति देने में सहायक सिद्ध हुए । भारतेन्दु युग से प्रारंभ होनेवाली नवीन साहित्यिक आलोचना इसी नवीन बौद्धिक क्रांति का सहज और स्वाभाविक परिणाम है । इस युग तक आलोचना से तात्पर्य काव्यालोचना से थी, वह भी प्रमुख रूप से सैद्धांतिक आलोचना रही । क्योंकि गद्य पूर्णतः विकसित न हुआ था । परंतु इस युग में आकर काव्य संबंधी आलोचनाओं के साथ गद्य साहित्य की विधाओं के बारे में भी आलोचनाएं निकलने लगी । सैद्धांतिक आलोचना के समकक्ष व्यावहारिक आलोचना का विकास इस युग में दिखाई देने लगा । पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की मान्यताओं के आलोक में, प्राचीन भारतीय साहित्य सिद्धांतों के मूल में निहित गूढ अर्थों का उद्घाटन एवं नई व्याख्या इस युग में शुरू हुई ।

---

1. आधुनिक हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास -
   डॉ॰ भगवत् स्वरूप मिश्र, साहित्य सदन, पृ॰227

हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य भक्ति प्रधान था । रीतिकालीन साहित्य राज दरबारों का साहित्य रहा । साहित्य का प्रयोजन सिर्फ मनोरंजन और पाण्डित्य प्रदर्शन हो गया । लेकिन आधुनिक काल का साहित्य एक नये वर्ग का साहित्य है जो सदा परिवर्तन के इच्छुक थे, नवीनता के अभिलाषी थे । जनरुचि के अनुसार साहित्य की सर्जनात्मक शक्ति बदल जाती है और उसके अनुरूप आलोचनात्मक साहित्य भी अपनी दिशा बदल देता है । यह साहित्य में दिखाई देनेवाली एक सार्वजनिक प्रवृत्ति है । आधुनिक काल में आकर आलोचना - साहित्य के रूप और भाव में आमूल परिवर्तन हो गया । इस परिवर्तन में आधुनिक काल के पत्र पत्रिकाओं का विशेष योगदान रहा है । भारतेंदु युग में पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशित होने के साथ आधुनिक आलोचना का सूत्रपात हुआ, ऐसा माना जा सकता है ।

आगे हम आधुनिक काव्यालोचना के विकास में योग देनेवाले आचार्य आलोचक एवं कवि आलोचकों का संक्षिप्त अध्ययन इस अध्याय में प्रस्तुत करेंगे जो हमारे विवेच्य विषय के सही अध्ययन एवं मूल्यांकन में उपादेय रहेगा ।

भारतेन्दु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र सर्वतोन्मुखी प्रतिभा से संपन्न पथ प्रदर्शक साहित्यकार थे । आधुनिक हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं के समान उन्होंने आलोचना के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है । उन्होंने आलोचना के दोनों रूपों को, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक, अपने अध्ययन का विषय बनाया है । यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं किया है तथापि अप्रत्यक्ष रूप से किये गये प्रतिपादन का अक्षुण्ण महत्व है कि उनके समकालीन दूसरे कवि इनसे प्रभावित हैं । यह बात उनकी काव्य संबंधी मान्यताओं के महत्व को उद्घाटित करती है ।

भारतीय आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा मानी है । भारतेंदु ने काव्य का मुख्य सौंदर्य विधायक तत्व रस मानते हुए, नव रसों के अतिरिक्त भक्ति या दास्य, प्रेम या माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद व आनंद नामक नये रसों की उद्भावना करके अपनी मौलिकता दिखाई है । "नाटक" नामक रचना में उनके द्वारा दी गई रस की तालिका यह है - "अथ रस-वर्णन-श्रृंगार, हास्य, करुण रौद्र, वीर भयानक, अद्भुत, बीभत्स शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनंद ।"[1] जहाँ मम्मट, जगन्नाथ जैसे आचार्यों ने भक्ति को केवल भक्ति की संज्ञा दी है, वहाँ भारतेंदु ने उसके अंगों का विश्लेषण करते हुए उसे रस के रूप में स्वीकार किया है । शायद उनके विश्लेषण बाद में तर्क वितर्क का कारण बना है तो पहले इसकी ओर ध्यान आकृष्ट करनेवाले कवि भारतेंदु है । उन्होंने वात्सल्य को रस के रूप में प्रतिष्ठा देकर उसका सैद्धांतिक आलोचना की है । जोहरिऔध, नगेंद्र जैसे आलोचकों ने स्वीकार किया है । डॉ॰ नगेंद्र ने वात्सल्य भाव की रस दशा के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है - "वात्सल्य को रस परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज्यादती होगी । क्योंकि वात्सल्य भाव का संबंध तो जीवन की एक सर्वप्रधान ऐषणा-पुत्रैषणा से है ।"[2] यद्यपि भारतेंदु ने काव्य-शास्त्र में निरूपित नवरसों के अतिरिक्त नवीन रसों की उद्भावना की है तथापि श्रृंगार को उन्होंने रसराज कहा है - "जहाँ प्रेम हो वही रस है क्योंकि सबसे अमूल्य, सबका शिरोधार्य, सबसे दुर्लभ और रस का मूल प्रेम ही है ।"[3]

काव्य हेतु और काव्य प्रयोजन के संबन्ध में उनका विचार सामान्य है । वे प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य का कारण मानते हैं । आनंदोपलब्धि को उन्होंने काव्य का प्रयोजन माना है । भारतेंदु सचमुच एक सुधारवादी कलाकार थे । इसलिए उनकी रचनाओं के मूल में सामाजिक उद्धार एवं चरित्र परिष्कार का उद्देश निहित थे । "सत्य हरिश्चंद्र" नाटक के उपक्रम में उन्होंने लिखा है - "इस नाटक के पढनेवाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सफल होगा ।"[4]

1॰ नाटक, भारतेन्दु, विश्वविद्यालय परीक्षा बुक डिपो प्रयाग, प्र॰सं॰1941, पृ॰35
2॰ रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ॰ नगेंद्र - पृ॰77
3॰ हरिश्चंद्र चंद्रिका, आगस्त 1874, पृ॰105
4॰ सत्य हरिश्चंद्र, हरिप्रकाश यंत्रालय, बनारस - पृ॰5

भारतेंदु ने काव्य में लौकिक एवं अलौकिक विषयों का प्रतिपादन करने पर बल दिया है । किंतु भक्ति रस से पूर्ण काव्य को सत्काव्य माना है । और उसके अध्ययन से सहृदय को सात्विक आनंद की प्राप्ति होती है - "संत मन-भाई सुखदाई है सुहाई, जा में कृष्ण केलि गाई सोई साँची कविताई है[1] ।" उन्होंने समसामयिक समस्याओं को अपने काव्य का विषय बनाया है । भारत दुर्दशा, चंद्रावली नाटिका जैसी रचना उसका उदाहरण है ।

भारतेंदु युग भाषा की दृष्टि से संक्रमण का समय था । उस समय तक ब्रजभाषा काव्य की भाषा रही, किंतु खड़ीबोली अब दोनों विधाओं में अपना स्थान जमाने लगी थी । फिर भी भारतेंदु ने जनसाधारण की भाषा में काव्य करने पर बल दिया । यह उनके निम्न कथन से स्पष्ट होता है - "कविता की भाषा निस्संदेह ब्रजभाषा ही है और दूसरी भाषाओं की कविता बनना चित्त नहीं चकती[2] ।" भारतेंदु के सैद्धांतिक विचारों का प्रतिपादन करने से स्पष्ट होता है कि रस के विवेचन में उन्होंने मौलिकता से काम किया है ।

भरत मुनि के "नाट्यशास्त्र" के समान भारतेंदु का "नाटक" नामक ग्रंथ नाट्यशास्त्र संबन्धी सैद्धांतिक आलोचना का ग्रंथ है । डॉ॰ गणपतिचंद्र गुप्त इसके संबन्ध में लिखते हैं - "यह ग्रंथ एक अत्यंत प्रौढ रचना है जिसमें प्राचीन नाट्यशास्त्र एवं आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का समन्वय करते हुए तत्कालीन हिन्दी नाटककारों केलिए सामान्य नियम निर्धारित किये गये हैं, जिनमें स्थान स्थान पर लेखक की मौलिक उद्भावनाएं प्रकट हुई हैं[3] ।"

1· प्रेम माधुरी छंद 91 द्वि·सं· सन् 1882

2· हिन्दी भाषा - पृ·15

3· हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास - डॉ॰ गणपतिचंद्र गुप्त - पृ·956

भारतेंदु के अतिरिक्त इस युग में, आलोचना के विकास में योग देनेवाले कवियों में बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र उल्लेखनीय हैं । इनके अनेक लेखों में आलोचना का रूप दिखाई देता है । इन लेखों में किसी कवि या रचना की आलोचना करते समय पहले उससे संबंधित आलोचना के सिद्धांतों की ओर संकेत कर दिया जाता था ।

प्रेमघन जी के द्वारा रचे गये "प्रेमघन सर्वस्व" और "आनंद कादम्बिनी" पत्रिका के अंकों में उनकी काव्य मान्यताएं तथा आलोचना संबंधी विचार उपलब्ध होते हैं । सैद्धांतिक विवेचन में उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, काव्य के हेतु, काव्य के विषय आदि के संबन्ध में अपना मत व्यक्त किया है । फिर उनमें कोई खास मौलिक बात नहीं है, जो विशेष उल्लेखनीय । काव्य के प्रयोजन के अंतर्गत जनहित साधन अथवा ज्ञानार्जन को मुख्य माना गया था । बाह्य प्रयोजन में अर्थलाभ का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया था । देखिये, "यदि विक्रम और भोज से उदार गुणग्राहक न होते तो कालिदास सरीखे कवि कदाचित न होते, यदि शाहिंशाह अकबर, महाराज जयसिंह न होते, फैजी अबुल फजल या बिहारीलाल को लोग न जानते । आज जब हिन्दी का एक भी प्रसिद्ध उदार आश्रयदाता नहीं है, तो उसकी उत्कृष्ट दशा का उलहना भी व्यर्थ है ।"[1]

काव्य भाषा के संबन्ध में प्रेमघन जी बडे उदार थे । भावाभिव्यक्ति में जब अपनी भाषा असफल होती है तब दूसरी भाषा को उधार लेने की उन्होंने सलाह दी है । किंतु इस प्रकार स्वीकृत भाषा को अपना अनुकूल बनाया जाना चाहिए । उनका कथन यहाँ उद्धृत है - "कवि जब अपनी भाषा में किसी शब्द का अभाव पाता, वा अन्य भाषा का शब्द उसे किसी स्थान पर विशेष उपयुक्त वा अर्थप्रद लखाता, तभी वह उसका प्रयोग करता है और प्रयोग करके भी उसे अपना सा बना लेता है, कि जो पढने और सुनने में कर्कश व अनोखा न जंचता और न उससे प्राय: उसकी दूषित ही होती है ।"[2]

---

1. प्रेमघन सर्वस्व, भाग - 2 - बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन - पृ. 522
2. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन - कार्य विवरण, पहला भाग - पृ. 29

हिन्दी में पहली बार आलोचना के संबंध में स्पष्ट विचार करनेवाला कवि प्रेमघन है । उन्होंने कादम्बिनी के पुस्तक समीक्षा अंक में सिद्धांत वाक्य के रूप में लिखा है - "समालोचना अर्थात् गुणगाना दोष दिखाना और सीख सिखाना ।[1]" उन्होंने आलोचना की परिभाषा देते हुए आलोचक को पक्षपात रहित तटस्थ रहने की चेतावनी दी है - "समालोचना का अर्थ है पक्षपात रहित होकर न्यायपूर्वक किसी पुस्तक के यथार्थ गुणदोष विवेचन करना और उससे ग्रंथकर्ता को विज्ञप्ति देना है क्योंकि रचित ग्रंथ के रचना के गुणों की प्रशंसा कर रचयिता के उत्साह को बढाना एवं दोषों को दिखलाकर उसके सुधार के यत्न बताना कुछ न्यून उपकार का विषय नहीं है । परंतु यह एक कठिन वस्तु भी है, क्योंकि प्रथम तो किसी अच्छे ग्रंथ की समालोचना करने केलिए समालोचक की योग्यता उसके ग्रंथकर्ता से अधिक अपेक्षित है[2] ।" इन सिद्धांतों के आधार पर प्रेमघन जी ने "कादम्बिनी" में श्रीनिवासदास के "संयोगिता स्वयंवर", "श्रीविजेता" पुस्तकों की समालोचना की ।

पंडित बालकृष्ण भट्ट ने "हिन्दी प्रदीप" में सच्ची समालोचना शीर्षक से संयोगिता स्वयंवर की आलोचना प्रस्तुत की । भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित आलोचना पद्धति को आगे बढाने में प्रेमघन और भट्ट ने अधिक प्रयास किया है । परंतु इस युग में आलोचना का समुचित विकास न हो सका, क्योंकि इस काल की प्रमुख साहित्यिक चेतना या तो हिन्दी की प्रतिष्ठा या ब्रजभाषा और खडीबोली के विवाद में लगी रही ।

द्विवेदी युग

हिन्दी साहित्यिक क्षेत्र में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का आविर्भाव उस समय हुआ जब काव्य भाषा के रूप में खडीबोली ब्रजभाषा का स्थान ले रही थी ।

1· आनंद कादम्बिनी, माला - 2, मेघ 8-9 - पृ·63

2· प्रेमघन सर्वस्व, भाग - 2 - पृ·446

और दूसरी ओर राष्ट्रीय सांस्कृतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता आंदोलन जोर पकड़ रहा था। इस संक्रांति काल में द्विवेदी ने सुधारवादी व नवीनतावादी दृष्टि से हिन्दी साहित्य का नेतृत्व करके सर्जन एवं समीक्षा को स्थापित करने का बीड़ा उठाया।

द्विवेदी युग मूलतः सुधार का युग था। नवीन सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य निर्माण की चेतना देना ही इस युग की आलोचना का प्रधान उद्देश था। इस युग में पाश्चात्य साहित्य दर्शन तथा नवीन सामाजिक जीवन के स्पंदनों से प्राचीन सिद्धांतों का सामंजस्य स्थापित किया गया। युगानुकूल साहित्यिक गति विधियों को निर्धारित करने में आलोचना का स्वरूप भी बदल गया। द्विवेदी जी ने "सरस्वती" के माध्यम से आलोचना क्षेत्र में क्रांति मचा दी। उन्होंने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना को, मुक्तक लेखों, पुस्तक-परिचर्चाओं, टिप्पणियों और स्वतंत्र पुस्तकों की रचना से समृद्ध किया। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना दृष्टि का निर्माण युग जीवन की परिस्थितियों, उपलब्ध युगीन साहित्यिक उपकरणों, प्राचीन भारतीय काव्य व इतिहास-पुराण के अध्ययन तथा पाश्चात्य साहित्य दर्शन के आलोक में किया। इसके संबंध में "हिन्दी साहित्य" में कहा गया है कि "सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में द्विवेदीजी की सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है, समसामयिक मूल्यों को स्वीकरण करते हुए उसके अनुरूप मानकीकरण की चेष्टा। वे सैद्धांतिक समीक्षा के उन जीवन्त तत्वों के समर्थक हैं, जिनका प्रत्यक्ष संबंध समसामयिक साहित्यिक अभिव्यक्ति से है।[1]"

द्विवेदी जी की आलोचना संबंधी मान्यताएं समालोचना समुच्चय, रसज्ञ रंजन, विचार विमर्श, साहित्य सीकर, संकलन, आलोचनांजलि, तथा सरस्वती पत्रिका के अंकों में संगृहीत है। कवि और कविता, साहित्य क्या है? जैसे लेखों के द्वारा उन्होंने सैद्धांतिक आलोचना के स्वरूप को प्रौढ़ता प्रदान की। उन्हें रस मान्य है किन्तु वह विभावानुभाव" का रस नहीं है। यह रस काव्य में अभिव्यक्त या कवि की अन्तर्मानसिकता से संबद्ध मनोविकारों का है जिससे उत्कृष्ट शब्द चित्र

---

1. हिन्दी साहित्य, तृ.खं. - सं. धीरेन्द्रवर्मा - पृ.565

संयुक्त रहते हैं । "कवि कर्तव्य" शीर्षक लेख के द्वारा उन्होंने रस, छंद, अलंकार आदि की दुहाई देनेवाले आलोचकों की कटु निन्दा की है । द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से खड़ीबोली के आंदोलन का पथ प्रदर्शन किया । "हिन्दी भाषा की उत्पत्ति" इस दिशा में महत्वपूर्ण रचना है । काव्य भाषा और गद्य की भाषा में अंतर न मानते हुए उन्होंने काव्य में व्याकरण सम्मत भाषा के प्रयोग पर बल दिया है । उनका कहना है - "कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न होनी चाहिए ।"[1] काव्यालोचन, काव्यानुवाद आदि के संबंध में उनका सुचिंतित मत उपलब्ध होता है । विचार विमर्श में संकलित, संपादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्तव्य-शीर्षक लेख में आलोचक के कर्तव्य पर वे लिखते हैं - "किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं उससे किसी को लाभ पहुँचा सकता है या नहीं उससे किसी को प्रथम लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यह विचारणीय विषय है । समालोचक को प्रधानत: इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए ।"[2] द्विवेदीजी समन्वयवादी थे । उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य सिद्धांतों का समन्वय करने की चेष्टा की है । इसकेलिए उन्होंने बेकन, कालिदास, भवभूति आदि के संबन्ध में लिखकर भारतीय कवियों और लेखकों का ध्यान आकृष्ट कर दिया । "कालिदास की निरंकुशता" नामक लेख में उन्होंने भाषा संबंधी दोषों का उद्घाटन किया है । "काव्य में उपेक्षिता नारी" शीर्षक लेख के द्वारा कवियों का ध्यान नारी के जीवन की समस्याओं की ओर आकृष्ट किया । द्विवेदी युगप्रवर्तक आचार्य हैजिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा आलोचना को समृद्ध किया है । परंतु उनकी आलोचनागुण दोष मूलक अधिक रही । औचित्य अनौचित्य के विवेचन से वे काव्य को आंक देते थे ।

1· रसज्ञ रंजन - महावीर प्रसाद द्विवेदी - पृ·18

2· विचार विमर्श - महावीर प्रसाद द्विवेदी - पृ·45

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त इस युग की आलोचना के विकास में योग देने वालों में सर्वश्री मिश्रबंधु, पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवान दीन, कृष्ण बिहारी मिश्र आदि का नाम उल्लेखनीय है । मिश्रबंधुओं ने "हिन्दी नवरत्न" तथा "मिश्रबंधु विनोद" नामक दो ग्रंथों की रचना की । हिन्दी नव रत्न" में हिन्दी के नौ विशिष्ट कवियों के काव्य का विवेचन किया गया है । इन कवियों का चयन लेखक की रुचि पर निर्भर है । इसमें उन्होंने देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध किया है । इसकी प्रमुखता यह है कि तुलनात्मक आलोचना, पद्धति का रूप इसमें देखा जा सकता है । "मिश्रबंधु विनोद" एक इतिवृत्त संग्रह है जिसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक आलोचना का मिला जुला रूप दिखाई पड़ता है ।

मिश्रबंधुओं के द्वारा बिहारी पर किये गये आरोपों से प्रेरित होकर पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने "बिहारी सतसई" की भूमिका लिखी जिसमें उन्होंने अद्भुत कौशल से बिहारी को देव से उत्कृष्ट सिद्ध किया । वे संस्कृत उर्दू और फारसी के परम विद्वान थे और काव्य के अच्छे रसज्ञ एवं मर्मज्ञ थे । उन्होंने अपनी पुस्तक में बिहारी के दोहों की तुलना उनके जैसे हिन्दी और संस्कृत के कवियों से की । इसका परिणाम यह निकला कि विद्वानों का ध्यान तुलनात्मक प्रणाली की ओर आकृष्ट हुआ । आगे इस पद्धति के आधार पर देव और बिहारी के संबंध में वादविवाद शुरू हुआ । कृष्ण बिहारी मिश्र ने "देव और बिहारी" लिखकर तुलनात्मक अध्ययन से बिहारी से देव को श्रेष्ठ सिद्ध किया । लाला भगवान दीन ने "बिहारी और देव" लिखकर कृष्ण बिहारी मिश्र के आक्षेपों का उत्तर देते हुए बिहारी को बड़ा सिद्ध किया । इससे यह लाभ हुआ कि तुलनात्मक आलोचना पद्धति स्वीकृत की गई । इसके अलावा काव्यांग विवेचन में प्रौढ़ता एवं गंभीरता आ गई ।

हिन्दी आलोचना और अनुसंधान के क्षेत्र में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने अत्यंत महत्वपूर्ण योग दिया है । नागरी प्रचारिणी सभा और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगठनकर्ता के रूप में बाबू श्याम सुंदर दास ने हिन्दी के आलोचनात्मक साहित्य की अभिवृद्धि और उसके प्रचार कार्य में महत्वपूर्ण सेवायें की हैं

इन्होंने एक वैज्ञानिक की भांति निष्पक्ष रूप से पूर्व और पश्चिम के साहित्य सिद्धांतों का समन्वयात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया । बाबूजी का "साहित्यालोचन" पाश्चात्य सैद्धांतिक आलोचना का परिचयात्मक ग्रंथ है । साहित्यालोचन का आधार हडसन का ग्रंथ "इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ लिटरेचर" था । यह रचना अपने समय की एक महत्वपूर्ण कृति मानी जाती है । वस्तुत: यह उस समय के सैद्धांतिक आलोचना की चरम परिणति मानी गई है ।

शुक्ल युग

आलोचना सम्राट आचार्य रामचंद्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है । इनसे पूर्व हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना प्रणाली चल रही थी, जिसके सामने न तो कोई आदर्श था न ही कोई सिद्धांत । केवल वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के कारण किसी को बड़ा या किसी को छोटा बता दिया जाता था । इसके अतिरिक्त आलोचना के ऐसे स्वस्थ प्रतिमान भी सुनिश्चित नहीं हो पाये थे कि गद्य के विविध अंगों केलिए उपयोगी हो । आचार्य शुक्ल ने आलोचना के नवीन मानदण्डों तथा सुविकसित समीक्षा पद्धति का निर्माण किया । उन्होंने हिन्दी आलोचना को नवीन आयाम प्रदान किया ।

हिन्दी आलोचना साहित्य केलिए ठोस सैद्धांतिक आधार तथा वैज्ञानिक प्रणाली प्रदान करने का प्रथम श्रेय शुक्लजी को है । शुक्लजी के आलोचना सिद्धांतों का तत्कालीन समाज एवं साहित्यिक चेतना से घनिष्ठ संबन्ध है । उनकी मान्यता लोक मंगल की भावना से अनुप्राणित है । शील विकास एवं रागात्मक प्रसार को शुक्ल काव्य का प्रयोजन मानते हैं । "उनकी समीक्षा का प्रमुख तत्व है व्यक्तिगत योग क्षेम से मुक्ति; रागात्मक प्रसार, लोक मंगल तथा रसानुभूति ।"[1]

---

1. हिन्दी साहित्य तृ. सं. - सं. धीरेन्द्र वर्मा, पृ.598

शुक्लजी ने भारतीय काव्यशास्त्र का गंभीर अध्ययन मनन के बाद तत्संबंधी व्याख्या की है। उनका रस सिद्धांत प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं पर अधिष्ठित होते हुए भी एक प्रकार से स्वानुभूत, नवीन एवं उपज्ञ व्याख्या है। शुक्लजी ने रस का व्यष्टि के अनुभूति के आधार पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा व्यष्टि और समष्टि दोनों पर उसके लोकमंगलकारी एवं नैतिक प्रभाव का विवेचन किया है। उनके अनुसार व्यक्तिगत योगक्षेम से मुक्त एवं उससे ऊपर उठी हुई लोक मंगल की भावभूमि प्रत्यक्ष, कल्पना स्मृति तथा काव्य सभी क्षेत्रों में रसानुभूति ही होती है। हर प्रकार की रसानुभूति व्यक्ति को अपने योगक्षेम से मुक्त करके लोक मंगल की भाव भूमि पर पहुंचा देती है। हिन्दी साहित्य में शुक्लजी ही प्रथम आलोचक है जिन्होंने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना को मिला दिया। आलोचना के इन दोनों रूपों का ऐसा सुन्दर समन्वय किया गया कि एक दूसरे के विकास में सहायक सिद्ध हुए। शुक्लजी की काव्य संबंधी मान्यताओं का मूल आधार भारतीय है। चिंतामणि में संग्रहीत "कविता क्या है ?" "काव्य में रहस्यवाद", "रससिद्धांत", साधारणीकरण जैसे निबंधों में शुक्लजी की समीक्षा शक्ति का प्रौढ रूप देखा जा सकता है पंडित-राजजगन्नाथ के बाद "साधारणीकरण" के सिद्धांत का उन्होंने ही मौलिक ढंग से प्रतिपादन करके उसके पुनराख्यान और पुन: स्थापना का प्रयत्न किया। सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने अपनी मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा इस क्षेत्र के सभी काव्यांगों को गंभीर एवं सूक्ष्म अध्ययन किया है।

व्यावहारिक आलोचना के विकास में शुक्लजी का योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने किसी कवि या उसकी कविता का विवेचन तत्कालीन उपलब्ध परिस्थिति की पृष्ठभूमि में रखकर किया है। कहने का तात्पर्य है कि कवि के व्यक्तित्व, काव्य रचना की प्रेरक पृष्ठभूमि आदि का सम्यक विवेचन उन्होंने किया है। आचार्य शुक्ल रसवादी है और साथ साथ सौंदर्यवादी भी है। किंतु लोक संग्रहात्मकता की भावना उनकी आलोचना का अभिन्न अंग बनी रही। उनकेलिए समाज निरपेक्ष और वैयक्तिक अनुभूति का काव्य में कोई मूल्य नहीं है।

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वे "कला कला केलिए" और "कला जीवन केलिए" सिद्धांतों के पक्षपाति हैं । शुक्लजी समाज के प्रति नीतिवादी, साहित्य के प्रति मूल्यवादी, काव्य सौंदर्य के प्रति रसवादी और इन्सान के प्रति लोक मंगलवादी थे । उनका आदर्श कवि तुलसीदास थे, आदर्श पात्र राम थे और आदर्श ग्रंथ तुलसी रामायण था । इस आदर्श के कारण वे कभी कभी दूसरे कवि और काव्यग्रंथों के विवेचन में तटस्थ न रह सके । शुक्लजी द्वारा रचित आलोचनात्मक कृतियों में "हिन्दी साहित्य का इतिहास", "गोस्वामी तुलसीदास", "सूरदास" "जायसी ग्रंथावली की भूमिका", "चिंतामणि" प्रथम व द्वितीय भाग विशेष उल्लेखनीय है ।

हिन्दी के आज के कई आलोचकों ने शुक्लजी की आलोचना की कतिपय न्यूनताएं दिखाई हैं । अपने नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण वे सूरदास के प्रति न्याय नहीं कर सके । प्रगीत काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध काव्य को प्रश्रय देने के कारण छायावाद जैसे नवीन काव्य धारा की अंतरात्मा को वे पहचान नहीं सके आदि । जो भी हो, इन परिसीमाओं के रहते हुए भी शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना को जो आदर्श दिया, उसका मूल्य स्थाई है ।

निस्संदेह शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य में, आलोचना को एक अत्यंत प्रौढ एवं शास्त्रीय मानदण्ड प्रदान किया है । शुक्लजी का आलोचनादर्श सर्वमान्य तो है किन्तु उसमें युगानुकूल परिवर्तनशीलता का अभाव है । उनकी आलोचना की चर्चा हम इन शब्दों से समाप्त करेंगे - "यही कारण है कि नवीन युग की नवीन काव्य प्रवृत्तियों, साहित्य रूपों, नूतन प्रतिभाओं तथा उनकी रचनाओं के मूल्यांकन करने केलिए वस्तुन्मुखी समीक्षा दृष्टि का शुक्लजी के पास अभाव ही रहा ।"[1]

शुक्लजी की आलोचना पद्धति को आगे बढानेवाले आलोचकों में पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, कृष्ण शंकर शुक्ल, चंद्रावली पाण्डेय, रमाशंकर शुक्ल आदि का नाम स्मरणीय है । इन आलोचकों ने शुक्लजी की आलोचना पद्धति को सुरक्षित

---

1. हिन्दी साहित्य, तु·खं· - धीरेन्द्र वर्मा - पृ·602

रखते हुए उसमें नवीनता लाने की चेष्टा की है । किंतु शुक्लजी जैसे प्रवर आलोचक की सूक्ष्मता और प्रौढता इनकी आलोचना में परिलक्षित नहीं होती ।

शुक्लोत्तर आलोचना

प्रथम महायुद्ध के प्रभाव स्वरूप भारतीय जीवन के मान मूल्यों में एक नवीन क्रांति का सूत्रपात हो गया था । उसी के अनुरूप साहित्य ने भी एक नया मोड ले लिया । हिन्दी में नवीन रहस्यवादी सौंदर्यचेतना से अनुप्राणित तथा दार्शनिक आभा एवं मधुर कल्पनाओं से पूर्ण अभिव्यंजना की नवीनता और संगीतमयी भाषा में छायावाद के नाम से आत्मपरक साहित्य का सर्जन प्रारंभ हुआ । इस नवीन युग की विकासोन्मुखी काव्य धारा के सौष्ठव का पूर्णत: साक्षात्कार करने में शुक्लजी की नीति प्रधान रस दृष्टि अपूर्ण एवं अनुपयुक्त ठहरी । अत: इन नये सर्जक साहित्यकारों को अपनी रचना की भूमिकाओं में छायावादी कविता की अंतदृष्टि और उसके सौंदर्य पक्ष का उद्घाटन खुद करना पडा । इसके तो दो कारण है । एक तो शुक्ल जैसे आलोचकों द्वारा अपने ऊपर किये गये आरोपों का उत्तर देना अनिवार्य था । दूसरा, नयी काव्य धारा के मूल्यांकन केलिए नये काव्यादर्शों की स्थापना भी ज़रूरी थी । इसलिए कवि को कवि के साथ आलोचक भी बनना पडा ।

इस युग में आकर साहित्य का प्रयोजन बदल चुका था । इस युग का कवि उपयोगितावाद या नैतिक उपदेश के उद्देश से सर्जन नहीं करता था । छायावादी कवि के सर्जन का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति या सौंदर्यसृष्टि हो गया । प्रसादजी ने सौंदर्य सृष्टि को काव्य का एक मात्र प्रयोजन बताया है । उनकी मान्यता है कि "साहित्य सौंदर्य को पूर्णरूप से विकसित करता है और आनंदमय हृदय उसी का अनुशीलन करता है ।"[1] महादेवी ने काव्य और कला के आविष्कार का

1· इन्दु, कला प्रथम, किरण द्वितीय

प्रयोजन सत्य की सहज अभिव्यक्ति मानी है[1]।" इस सत्य में सौंदर्य एवं शिव का सामंजस्य है। पंतजी ने भी सत्यं शिवं और सुन्दरम् के सामंजस्य को स्वीकार किया है। सत्य शिवं में स्वयं निहित है[2]।" छायावादी कवियों की यह मान्यता रवीन्द्रजी के अनुरूप है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य मंगल की भी सृष्टि है। लेकिन यह मंगल स्थूल नैतिकता या शील-विकास की रूढ धारणाओं से कहीं ऊपर की वस्तु है। यह आध्यात्मिक ऊंचाई को स्पर्श करनेवाली भावना है। प्रसाद जी ने कविता को "श्रेयमयी प्रेम ज्ञानधारा" कहकर सत्यं, शिवं सुन्दरम् के समन्वय पर ही ज़ोर दिया है।

छायावाद के इन प्रमुख कवियों ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। प्रसादजी की "काव्य और कला तथा अन्य निबंध" अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। इसमें, सैद्धांतिक आलोचना का प्रौढ रूप दर्शनीय है। "आलोचना","सरस्वती","इन्दु"और"माधुरी"में निकले उनके लेखों में आलोचनाका स्वरूप दिखाई देता है। उन्होंने रस, रंगमंच, छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, गीतिकाव्य आदि के संबंध में अच्छा खासा विवेचन किया है, जिसमें उनकी भावयित्री प्रतिभा कारयित्री प्रतिभा के समान उभर आयी है।

"प्रबंध पद्म", "प्रबंध प्रतिमा", "चाबुक", "पंत और पल्लव" तथा "चयन" निराला जी के निबंध संग्रह हैं। निराला ने मुक्तक काव्य का विवेचन अपनी मौलिक उद्भावनाओं से किया है। 'परिमल', 'गीतिका', 'अनामिका', 'बेला', 'अर्चना' आदि की भूमिकाओं में तथा 'आलोचना' और 'माधुरी' पत्रिका में उनकी काव्य मान्यताएं उपलब्ध होती हैं।

---

1. दीपशिखा - भूमिका - महादेवी वर्मा - पृ.2
2. आधुनिक कवि - 2 - सुमित्रानंदन पंत - पृ.6

पंतजी की पल्लव की भूमिका छायावादी काव्य भाषा का नीतिस कहा गया है । गद्य पथ, शिल्प और दर्शन, छायावाद का पुनर्मूल्यांकन आदि उनके निबंध संग्रह हैं । पल्लव, वीणा, आधुनिक कवि-2, युगवाणी, उत्तरा, रश्मिबंध चिदंबरा आदि की भूमिकाएं, पंतजी की काव्य मान्यताओं की अक्षय निधि है ।

विवेचनात्मक गद्य, पथ के साथी, क्षणदा, साहित्यकार की आस्था, संकल्पिता आदि महादेवी जी के निबंध संग्रह है, जिसमें सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना जैसे विचार उपलब्ध होता है । संधिनी, दीपशिखा, यामा, आधुनिक कवि - 1, सप्तपर्णा आदि काव्य की भूमिकाओं में उन्होंने रहस्यवाद, छायावाद गीतिकाव्य आदि के बारे में अपना मत प्रकट किया है । यहाँ इन कवि आलोचकों का परामर्श मात्र किया गया है, क्योंकि आगे के अध्याय में इन कवियों का विस्तार से विवेचन अपेक्षणीय है । इन कवि-आलोचकों द्वारा हिन्दी आलोचना के विकास में पूर्ण योगदान मिला है । इनके आलोचनादर्शों का प्रभाव आगे के आलो पर पड़ा प्रतीत होता है । इनसे प्रभावित होकर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ॰ नगेन्द्र जैसे आलोचकों ने जो आलोचना पद्धति हिन्दी में आगे बढ़ायी, वह सौष्ठववादी आलोचना के नाम से अभिहित है । इस आलोचना पद्धति को हम शुक्ल पद्धति का अगला चरण कह सकते हैं ।

सौष्ठववादी आलोचना

शुक्ल युगीन आलोचना के विकास का अगला चरण सौष्ठववादी आलोचना में लक्षित होता है । शुक्ल जी में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक साहित्य के सौंदर्य एवं अभिव्यंजना कौशल के भाव संवेदन तथा उसके नैतिक मूल्यांकन की तो पूरी क्षमता थी, पर वे न नवीन युग की विकासोन्मुखी काव्य धारा के सौष्ठव का पूर्णतया साक्षात्कार कर पाये, और न उसमें छिपे हुए यथार्थ पर अधिष्ठित मानव मूल्य की नाप-जोख कर सके । प्रथम महायुद्ध का प्रभाव संसार के सारे देशों में पड़ा । भारत भी इससे अछूता नहीं रहा । बदलती हुई नवीन आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य में परिवर्तन आ गया । हिन्दी में नवीन सौंदर्य चेतना से युक्त संगीतमय

भाषा में आत्मपरक एक नवीन काव्यधारा फूट पड़ी, जिसे आगे छायावाद नाम अचानक स्थिर हो गया । साहित्यिक क्षेत्र के इस नवजात शिशु का अदृष्ट आचार्य शुक्ल अपनी नीतिप्रधान इस दृष्टि के कारण समझ न सके । इसके फल स्वरूप इस काव्य धारा के कवियों को अपनी काव्य की भूमिकाओं के ज़रिए अपने काव्य में निहित सौष्ठव का विवेचन करना पड़ा । इन कवि आलोचकों की आलोचनाओं से अनेक साहित्यकार प्रभावित हुए थे । इनमें नंददुलारे वाजपेयी, डॉ॰ नगेन्द्र, शांति प्रिय द्विवेदी, डॉ॰ रामकुमार वर्मा आदि प्रमुख है । छायावादी कवि-आलोचकों द्वारा प्रवर्तित आलोचना पद्धति को इन्होंने आगे बढ़ाया । और एक आलोचना पद्धति के रूप में हिन्दी में जड पकड गई । सर्जन के क्षेत्र में जिन प्रेरक शक्तियों से छायावाद का जन्म हुआ, उन्हीं शक्तियों ने भावन के क्षेत्र में सौष्ठववादी आलोचना को जन्म दिया ।

सौष्ठववादी आलोचना के संबंध में आचार्य वाजपेयी लिखते हैं - " "सौष्ठववादी समीक्षा का मूल आधार ही काव्य की लोकोत्तर भावमयता की अनुभूति है, इसी के सौष्ठव का साक्षात्कार है काव्य की सम्पूर्ण विचारधाराएं, काव्य शैलियाँ, वर्ण्य विषय तथा रचना के नियम अपने से ही निर्मित होनेवाले इसे सौंदर्य में परिणत होते हैं । इसी सौंदर्य का सम्यक संवेदन ही सौष्ठववादी समीक्षक दृष्टि से काव्यालोचन है ।[1] " कवि हृदय की जिस अनुभूति से उसका सम्पूर्ण काव्य प्राण स्पंदन करता है, उसी रसात्मक अनुभूति की तुलनात्मक अभिव्यक्ति काव्य का सौष्ठव है । सौष्ठववादी आलोचक काव्य के वस्तु सौंदर्य पर विचार करते हैं । वे काव्य के भावपक्ष और कला पक्ष को पृथक नहीं मानते । वे विशुद्ध काव्य की तलाश में लीन रहते हैं । उन्होंने सौंदर्य एवं मौल को स्थूल मानदण्डों पर जाँचकर उसकी काव्यात्मक व्याख्या की है । काव्य के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक मूल्यांकन के साथ उसके मनोवैज्ञानिक व्याख्या की ओर उनका ध्यान गया है ।

1· आधुनिक साहित्य - नंददुलारे वाजपेयी - पृ·306

छायावादी कविता का सही मूल्यांकन और साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा सौष्ठववादी आलोचकों ने की है । इन आलोचकों में आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का कार्य अधिक प्रशंसनीय है । वाजपेयी जी द्विवेदी काल के उत्तरार्द्ध में आलोचना क्षेत्र में अवतरित हुए । वे प्रारंभ से ही आलोचना के नवीन दृष्टिकोण के समर्थक रहे । द्विवेदी काल के प्रचलित गुणदोष विवेचन वाली आलोचना का वे विरोधी थे । वे आलोचक का काम तटस्थ एवं पक्षपात शून्य होकर सौष्ठव का उद्‌घाटन करना मानते थे । मिश्रबंधुओं द्वारा सम्पादित "साहित्य समालोचक" में प्रकाशित अपना निबंध "सत्समालोचना" में, अपनी इस बात का समर्थन करने केलिए उन्होंने वाल्टर पीटर, एडिसन आदि की विचारधाराओं को उद्धृत किया है । कहने का तात्पर्य यह है कि वाजपेयी जी आरंभ से ही स्वच्छंदता और सौष्ठव का उपासक रहे हैं ।

सैद्धांतिक आलोचना में भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन धाराओं का वाजपेयीजी समन्वित रूप को स्वीकार करते हैं । सचमुच वे काव्य में हृदय स्पर्शिता और आह्लाद को ही प्रधान मानते हैं । स्वच्छंदतावादी कविता के वे समर्थक आलोचक इसलिए रहे कि उन्होंने अनुभूति को काव्य का प्राण माना है । यह उनके निम्न कथन से प्रामाणित होता है - "काव्य तथा कला का सम्पूर्ण सौंदर्य अभिव्यंजना का ही सौंदर्य नहीं है, अभिव्यंजना काव्य नहीं है । काव्य अभिव्यंजना से उच्चतर तत्व है । उसका सीधा संबंध मानव जगत और मानस प्रवृत्तियों से है, जबकि अभिव्यंजना का संबन्ध केवल सौंदर्य प्रकाशन से है । "[1]

आचार्य वाजपेयीजी समन्वयवादी एवं सौंदर्यवादी आलोचक है । डॉ॰ भगवत् स्वरूप मिश्र ने उन्हें सौष्ठववादी आलोचक कहा है जो उनकेलिए विशेष उपयुक्त है । उन्होंने अपने मौलिक चिंतन के द्वारा अनेक कवियों और लेखकों का पुनर्मूल्यांकन करके हिन्दी जगत में क्रांति मचा दी है । आप छायावादी युग के प्रथम प्रभावशाली आलोचक है और शुक्लोत्तर युग के आलोचकों में आपका महत्वपूर्ण स्थान है । आपके द्वारा रचित ग्रंथ हैं - "हिन्दी साहित्य",

---

1. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी - वाजपेयी - पृ॰68

"बीसवीं शताब्दी", "आधुनिक साहित्य", "महाकवि सूरदास" "जयशंकर प्रसाद, "सूर संदर्भ की भूमिका", "नये साहित्य नये प्रश्न" आदि । सूरसंदर्भ की भूमिका में उन्होंने आलोचक के कर्तव्य के संबंध में स्पष्ट विचार किया है - "जब आलोचक कवि के भाव सौंदर्य की असीमता अथवा विराट भावना (सब्लिमिटी) का उद्घाटन करता है, वह तो स्वयं असीम अनिर्वचनीय आह्लाद का अनुभव तो करता ही है; साथ ही पाठक को भी अपने साथ ले जाता है । यहीं आलोचक की पूर्ण सफलता है ।[1]" वाजपेयी जी ने अपनी रचनाओं में कवि के व्यक्तित्व, उनकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के सौष्ठव का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मूल्यांकन किया है । कवि हृदय की अंत: प्रेरणा किस प्रकार उसके वस्तु शिल्प और भाव सौंदर्य में परिणत हो गई है, इसका मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होंने किया है । वाजपेयजी में शुक्ल पद्धति एवं स्वच्छंदतावाद का समन्वय मिलता है ।

डॉ॰ नगेन्द्र पहले फ्रायडवादी तथा अभिव्यंजनावादी आलोचना के प्रतिनिधि समझे गये थे किंतु अब उन्हें विशुद्ध भारतीय आलोचना पद्धति का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया है । छायावाद युग के सहानुभूतिपूर्ण आलोचकों में इनका विशिष्ट स्थान है । नगेंद्रजी साहित्य को व्यक्ति चेतना का परिणाम मानते हैं, चाहे उसमें सामाजिक चेतना का समावेश हो । इसलिए उनके मतानुसार काव्य के अध्ययन करते वक्त कवि के व्यक्तित्व का आंकलन विशेषत: अनिवार्य है । कलाकार की अभिव्यक्ति रचना के रूप में जन्म लेती है और इस आत्माभिव्यक्ति की सफलता रस की परिणति में होती है । वे रस शब्द को संवेदनीयता के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं । कलाकार की आत्माभिव्यक्ति में भावुकता और बौद्धिकता का सन्निवेश है और इसलिए इसका विवेचन करनेवाले आलोचक को रसज्ञ होना चाहिए ।

सैद्धांतिक आलोचना उनका अपना प्रिय विषय रहा है । उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की विशद् एवं गंभीर मंथन किया है

---

1. सूरसंदर्भ - वाजपेयी - पृ॰24

और उसके स्वतंत्र तथा तुलनात्मक अध्ययन की उपलब्धियों से एक ऐसे संश्लिष्ट और परिपूर्ण काव्यशास्त्र के निर्माण का उपक्रम किया है जो श्रेष्ठतम काव्य के मूल्यांकन में उपयुक्त हो । प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के अनेक उपजीव्य ग्रंथों की विशद भूमिकाएं लिखकर और उनमें पाश्चात्य काव्य तत्वों का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उन्होंने काव्यशास्त्र के जिज्ञासु पाठकों का बहुत उपकार किया है । काव्यशास्त्र में विचारित गूढ एवं संश्लिष्ट तत्वों का आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में उन्होंने अध्ययन किया है । काव्य की मूल प्रेरणा के संबंध में उनका विचार किसी भी देशकाल की कविता के अनुकूल है - "सौंदर्य के उद्दीपन से जब जीवन के संचित भाव अभिव्यक्ति केलिए फूट पडते हैं, तभी तो कविता का जन्म होता है । कविता का उद्रेक केलिए सौंदर्य का उद्दीपन अर्थात् आनंद और अभाव की पीडा दोनों का संयोग अनिवार्य है । केवल आनंद या केवल पीडा कविता की सृष्टि नहीं कर सकती ।"[1] काव्य की मूल प्रेरणा की खोज में उन्होंने अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत से लेकर हीगल के सौंदर्यानुभूति विषयक विचार और फ्रायड, एडलर तथा युंग के मनोविश्लेषणवाद तक का मंथन किया है । और यह निष्कर्ष निकाला है कि "काव्य के मूल में आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा है और यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होनेवाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है । कहीं बाहर से जान बूझकर प्राप्त नहीं की जा सकती ।"[2] रस संबन्धी डॉ॰ नगेन्द्र का विचार अधिक मनोवैज्ञानिक है । उनका कहना है कि हमारे आत्म के निर्माण में कामवृत्ति की प्रमुखता है और इस आत्म की उपज होने के कारण काव्य में कामवृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध है । काव्य की मूल प्रेरणा आत्माभिव्यक्ति है और आत्माभिव्यक्ति में जो आनंद है उसमें रस की उत्पत्ति होती है । क्योंकि आनंद या रस की उपलब्धि मानव का नैसर्गिक गुण है । साधारणीकरण के संबन्ध में वे लिखते हैं कि कवि अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है जिसके द्वारा पाठक या श्रोता उसकी अनुभूति के साथ अपनी अनुभूति का तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ होते हैं । कवि वह होता है जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके ।"[3]

1· काव्य चिंतन - डॉ॰ नगेन्द्र - पृ॰ 3

2· वही - पृ॰10

3· विचार और विवेचन - डॉ॰ नगेन्द्र - पृ॰31-33

नगेन्द्र जी की रचनाओं में "सुमित्रानंदन पंत", "साकेत एक अध्ययन", "रीतिकाव्य की भूमिका", "विचार और विवेचन", "विचार और विमर्श", "विचार और विश्लेषण" "भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा" आदि विशेष उल्लेखनीय है । हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास जो इनके सम्पादकत्व में निकला है, गुण और परिमाण की दृष्टि से एक अनोखा ग्रंथ है । इसके अतिरिक्त व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में उन्होंने अपने युग के विशिष्ट साहित्यकारों और उनकी रचनाओं की मौलिक काव्यशास्त्रीय और स्वच्छंद व्याख्या की है । छायावाद की काव्य श्री का रस दर्शन कराने में आचार्य वाजपेयी के साथ डॉ॰ नगेन्द्र का नाम भी अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है ।

छायावादी काव्यधारा के समर्थक आलोचक के रूप में भी शांतिप्रिय द्विवेदी जाना जाता है । उनकी आलोचना आत्मप्रधान [सब्जेक्टीव] अधिक है । वे काव्य को स्थूल उपयोगितावाद की वस्तु नहीं मानते हैं । वे सौंदर्य और मंगल का सामंजस्य ही कला का उद्देश मानते हैं । इसलिए द्विवेदी का दृष्टिकोण सौष्ठववादी कह सकता है । उनका कहना है कि "अतएव कला की सार्थकता केवल सुंदरता में नहीं है, बल्कि उसके मंगल प्राण होने में है ।[1]" द्विवेदीजी की रचनाओं में ऐतिहासिक आलोचना का रूप भी दिखाई देता है । किसी कलाकृति या काव्य धारा के अध्ययन में, इस तत्व का अवश्य विवेचन होना चाहिए । "हिन्दी साहित्य के निर्माता", "ज्योति विहग", "युग और साहित्य", "कवि और काव्य", "संचारिणी", "सामयिकी" आदि उनकी आलोचनात्मक कृतियाँ हैं । "ज्योति विहग" में पंतजी के काव्यदर्शन का विशद विवेचन किया गया है । "युग और साहित्य" में प्रगतिवादी विचारधारा की प्रमुखता है ।

सौष्ठववादी आलोचना के विकास में योग देने वालों में रामकुमार वर्मा, रामधारी सिंह दिनकर, डॉ॰ देवराज आदि भी है । दिनकर की मिट्टी की ओर" "काव्य की भूमिका, "शुद्ध कविता की खोज" आदि सैद्धांतिक विवेचन की प्रौढ रचनाएं हैं।

1· संचारिणी - शांतिप्रिय द्विवेदी - पृ॰१0

कवि कर्म और काव्य चिंतन के प्रति उनका ध्यान अधिक आकर्षित था । पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' व्यावहारिक आलोचना का नमूना है । इसमें तुलनात्मक पद्धति को स्वीकार किया गया है ।

आलोचना के प्रकार

हिन्दी आलोचना के विकास में, सौष्ठववादी आलोचना तक आकर समीक्षा के कुछ तत्व पुष्ट होकर आलोचनादर्श के रूप में प्रतिष्ठित हो गये । इन तत्वों से जो नवीन दृष्टिकोण स्थापित हुआ, उनके आधार पर कलाकारों और काव्य कृतियों का विवेचन करने की परिपाटी चल निकली । आलोचना की इन शैलियों या प्रकारों का अभूतपूर्व विकास हुआ । इनमें प्रधान हैं ऐतिहासिक, चरितमूलक, प्रभाववादी, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी, सौंदर्यान्वेषी और अभिव्यंजनावादी । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत सैद्धांतिक आलोचना द्वारा निश्चित किये गये सिद्धांतों की कसौटी पर कृतिविशेष अथवा साहित्य की प्रवृत्ति विशेष का विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाता है । इसकेलिए आलोचक एक ओर रचनात्मक साहित्य के गुण दोष आदि के आधार पर सिद्धांत निरूपण करता है, दूसरी ओर उपलब्ध साहित्य शास्त्र से लाभान्वित होता है और तीसरी ओर नवीन साहित्य-धाराओं [छायावाद, नयी कविता, आंचलिक उपन्यास आदि] के विषय में लेखकों की धारणाओं से प्रेरणा ग्रहण करता है[1] । साहित्य आलोचना के आधारभूत तीन तत्व होते हैं - प्रभाव ग्रहण, व्याख्या तथा निर्णय । इनके आधार पर आलोचना का तीन भेद किये गये हैं, प्रभावात्मक, व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक आलोचना । इन आलोचना प्रणालियों की अपनी अपनी आधारभूत प्रवृत्तियाँ हैं परंतु इनमें कहीं कहीं एकरूपता लक्षित होती है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धांत - सुरेशचंद्र गुप्त - पृ.561-574

निष्कर्ष

आधुनिक काल में साहित्य का सर्वतोन्मुखी विकास होने लगा। साहित्य के विविध अंगों का अभूतपूर्व विकास इस युग की प्रमुख विशेषता है। उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता, जैसी साहित्य विधाएं नई प्रवृत्तियों को लेकर गतिशील रही है। उसके मूल में युग की विशेषताओं को आत्मसात करके आगे चलने की आकांक्षा दिखाई देती है। काव्य क्षेत्र में, आधुनिक काल ने, नये मानव की व्यक्तिवादिता को लेकर क्रांति ही मचा दी। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता जैसी काव्यधाराएं एक न एक प्रमुख प्रवृत्ति को लेकर, सिद्धांतकारों तथा आलोचकों के पूर्व मान्य तत्वों को अस्वीकार करते हुए आगे बढी। इन नयी काव्य धाराओं के मूल में कार्यरत काव्य प्रवृत्तियों की जांच करने केलिए काव्यशास्त्र के सिद्धांत अनुपयुक्त हो गये। इसका परिणाम यह निकला कि इन सर्जनात्मक कृतियों और नूतन प्रतिभाओं के सही विश्लेषण और मूल्यांकन करने केलिए नये काव्य सिद्धांतों की आवश्यकता महसूस हुई। नये काव्यशास्त्र का निर्माण तीन प्रकार से दिखाई देता है। एक, पुराने सिद्धांतों को अवश्यानुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन करके, दूसरे पाश्चात्य एवं भारतीय सिद्धांतों के समन्वय के द्वारा, तीसरा नयी रचनाओं के अध्ययन और अनुशीलन से प्राप्त मान्यताएं और कवियों के पर्यालोचन से। आधुनिक युग की नयी काव्य धाराओं के अध्ययन की सबसे अधिक उपयोगी मान्यता उन काव्यधाराओं के प्रमुख कवियों की प्राप्त साहित्यिक मान्यताएं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सैद्धांतिक आलोचना के विकास में छायावाद युग के कवियों से लेकर अधुनातन कवियों का विचार, नये काव्य सिद्धांतों के रूप में प्रतिष्ठित होकर, अभूतपूर्व योगदान दे रहा है। सर्जक कवियों के अतिरिक्त अनेक विद्वान आलोचकों ने भी अपने अध्ययन-मनन के द्वारा इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

काव्यालोचना के विकास में, अपनी काव्य मान्यताओं के विश्लेषण तथा मूल्यांकन से योग देने की यह प्रवृत्ति छायावादी कवियों से प्रमुखतः शुरू होती है। प्रत्येक युग के साहित्यकार अपने अनुकूल साहित्य सिद्धांतों के निर्माण करते रहे।

क्योंकि नयी कविता की जांच पड़ताल में नयी मान्यताएं आवश्यक थी । प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कवियों ने भी इस काव्यालोचना पद्धति को अपनी मौलिक चिंतन से समृद्ध किया । अज्ञेय, मुक्तिबोध, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, आदि कवियों ने इस दिशा में अमूल्य योग दिया है । इनकी काव्य कृतियों की भूमिकाएं और आलोचनात्मक रचनाएं इन काव्य सिद्धांतों की सम्पदा है । इनके अलावा अन्य अनेक आलोचकों ने भी काव्य सिद्धांतों के निर्माण तथा काव्य रचनाओं के मूल्यांकन में अपनी उद्भावनाओं से योग दिया है । इनमें, रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी, नामवर सिंह, रमेशकुंतल मेघ जैसे आलोचकों का नाम आदर से लिया जाता है । नयी काव्य प्रवृत्तियों के अनुशीलन अध्ययन और मूल्यांकन केलिए नई आलोचना का जन्म इस संदर्भ में अवश्यंभावी हो गया । इस नयी आलोचना, विशेषतः काव्यालोचना का साहित्यिक क्षेत्र मेंअपना विशेष स्थान है । यहाँ हमने इस काव्यालोचना का उल्लेख मात्र किया है । आगे यह विस्तार से हमारे अध्ययन का विषय रहेगा ।

इन सर्जक कवियों की काव्यालोचना ने साहित्यिक आलोचना के विकास में, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना दोनों में, क्या योगदान दिया है, इसकी क्या विशेषता है आदि हमारे अध्ययन का विशेष विषय है । इस अध्याय में हमने हिन्दी आलोचना के विकास का दिग्दर्शन मात्र पृष्ठभूमि के रूप में किया है । आलोचना के विकास में अनेक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है । भारतेंदु युग की आलोचना में आगे का पूर्वरूप ही लक्षित होता है । इसमें कोई ऐसा मानदण्ड नहीं था, जो विशेष उल्लेखनीय है । द्विवेदी काल में आलोचना ने गुण दोष कथन का रूप ले लिया । नीति प्रधान और उपयोगवादी अधिक थी । शुक्ल युग में आकर इसको, शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक मानदण्ड प्राप्त हो गया । आलोचना का व्यवस्थित एवं क्रमिक विकास इस युग से दिखाई देने लगा । सौष्ठववादी आलोचना काव्य सौंदर्य के उद्घाटन में एक अनोखा स्तंभ है, जो आगे के विकास का कारण बन गया । इस काल में आकर आलोचना के दोनों रूप, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक बहुत समृद्ध हो गये । सैद्धांतिक आलोचना नयी काव्य धाराओं और साहित्यिक विधाओं के अध्ययन के अनुकूल स्थापित हो गयी । व्यावहारिक आलोचना अनेक

प्रकारों और पद्धतियों के रूप में विकसित हो गयी । आधुनिक काल तक सिद्धांत निरूपण तथा काव्यशास्त्र का निर्माण कवियों का कार्य नहीं था, शास्त्रकारों का था । उनके निश्चित नियमों और सिद्धांतों की कसौटी पर काव्य की रचना और आस्वादन होता था । लेकिन अब युग बदल गया । साहित्य की प्रवृत्ति बदल गई । इसके अनुसार आलोचना ने भी नया मोड लिया । नयी काव्य प्रवृत्तियाँ नये युग की देन हैं । उनके मूल्यांकन केलिए पुराने मानदण्ड अनुपयुक्त ठहरे । नये सिद्धांतों का आविष्कार हुआ । इसके मूल में मुख्यतः कवि ही क्रियाशील रहे । यह आधुनिक नयी आलोचना की सबसे बडी विशेषता है । उनका दृढ विश्वास है कि अच्छे कवि ही अच्छे आलोचक बन सकता है । इसलिए इन कवियों ने कवि कर्म के साथ आलोचनाकर्म भी करना शुरू किया ।

अध्याय - दो

छायावादी कवियों की काव्यालोचना

अध्याय - दो

छायावादी कवियों की काव्यालोचना

छायावादी काव्यधारा का उद्भव, हिन्दी साहित्य में एक नवीन सौंदर्य चेतना की उपज थी । द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक काव्यधारा के उपरांत इस काव्यधारा का उद्भव ऐतिहासिक महत्व रखता है । पूर्ववर्ती काव्यधारा से यह कई दृष्टियों से भिन्न थी । विषय वस्तु, भावात्मक चेतना, और भाषा की दृष्टि से इसमें नवीनता थी । इतिवृत्तात्मकता की जगह भावात्मानुभूति, वर्णनात्मकता की जगह लाक्षणिकता और चित्रात्मकता, बाह्य चित्रण की जगह इसमें अंतर्मुखी प्रवृत्ति की प्रबलता है । छायावादी कवियों का लक्ष्य नयी सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में नये सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा थी क्योंकि वे कवि मध्ययुग की समाज व्यवस्था और उसके मूल्यों से असंतुष्ट थे । अत: उनमें एक उन्मुक्त, उदार सामाजिक वातावरण की प्रबल कामना थी । इस कामना की पूर्ति केलिए उनके पास एकमात्र साधन काव्य ही था । उन्होंने अपने सृजन के प्रारंभिक क्षणों में यह अनुभव कर लिया कि परंपरागत काव्य उनके इस उद्देश की पूर्ति न कर सकेगा । अत: उन्हें काव्य सृजन के क्षेत्र में अपना अलग मार्ग स्वीकार करना पड़ा ।

प्रसाद, पंत, निराला, और महादेवी मूलतः कवि है । इनके द्वारा प्रवर्तित यह नई काव्यधारा द्विवेदी युगीन काव्यधारा से बिलकुल भिन्न थी । इसलिए प्रारंभ में इसका अंधाधुन्ध विरोध किया गया । यहाँ तक कि शुक्लजी जैसे आचार्य आलोचक इसे काव्य स्वीकार करने में तैयार न हुए । उन्होंने एक ओर अभिव्यक्ति की एक नवीन शैली और दूसरी ओर प्रकृतिवाद या रहस्यवाद का एक रूप बताकर इसकी उपेक्षा की[1] । उसके अतिरिक्त इस नये काव्य के स्वरूप, प्रेरणा, शिल्प आदि के संबंध में भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से आलोचनाएं की जाने लगी । इस काव्यधारा के मूल में पाश्चात्य रोमांटिक काव्य धारा एवं बंगला की आध्यात्मिक काव्यधारा की छाया का आभास, इन आलोचकों की गवेषणात्मक बुद्धि ने खोज निकाली । छायावादी कवियों को इन सब का उत्तर देना अनिवार्य हो उठा । उत्तर देते वक्त इन कवियों को स्पष्टतः दो लक्ष्य थे । एक अपने काव्य के संबंध में किये गये झूठे आरोपों का निराकरण और दूसरा, उसके सही आस्वादन और मूल्यांकन के उपादेय नये काव्य सिद्धांतों की स्थापना । इसके अतिरिक्त छायावादी काव्य की सामान्य सृजन प्रेरणा तथा शिल्प के संबंध में एकमत रखते हुए भी प्रत्येक कवि का दृष्टिकोण और दार्शनिक चेतना अलग थी, जिसका स्पष्टीकरण अपेक्षित था । इस प्रकार कवि को अपने कवि कर्म के साथ आलोचक का काम भी करना पड़ा । यों कवि परिस्थिति की प्रेरणा से आलोचक भी बन गये । हिन्दी साहित्य में कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा से संपन्न कलाकार विरले ही प्राप्त होते हैं । काव्य सृजन और काव्यालोचना की अपूर्व क्षमता हिन्दी में, पहली बार छायावादी कवियों में परिलक्षित होती है । हिन्दी आलोचना के विकास में इनका योगदान महत्वपूर्ण है । इसके अलावा, परवर्ती आलोचकों पर भी इनका बड़ा प्रभाव पड़ा है ।

छायावादी काव्यधारा के अंतर्गत काव्य सृजन और काव्यालोचना, दोनों की दृष्टि से सर्वश्री जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा का योग दान विशेष उल्लेखनीय है । इन कवियों ने

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - शुक्ल - पृ.621,622,637

सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना पद्धति को अपनी मौलिक उद्भावनाओं से समृद्ध किया है । उनकी काव्यकृतियों की भूमिकाओं में तथा काव्य संबंधी स्फुट निबंधों में सैद्धांतिक आलोचना का रूप उभर आया है । अपने समकालीन कवियों और उनके काव्य के अध्ययन के रूप में उनकी व्यावहारिक आलोचना का स्फुट रूप मिलता है । आगे हम इस अध्याय में इन कवियों की आलोचना के स्वरूप तथा विशेषताओं की विवेचना करेंगे ।

श्री जयशंकर प्रसाद की आलोचना

छायावादी युग तक की आलोचना पर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम होगा कि प्रचलित आलोचना छायावाद के प्रति न्याय नहीं कर सकी । छायावादी काव्य की व्यापक प्रेरणा, सूक्ष्म अनुभूति और काव्य के अभिव्यक्ति कौशल का वस्तुपरक विश्लेषण करने में परंपरागत आलोचना अनुपयुक्त और असमर्थ ठहरी । अर्थात् परंपरागत आलोचकों का दृष्टिकोण इस नयी काव्यधारा के प्रति अनुदार और संकुचित था । अत: इन कवियों के सम्मुख दुहरी समस्या थी, एक तो छायावादी काव्य रचना की मूल प्रेरणाओं और शिल्पगत मान्यताओं को स्पष्ट करके नये मानदण्ड की स्थापना और दूसरे प्रत्येक कवि को अपने दृष्टिकोण की भिन्नता का स्पष्टीकरण करना । छायावाद के प्रवर्तक कवि प्रसाद का आलोचना साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है ।

प्रसाद जी ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना के विकास में बड़ा योग दिया है । "काव्य और कला तथा अन्य निबंध" इनकी काव्य संबन्धी मान्यताओं का अध्यायग्रंथ है । "काव्य और कला", "रहस्यवाद", "रस", "नाटकों में रस का प्रयोग", "रंगमंच", "आरंभिक पाठ्यक्रम" और "यथार्थवाद और छायावाद" इस ग्रंथ में संकलित निबंध हैं, जो प्रसादजी की आलोचनात्मक उपलब्धि का स्पष्ट प्रमाण है ।

इसके अतिरिक्त कामायनी की भूमिका और इंदु, माधुरी, सरस्वती, आलोचना जैसी पत्रिकाओं में समय समय पर निकले अनेक निबंधों में उनकी आलोचनात्मक क्षमता का पूर्ण उन्मेष हुआ है । प्रसाद ने सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत काव्य का स्वरूप, काव्यात्मा, रस, काव्य प्रयोजन, काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य वर्ण्य, छायावाद, रहस्यवाद, आदर्श और यथार्थ के स्वरूप की समीक्षा की है । प्राय: इन सभी काव्यांगों के विषय में उनके विचार संक्षिप्त रहे हैं, किंतु उनमें मौलिकता की दीप्ति सर्वत्र वर्तमान है ।

सैद्धांतिक आलोचना

काव्य का स्वरूप

प्रसाद जी काव्य और कला को परस्पर पर्यायवाची शब्द नहीं मानते । इसका और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं - [काव्य] "आत्मानुभूति की मौलिक अभिव्यक्ति है । कला को भारतीय दृष्टि से उपविद्या माना गया है ।"[1]

प्रसाद न तो पश्चिमी विचारधारा की भांति काव्य को कला का अंग मानते हैं और न दोनों को समान मानते हैं । प्रसाद काव्य में हृदयतत्व तथा कला में बुद्धि तत्व की प्रधानता मानते हैं । उनके अनुसार "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका संबन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है । वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञानधारा है । विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से मिलन न होने के कारण आत्मा की मनन क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है वह निस्संदेह प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है[2] ।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजी काव्य में तर्क और ज्ञान की अपेक्षा अनुभूति को महत्व देते हैं । इसमें श्रेय [आध्यात्मिक]

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - पृ.42
2. वही - पृ.37-38

और प्रेम [लौकिक] दोनों को एक जैसा महत्व दिया गया है । कवि की यह अनुभूति आत्मा की असाधारण अवस्था अर्थात् प्रतिभा से आलोकित रहती है । कला को उपविद्या के अंतर्गत मानते हुए उन्होंने इसे बुद्धि तत्व की अधिक निकट माना है[1] । यहीं नहीं काव्य को श्रेष्ठ बताते हुए उन्होंने कला को काव्य के अंतर्गत माना है - "प्रतिभा का किसी कौशल विशेष पर अधिक झुकाव हुआ होगा । इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा सी चल पड़ी है[2] ।" यह विचार भारतीय मनन चिंतन के अनुकूल है । प्रसाद जी के अनुसार काव्य अनुभूति प्रधान होता है और अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का सामंजस्य इसमें होता है । पाश्चात्य आलोचक प्लेटो कविता को संगीत के अंतर्गत मानते हैं । प्रसाद ने इसका विरोध करते हुए कहा - "संगीत कला नादात्मक है और कविता उससे उच्च कोटि की अमूर्त कला है[3] ।" अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत की आलोचना करते हुए उन्होंने बताया - "आध्यात्म का उसमें संपर्क नहीं । लोकोत्तर आनंद की सत्ता का विचार ही नहीं किया गया[4] ।" इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसादजी काव्य में आध्यात्मिकता और आनंद का समावेश मानते हैं । कविता का लक्ष्य प्रमाता को आनंद देना है । यह आनंद काव्य में परस्पर विरोधी तत्वों के सामंजस्य से संभव होता है । इसलिए "स्कन्दगुप्त" में मातृगुप्त कविता की परिभाषा यों देता है - "कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है । अंधकार का आलोक से असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत का अंतर्जगत से संबंध कौन कराती है ? कविता ही न ?[5]"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रसादजी ने मुख्य रूप से काव्य में तीन बातों पर बल दिया है - काव्य में अनुभूति की प्रधानता होती है, तर्क और विज्ञान की नहीं, उसमें आध्यात्मिकता [श्रेय] और यथार्थ [प्रेय] का एक जैसा

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ.38
2. वही - पृ.37
3. वही - पृ.32
4. वही - पृ.33
5. स्कंदगुप्त - प्रथम अंक - पृ.21

महत्व होता है, कवि की अनुभूति असाधारण अवस्था या प्रतिभा से आलोकित रहती है। उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय चिंतकों के मतों का आदर करते हुए अपनी मान्यताओं की स्थापना की है। उनकी मान्यताएं - उनके सृजन के समान प्रौढ चिंतन और मौलिक विवेचना का उत्तम परिचायक है।

काव्य की आत्मा

"काव्यस्य आत्मा रस: यह भारतीय आचार्यों का सुचिंतित मत है। प्रसाद जी ने काव्य में अलंकार, ध्वनि वक्रोक्ति और रीति को स्वीकार करते हुए रस को ही उसकी आत्मा मानी है। गूढ आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति को काव्य माननेवाले कवि से का यह विचार बहुत गंभीर प्रतीत होता है। प्रसाद जी "रस" शीर्षक लेख में बताते हैं - "काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। यह आकार वर्णात्मक रचना विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेम भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी।[1]" इसका संबन्ध कवि की अनुभूति से होता है और साधारणीकरण के द्वारा पाठक काव्य का आस्वादन करता है, यह काव्यशास्त्र केलिए कोई नया विषय नहीं है। अनुभूति से रस की सिद्धि के संबन्ध में आचार्य शुक्ल लिखते हैं - "रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक कोई अंतर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।[2]" रूप के आवरण में सन्निहित वस्तु सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है, यह कथन इस बात को रेखांकित करता है कि प्रसादजी काव्य में अभिव्यक्ति कौशल को उतना महत्व नहीं देते जितना अनुभूति को

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध - पृ.43-44
2. रस मीमांसा - शुक्ल - पृ.275

उनकी मान्यता है कि कवि की आत्मिक अनुभूति काव्य में व्यक्त होती है और यही काव्य को आनंदमय बना देती है। डॉ. नगेंद्र ने भी कवि के अनुभव को रस रूप में अभिव्यक्त होनेवाला कहा है।[1]"

प्रसादजी के इस विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने रस का शैवाद्वैत और रहस्यवाद से संबद्ध माना है। इसकी प्रेरणा उन्हें समरसता सिद्धांत और आनंदवाद से मिली है। ये दोनों सिद्धांत शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन के भी हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने "तंत्रालोक" के प्रथम भाग में लिखा है "आनंद-शक्ति में विश्रान्ति-लाभ से योगी को समरसता की अवस्था प्राप्त होती है - "आनन्द शक्ति विश्रान्ते योगी समरसो भवेत्[2]।" काव्य में साधारणीकरण से प्राप्त होनेवाला आनंद भी इसी कोटि का है। रस को समरसता से संबद्ध करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत उचित है। जिस प्रकार जीवात्मा को समरसता से निर्बाध आनंद की प्राप्ति होती है उसी प्रकार काव्यगत रस का मर्म पा लेने वाला सहृदय भी आनंद-भूमि में पहुंच जाता है। यह स्थापना प्रसादजी के गंभीर शोध का परिणाम है।

काव्य के प्रयोजन के विषय में प्रसादजी का विचार नवीन नहीं है। आनंदोपलब्धि और लोकशिक्षा को वे काव्य का प्रयोजन मानते हैं। प्रसाद शैवागम के प्रत्यभिज्ञा दर्शन से प्रभावित थे। अतः उन्हें आनंदवाद में अटूट आस्था थी। वे काव्य में जीवन की भांति आनंद का समर्थन करते हैं और सत्कविता में यह पाते हैं - "सच्चे कवि की कविता भी अलौकिक आनंद प्रदान करती है, क्योंकि यह उनकी सृष्टि है[3]।" छायावादी कवि लोक मंगल की भावना से युक्त काव्य को रमणीय एवं रसपूर्ण मानते हैं। यह विचारधारा उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

---

1. रीतिकाव्य की भूमिका - पृ.55-57
2. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन - डॉ. द्वारिकाप्रसाद - पृ.435
3. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ.33

काव्य के तत्व

प्रसादजी ने काव्य में सत्यं शिवं सुंदरम् तीनों का महत्व स्वीकार किया है । सत्य अथवा प्राकृतिक विभूतियों के अनुभव को वे काव्य का मूल तत्व मानते हैं । उनका कहना है - 'सत्य की उपलब्धि केलिए ज्ञान की साधना आरंभ होती है । .... वह सत्य प्राकृतिक विभूतियों में, जो परिवर्तनशील होने के कारण अमृत नाम से पुकारी जाती है, ओतप्रोत है । सत्य विराट है, उसे सहृदयता द्वारा ही हम सर्वत्र ओतप्रोत देख सकते हैं, उस सत्य के दो लक्षण बताये गये हैं - श्रेय और प्रेय । शास्त्र में श्रेय का आज्ञात्मक ऐहिक और आमुष्मिक विवेचन होता है और काव्य में श्रेय और प्रेय दोनों का सामंजस्य होता है । .... काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नये संबंध खोलने में प्रयत्नशील है । .... इसलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं ।'[1] काव्य में अभिव्यक्त सत्य के दो रूप होते हैं, श्रेय और प्रेय । आत्मा की अनुभूति होने के कारण यह रमणीय आकार में प्रकट होता है । लोक मंगल की भावना से प्रेरित होती है । अतः काव्यानुभूति में यह सत्य शिवत्व से अनुप्राणित है ।

काव्य में अभिव्यक्त सत्य सौंदर्य के परिवेष्टन में पाठक के मन को आनंद प्रदान कर सकता है । किंतु प्रसाद जी काव्य में बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा आत्मिक सौंदर्य पर अधिक बल देते हैं । उन्होंने संस्कृति को सौंदर्यानुभूति से विकसित माना है । उनका कहना है - 'संस्कृति सौंदर्य बोध के विकसित होने की चेष्टा है[2] ।' मानव संस्कृति के विकास का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट प्रतीत होगी । कवि अपने समीपवर्ती वातावरण और प्राचीन जातीय संस्कारों से प्रभावित होकर अपने काव्य में सत्य की मौलिक अनुभूति की अभिव्यक्ति कर पाता है । अतः प्रसादजी द्वारा सत्यं शिवं और सुंदरम का पारस्परिक संबंध की स्थापना मौलिक एवं युक्तिसंगत प्रतीत होती है । काव्य में इन तीनों तत्वों के सामंजस्य का प्रतिपादन इनके पूर्व ही हुआ है किंतु इसकी स्पष्ट और मौलिक मीमांसा करनेवाले

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ.36-37
2. वही - पृ.28

हिन्दी के प्रथम कवि प्रसादजी है । कल्पना का भी उन्होंने अनिवार्य रूप से प्रतिपादन किया है । कामायनी के आमुख में इन्होंने लिखा है - "कामायनी की कथा श्रृंखला मिलाने केलिए कहीं कहीं थोडी बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार, मैं नहीं छोड सका हूँ ।"[1] प्रबन्ध काव्य में कल्पना का समायोग तीन कारणों से आवश्यक है - रस दृष्टि, घटनान्विति, और पात्रों के व्यक्तित्व का उत्कर्ष । इसके अभाव में काव्य सिर्फ इतिवृत्तात्मक एवं वस्तु जगत की यांत्रिक अनुकृति हो जायेगा । इसलिए कवियों ने अपने काव्य में कल्पना का यथोचित उपयोग किया है । प्रसाद जी ने कल्पना को काव्य में अपनाते हुए उसमें अनुभूति का यथोचित स्थान दिया है । इसलिए उन्होंने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति माना है ।

काव्यभेदों में प्रसाद जी ने केवल महाकाव्य के संबन्ध में अपना मत व्यक्त किया है । वह उतना महत्वपूर्ण भी नहीं है । काव्य के वर्ण्य विषय के अंतर्गत प्रसाद जी ने लौकिक प्रेम को अधिक महत्व दिया है । रीतिकालीन श्रृंगारिकता की उन्होंने अवहेलना की है । इसके अतिरिक्त काव्य में जातीयता एवं राष्ट्रीयता को प्रश्रय देने को उन्होंने कहा है ।

सैद्धान्तिक आलोचना के अंतर्गत प्रसाद जी ने प्रमुख काव्यांगों का प्रतिपादन किया है । उनमें काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा के संबंध में उनका विचार अधिक ध्यान देने योग्य है । काव्य के स्वरूप के अंतर्गत उन्होंने पाश्चात्य एवं भारतीय विचारों के आधार पर उसके स्वरूप का वास्तविक एवं मौलिक स्वरूप प्रदान करने की कोशिश की है । इस संबंधी उनका विचार भारतीय आलोचना पद्धति के लिए अधिक मूल्यवान बन गया है । काव्य की आत्मा रस मानने की रीति भारत में अनादिकाल से चल पडी है । किंतु प्रसाद के विवेचन में अधिक नूतनता दर्शनीय है । रस का संबंध समरसता और रहस्यवाद से करने की उनकी प्रवृत्ति

---

1. कामायनी - आमुख - पृ.8

हमारे संस्कृति के विकास के चरण के रूप में ले सकते हैं । इसमें नवीनता परिलक्षित होती है । सत्यं शिवं सुंदरम् का काव्य में सामंजस्य भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों को मान्य है । इसमें विशेषता यह होती है कि इसके विवेचन में, प्रसादजी की सर्जनात्मक शक्ति उभर आयी है ।

प्रसादजी की व्यावहारिक आलोचना

प्रसादजी की व्यावहारिक आलोचना प्रमुख रूप से काव्यवादों के संबंध में लिखे गये लेखों में प्राप्त होती है । छायावादी नयी काव्यधारा के प्रवर्तक कवि के रूप में प्रसादजी का नाम आदर से लिया जाता है । इस नयी काव्यधारा के विरोध में उस समय अनेक गर्हणीय आलोचनाएं निकली थीं । उनके सही मूल्यांकन करने में प्रचलित आलोचना अनुपयुक्त थी । इसलिए इन कवियों को नयी काव्यधारा के सही आस्वादन और विश्लेषण के अनुरूप आलोचना का मानदण्ड स्थापित करना था । और इस नयी काव्यधारा की विशेषताओं का उद्घाटन करने केलिए व्याख्यात्मक आलोचना पद्धति को स्वीकार भी करना पड़ा । इस पृष्ठभूमि में इन कवियों की व्यावहारिक आलोचना का विशेष स्थान है ।

प्रसादजी ने छायावाद, रहस्यवाद, आदर्श और यथार्थ के संबंध में अपनी मौलिक उद्भावनाएं की है, जो व्यावहारिक आलोचना के विकास में अधिक महत्वपूर्ण साबित हुआ है । प्रसादजी छायावाद और रहस्यवाद के संबंध में उठाये गये प्रश्नों को उत्तर देते हुए अपनी कविता के विषय में किये गये आरोपों का खण्डन करना चाहते थे । इस उद्देश से प्रेरित होकर उन्होंने छायावाद का वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन पुराने भारतीय साहित्य में ढूंढ निकाला है ।

छायावाद

छायावाद विषयक प्रसाद की मौलिक और स्पष्ट धारणाएं साहित्य में ऐतिहासिक महत्व रखती है । प्रसादजी ने रीतिकालीन स्थूल शृंगारिकता का विरोध करते हुए जीवनानुभवों को काव्य में वेदना के स्पर्श से अभिव्यक्त करने पर बल दिया है । छायावाद के पूर्व की कविता की, उससे भिन्नता स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं - "कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी भी घटना अथवा देश विदेश की सुंदरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद नाम से अभिहित किया गया । इस ढंग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई । ये नवीन भाव आंतरिक स्पर्श से पुलकित थे[1] ।" प्रसाद के अनुसार अनुभूति की गंभीरता तथा विविधता काव्य को सप्राण बनाती है । इसलिए इस नयी काव्य धारा को उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया ।

प्रसाद ने छायावाद के शिल्प पक्ष पर भी विचार किया है । वे कहते हैं - "सूक्ष्म आभ्यंतर भावों के व्यवहार में प्रचलित शब्द को अन्य असफल रही । उनकेलिए नवीन शैली तथा नया वाक्य विन्यास आवश्यक था । हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यंतर वर्णन केलिए प्रयुक्त होने लगी । शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढा कि उसमें एक तरल उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया[2] ।" इससे स्पष्ट है कि ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक विधान और उपचार वक्रता छायावाद की शिल्पगत विशेषताएं हैं । छायावादी कविता की इन विशेषताओं को आत्मसात करने की शक्ति प्रचलित शब्दों में नहीं थी । इसलिए कवि को शब्दों के नये प्रयोग पर बल देना पडा । आगे वे लिखते हैं - "इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति केलिए जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में पहले वे कम समझे जाते थे, किंतु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतंत्र अर्थ उत्पन्न

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ.121-122
2. वही - पृ.122

करने की शक्ति है । समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं । भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है । अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द शास्त्र में पर्याय वाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं ।"[1]

छायावादी कवियों ने प्रचलित शब्दों का परिष्कार करके उसका नया प्रयोग किया । भावों की नवीनता और विविधता के अनुकूल भाषा के क्षेत्रों में नवीन प्रयोगों को स्थान देना सर्वथा प्रशंसनीय है । इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रयोग की भिन्नता के अनुसार एक ही शब्द विविध स्थूल सूक्ष्म अर्थों को व्यक्त कर सकता है । छायावादी कला शब्दों की इस प्रवृत्ति पर आधृत है, उसके कवियों ने परंपरा से प्रयुक्त अनेक शब्दों का नवीन रूप प्रदान करने की चेष्टा की है । कवि के सूक्ष्म आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति कौशलपूर्ण ढंग से करने केलिए, शब्द और अर्थ दोनों को वक्र वक्र शैली में प्रस्तुत किया जाता है । तत्संबन्धी प्रसाद का विचार ध्यातव्य है - शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता, विच्छित्ति छाया और कांति का सृजन करती है । इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है[2] ।

प्रसादजी ने अपने मत का समर्थन करने केलिए 'वक्रोक्ति जीवितम और ध्वन्यालोक से अनेक उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि छायावाद एक नवीन काव्य विधा होने पर भी उसका मूल संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होता है । छायावादी काव्य में छाया या कांति का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं - कवि की वाणि में यह प्रतीयमान छाया युवति के लज्जा भूषण की तरह होती है । संस्कृत साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपनेलिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है । .... इस दुर्लभ छाया का संस्कृत के काव्योत्कर्ष काल में अधिक

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ.122
2. वही - पृ.123

महत्व था । आवश्यकता इसमें शब्दिक प्रयोगों की भी थी, किंतु और अर्थ वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था । इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर है । इस प्रकार प्रसाद की मान्यता है कि छायावादी काव्य में अंतर्मुखी भावना अपने मूल में नारी की सहज लज्जा भाव की तरह समेटे हुए है ।

छायावादी काव्य के उद्भव काल में उसके प्रति शंकाओं का होना स्वाभाविक था । इसे लक्ष्य करके प्रसाद ने लिखा - "कुछ लोग इस छायावाद पर अस्पष्टतावाद का भी रंग देख पाते हैं । हो सकता है, जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य न कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से इसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो, परंतु सिद्धांत में ऐसा रूप छायावाद ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छायामात्र हो, वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है । हाँ मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है । प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रतिबिंब है, इसलिए प्रकृति को काव्य व्यवहार में ले आकर, छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धांत भी भ्रामक है । यद्यपि प्रकृति का आलंबन, स्वानुभूति का प्रकृति प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से संबंध रखनेवाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता ।"[2]

इस प्रकार प्रसादजी छायावाद में अनुभूति अथवा हृदय तत्व का प्राधान्य स्वीकार करते हैं । वे छायावाद और रहस्यवाद में मौलिक अंतर मानते हैं । उनके अनुसार छायावादी कविता प्रकृति सौंदर्य से अनुप्राणित होते हुए भी वही छायावादी नहीं है । प्रसाद छायावाद को काव्य की सहज, स्वाभाविक प्रवृत्ति मानते हैं । उनका निम्न कथन इसका प्रमाण है - "छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है ।

1· काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ·124

2· वही - पृ·125-126

ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौंदर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएं है । अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आंतर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है[1] ।"

छायावाद संबंधी प्रसाद के विचारों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि उनकी मान्यताएं मौलिक एवं स्पष्ट आधार ली हुई है । छायावाद में निम्न विशेषताएं होती हैं ।

1. छायावादी काव्य में अनुभूति अथवा हृदय तत्व की प्रधानता है । प्रसाद की छायावाद की यह परिभाषा इसे रेखांकित करती है - बाह्य वर्णन से भिन्न वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति छायावाद है ।
2. शिल्प पक्ष की विशेषता - सौंदर्यमय प्रतीक विधान, लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, उपचार वक्रता
3. रहस्यवाद से भिन्न है ।

प्रसाद जी ने छायावाद की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए उसके प्रति किये गये आरोपों का खण्डन किया । इस नयी काव्यधारा के मूल में भारतीयता का आधार खोज निकालना उनका गहन अध्ययन और चिंतन का परिचायक है । अनुभूति और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नवीनता लेकर आयी इस काव्यधारा के ठीक आस्वादन और मूल्यांकन केलिए उपयुक्त मानदण्डों की स्थापना करने में प्रसाद की आलोचना अधिक सफल हुई है ।

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ.126

रहस्यवाद

प्रसादजी ने छायावाद की भाँति रहस्यवाद के संबंध में अपना निजी दृष्टिकोण व्यक्त किया है । उन्होंने रहस्यवादी प्रवृत्ति को काव्य की मुख्य निधि मान ली है । 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में संकलित रहस्यवाद शीर्षक लेख में इसकी परिभाषा यों दी है - "काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है[1] ।" वे इसे भारतीय चिंतन परंपरा की देन मानते हैं । उसे एक विदेशी प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं होते । इस संबंध में उनकी स्थापनाएं कोरी भावुकता से प्रेरित नहीं है उनके पीछे तर्क का प्रबल आधार है । उन्होंने भारत में रहस्यवाद के क्रमिक विकास को दिखाते हुए वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक उसकी कई धाराओं का अध्ययन किया है । उनका कहना है - "रहस्यवाद इन कई तरह की धाराओं में उपासना का केंद्र बना रहा । जहाँ बाह्य आडंबर के साथ उपासना थी, वहीं भीतर सिद्धांत में अद्वैत भावना रहस्यवाद की सूत्रधारिणी थी । इस रहस्य भावना में वैदिक काल से ही इन्द्र के अनुकरण में अद्वैत की प्रतिष्ठा थी[2] ।" इससे स्पष्ट होता है कि रहस्यवाद का प्रारंभ वैदिक काल में हुआ था और इसमें अद्वैत भावना प्रमुख थी । अद्वैतमूलक रहस्यवाद में सिद्धों के आनंदवाद का समावेश मानते हुए वे लिखते हैं - "इस आगम के अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनंद मार्ग को अपनी साधना पद्धति में प्रचलित रखा था और इसे वे रहस्य सम्प्रदाय कहते थे[3] ।" प्रसादजी ने रहस्यवाद में अद्वैतवाद और आनंदवाद का समन्वय खोज निकाला है । रहस्यवाद की दूसरी विशेषताओं पर उन्होंने प्रकाश डाला है - "वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है । इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुंदर प्रयत्न है । हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ.46
2. वही - पृ.62
3. वही - पृ.56

साधन बनकर इसमें सम्मिलित है । वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं ।[1] छायावादी कवियों ने रहस्यवाद को एक काव्य-प्रवृत्ति के रूप में अपनाया है । किंतु सैद्धांतिक रूप में उसका स्वरूप और विकास की चर्चा केवल प्रसादजी ने की है । रहस्यवाद को भारतीय चिंतन पद्धति की देन स्थापित करने का जो अपरिमित उत्साह प्रसादजी ने दिखाया, वह सचमुच प्रशंसनीय है । क्योंकि उस समय दूसरे लोग उसे विदेशी माल स्थापित करने को कटिबद्ध थे । यही उसकी प्रासंगिकता और सार्थकता है ।

यथार्थवाद और आदर्शवाद

काव्य में यथार्थ और आदर्श का समान रूप से स्वीकार करते हुए प्रसाद जी ने यथार्थ का विस्तार से प्रतिपादन किया है । "काव्य और कला तथा अन्य निबंध" में संगृहीत यथार्थवाद शीर्षक लेख में तत्संबंधी विचार उपलब्ध होता है । यथार्थवाद की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं - "यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात । उसमें स्वभावत: दुख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है । लघुता से मेरा तात्पर्य है, साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुख और अभावों का उल्लेख । जाति में जो धार्मिक और साम्प्रदायिक परिवर्तनों के स्तर आवरण रूप बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकता को खोजने की चेष्टा भी साहित्य में तथ्यवाद की सहायता करती है । ······· उस व्यापक दु:ख संवलित मानवता को स्पर्श करनेवाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है । इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं । ····· वस्तुत: यथार्थवाद का मूल भाव है वेदना । जब सामूहिक चेतना छिन्न भिन्न होकर पीड़ित होने लगती है, तब वेदना की विवृत्ति आवश्यक हो जाती है । ······ यथार्थवाद इतिहास की संपत्ति है । वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या था ।[2]

1· काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ·68

2· वही - पृ·118,119,121

इस प्रकरण में दो बातों में प्रमुखत: बल दिया गया है - ‡1‡ यथार्थवादी वृत्ति में वेदना की अनुभूति प्रधान होती है ‡2‡ वर्तमान जीवन के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन भी ज़रूरी है । काव्य में यथार्थ और आदर्श के सम्मिश्रित रूप को प्रसादजी स्वीकार करते हैं - "साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है[1]।"

निराला की "गीतिका" की प्रसादजी द्वारा लिखी गई छोटी सी भूमिका उनकी व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत विशेष महत्व रखती है । अपने समकालीन कवि निराला के गीतों की सही शक्ति समझने में यह भूमिका विशेष उपयोगी है । निराला जी की गीतिका के गीतों में व्यापकता है और प्राणों की अनुभूति गीतों को एक सजीव व्यक्तित्व प्रदान करती है । गीतिका के प्रत्येक गीत में कवि के प्राणों का संगीत है । निराला जी के गीतों में अभिव्यक्त रहस्यानुभूति के संबंध प्रसाद जी कहते हैं - "उसका दार्शनिक पक्ष गंभीर और व्यंजना मूर्तिमती है । आलंबन के प्रतीक उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है । केवल कोमलता ही कवित्व का मापदण्ड नहीं है[2]।" निराला जी के इन गीतों में सौंदर्य भावना और कोमल कल्पना का जो माधुर्यमय चित्र अंकित किया गया है, उन्हें प्रसादजी उनकी कवित्व शक्ति का उज्वल परिचायक मानते हैं ।

निष्कर्ष

प्रसादजी की आलोचना का सम्यक विवेचन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि वे परंपरागत शास्त्रीय आलोचना का विरोधी नहीं है । परंपरा को यहाँतक अपनाने पर भी उसमें मौलिकता परिलक्षित होती है । उनकी आलोचना पद्धति आनंदवाद पर आधारित है । ये अनुभूति, रस और आनंद में बोध एक तारतम्य मानते हैं । भारतीय साहित्य के संदर्भ में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है । उनकी राय में साहित्य रचना एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है । उन्होंने सैद्धांतिक और

---

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ. 121

2. गीतिका - निराला भूमिका - प्रसाद - पृ.

व्यावहारिक दृष्टि से काव्य की आलोचना प्रस्तुत की है । काव्य, कला, रस आदि के संबंध में किये गये विचार अनुभूतिजन्य और मौलिक है । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद आदर्शवाद आदि का मौलिक तथा पांडित्यपूर्ण विवेचन मिलता है ।

....

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की आलोचना

छायावाद के स्वतंत्र चेता कवि के रूप में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला प्रतिष्ठित है। निराला ने परंपरागत काव्य सिद्धांतों में, अपनी कविता के अनुकूल नवीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। मानवता की मुक्ति और सर्जन की स्वतंत्रता के साथ आत्माभिव्यक्ति केलिए हिन्दी को माध्यम के रूप में वे प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इससे संबद्ध जो रचनात्मक विद्रोह उनके काव्य में उपलब्ध होता है, उसका तार्किक प्रतिपादन और यथार्थवादी व्याख्या की आकांक्षा उनकी आलोचना की पृष्ठभूमि रही है। निरालाजी के काव्य संबंधी विचार काव्य ग्रंथों की भूमिकाओं {परिमल, गीतिका, बेला, अनामिका, अर्चना} में निबन्ध संकलनों में {प्रबन्ध प्रतिमा, प्रबंध पद्म, चाबुक, चयन} तथा आलोचनात्मक रचनाओं {पंत और पल्लव, रवीन्द्र कविता कानन} में व्याप्त मिलता है।

सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत निराला ने मुख्यतः काव्य का स्वरूप और काव्य शिल्प का विवेचन किया है। दूसरे काव्यांगों के संबंध में उनका विचार सामान्य है। इन काव्यांगों के संबंध में उनका विचार गद्य और पद्य में उपलब्ध होता है।

काव्य का स्वरूप

निराला काव्य को मनुष्य मन की श्रेष्ठ रचना मानते हैं - "मनुष्य मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार को ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कलुषता तक पहुँचकर शब्द क्रम से उसका संयोग करने के पश्चात यहाँ के लोगों ने उसे वाङ्मय की

स्थिति करार दिया[1]।" उन्होंने जगत के विविध दृश्यों की स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को कवि का आदर्श माना है - "साहित्यिक संसार की अच्छी चीज़ों का समावेश अपने साहित्य में करते है और उनके प्राणों के रंग से रंगीन होकर वे चीज़ें साधारणों को भी रंग देती है[2]।" प्राणों के रंग से रंगीन होने का तात्पर्य आत्मानुभूति से है। काव्य में आत्माभिव्यक्ति का अर्थ होता है अनुभूति की व्यापकता। निराला कहते हैं - "काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व का खास तौर से जोर देता है तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से उसकी विशाल व्यक्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा[3]।"

निराला के अनुसार कवि समाज द्रष्टा और स्रष्टा है। "तुलसीकृत रामायण का आदर्श" शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है - "कवियों के हृदयनिर्गत कविता रूपी उद्‌गार में इतना शक्ति होती है कि उसका प्रवाह जनता को अपनी गति की ओर खींच लेता है। कवि की सुझाई हुई बात जनता के चित्त में बैठ या बैठ जाती है, प्रतिकूल विचारों का बल घटा देती है। जनता प्राय: वही सम्मति सब मानती है जो कवि से प्राप्त होती है[4]।" सामयिकता के प्रभाव से काव्य में युग चेतना के स्पर्श देते हुए आत्माभिव्यक्ति करना कवि का काम है। वही काव्य सफल होता है। यथा -"समय का रुख जिस ओर होता है, जिस ओर चलने केलिए कवि की अंतरात्मा उसे संकेत करती है और कवि को सफलता की आशा होती है, उसी ओर उसकी काव्य प्रतिभा विकसित होती है[5]।"

निरालाजी साहित्य और जीवन का अटूट संबंध मानते हैं। वे काव्य की आधारभूत भावनाओं को सार्वभौम मानते हैं। उनके विचार से "यदि विचार

---

1. चयन - निराला - पृ.45
2. गीतिका भूमिका - पृ. 5
3. चयन - निराला - पृ.49
4. माधुरी, अगस्त 1923 - पृ.49
5. वही - पृ.50

किया जाय तो साधारण भी सब साहित्य के एक ही होंगे, क्योंकि सब साहित्य के निर्माता मनुष्य ही है और एक ही प्रकृति उनके अंतर काम कर रही है।[1]" इसी प्रकार उन्होंने साहित्य को लोकोत्तर आनंद देनेवाली चीज बतायी है - "साहित्य वह है जो साथ है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज़ है। साहित्य लोक से, सीमा से प्रांत से, देश से, विश्व से ऊँचा हुआ है। इसलिए वह लोकोत्तर आनंद दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है लोक जो कुछ देख पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य मात्र का साहित्य है। भावों से, केवल भाषा का एक देशगत आवरण उस पर रहता है।[2]" काव्य की सप्रेषणीयता, उनके अनुसार, उसमें निहित व्यापक सत्य पर आश्रित है। वे लिखते हैं - "सत्य या ईश्वर ही वह रंग है, जो रस रूप में कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंगों को पाठकों की आत्मा से मिला देता है।[3]" सत्साहित्य में वे अनेक भावों और अनेक चित्रों को आवश्यक मानते हैं - "साहित्य में अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है। इसलिए मैं ने तमाम भावों का एक साथ समर्थन किया है।[4]" निराला जी काव्य में विराट रूपों का चित्रण महत्वपूर्ण मानते हैं। क्योंकि इससे कवि हृदय के उद्गार व्यापक रूप धारण कर सकते हैं कि काव्य में कवि के हृदय को विस्तृत व्याप्त करने केलिए विराट रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति कोई द्वेष नहीं दिखाया जा रहा है। रूप की सार्थक लघु विराट कल्पनाएं संसार के सुंदरतम रंगों से जिस तरह अंकित हों, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष। इस तरह काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख दुखमय चित्रों को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता में होगी।[5]"

---

1. चयन - पृ. 92
2. प्रबंध प्रतिमा - पृ. 193
3. चाबुक - पृ. 49
4. वही - पृ. 49
5. प्रबंध पद्म - पृ. 154

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निराला काव्य को मनुष्य मन की श्रेष्ठ रचना मानते हैं। उसमें अनुभव की व्यापकता अनिवार्य है। कवि का सामाजिक दायित्व अधिक है। साहित्य सब सीमाओं से परे होता है। जीवित जाति के साहित्य में अनेक भाव और चित्र होना आवश्यक है। काव्य में अर्थ की अभिव्यक्ति कवि के व्यापक अनुभूति का परिचायक है।

निराला ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। इस विषय में उनका विचार संक्षिप्त एवं सामान्य है। "पंत और पल्लव" में निराला ने ध्वनि और रीति पर विचार किया है।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति को वे काव्य का हेतु मानते हैं। "रवीन्द्र कविता कानन" में टागोर की कवि प्रतिभा के संबंध में वे लिखते हैं - कली की सुगंध की तरह महाकवि की प्रतिभा भी अपनी छोटी सी सीमा के भीतर संतुष्ट रहना नहीं चाहती। वह हर एक मानवीय दुर्बलता को परास्त करना चाहती है। यह उसका स्वाभाविक धर्म भी है क्योंकि देवी शक्ति वही है जो मानवीय बंधनों का उच्छेद कर देती है।[1]" व्युत्पत्ति के अंतर्गत वे अध्ययन से प्राप्त प्रेरणा और प्रभाव को स्वीकार करते हैं। भावापहरण दोष नहीं, बड़े से बड़े कवि भी इससे अछूते नहीं है। भावों को आत्मसात करने की शक्ति अच्छे कवि में होती है। निराला ने अपनी कविताओं में दूसरों का प्रभाव खुले हृदय से स्वीकार किया है[2]।

काव्य प्रयोजनों में निराला मुख्य रूप से आनंद को मानते हैं। उपदेश देना कवि की कमजोरी मानते हैं। काव्य के बाह्य प्रयोजनों की अपेक्षा आभ्यंतर प्रयोजन पर बल दिया गया है। काव्य तत्व के संबंध में उनका विचार अस्पष्ट है।

---

1. रवीन्द्र कविता कानन - पृ.42
2. परिमल भूमिका - पृ.23

गीति काव्य

काव्य भेद के अंतर्गत निराला जी ने केवल गीति काव्य की चर्चा की है। वे संगीत का अच्छा ज्ञाता थे। इसलिए इस विषय के संबंध में उनका विचार मौलिक है। वे सफल गीति काव्य में कवित्व और संगीत दोनों का सुंदर सामंजस्य स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं - "प्राचीन गवैयों की शब्दावली संगीत की संगति की रक्षा केलिए किसी तरह जोड दी जाती थी, इसलिए उसमे 'काव्य का एकांत अभाव रहता था। आज तक उनका यह दोष प्रदर्शित होता है। मैं ने अपनी शब्दावली को काव्य के स्वर से भी मुखर करने की कोशिश की है। जो संगीत कोमल, मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है, उसके साफल्य की मैं ने कोशिश की है।[1]" संगीत कला से अनभिज्ञ कवि अपनी कविता में संगीत लाने के प्रयास में उसका काव्य सौंदर्य बिगाड कर देता है। इस विषय में उनका विचार ध्यान देने योग्य है - "शब्द शिल्पी संगीत शिल्पियों की नकल न करे तो बहुत अच्छा हो। कविता भावात्मक शब्दों की ध्वनि है, अतएव उसकी अर्थ व्यंजना केलिए भावपूर्वक साधारणतया पढना भी ठीक है, किसी अच्छी कविता को रागिणी में भर कर स्वर में मांजने की चेष्टाकरके उसके सौंदर्य को बिगाड देना अच्छी बात नहीं है।[2]"

निराला के अनुसार कोई भी विषय कविता केलिए निषिद्ध नहीं है। वे प्रकृति और काव्य का सहज संबंध मानते हैं। राष्ट्रीय भावना को कविता के द्वारा मुखर करना निराला के अनुसार शोभनीय है। यह विचार युग चेतना के अनुकूल है।

---

1. गीतिका, भूमिका - पृ. 6
2. रवींद्र कविता कानन- पृ. 140

काव्य शिल्प के अंतर्गत निराला ने भाषा और छंद के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है ।

काव्य-भाषा

निराला ने भावानुसारिणी भाषा के प्रयोग पर काफी बल दिया है । वे कहते हैं - "किसी भाव को जल्दी और आसानी से तभी हम व्यक्त कर सकेंगे जब भाषा पूर्ण स्वतंत्र और भावों की सच्ची अनुगामिनी होगी ।[1]" भाषा में क्लिष्टता दोष है, परंतु उच्च भावों की अभिव्यक्ति केलिए क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया जाय तो वह दोष नहीं है । वे कहते हैं - "तुलसीदास जी की विनय पत्रिका मास्टरपीस [सर्वोत्कृष्ट] होते हुए भी जनप्रिय एवं सरल इसलिए है कि भाषा क्लिष्ट होते हुए भी भावों में गंभीरता है, किंतु हम लोग सरल लिखते हैं [भाषा] जिसके कारण प्राय: स्पष्ट नहीं हो पाते ।[2]" यदि भावाभिव्यक्ति में अपनी भाषा का शब्द अनुपयुक्त ठहरे तो दूसरी भाषा के शब्दों को, अपनी भाषा के अनुकूल प्रयोग करने में निराला आपत्ति नहीं देखते । ऐसा कर्म अपनी भाषा के शब्द भंडार को समृद्ध करता है । उनका कहना है - "संसार की हरेक भाषा स्वाधीन चाल से ही चलकर और भिन्न भाषाओं से ही शब्द लेकर अपना भंडार भरती है ।[3]" भाषा में समाहार शक्ति तभी संभव होती है जब उसमें व्यापक भावों को स्थान दिया जाता है । भाषा की प्राणवत्ता उसमें भरे गये भावों पर निर्भर करती है, न कि उसके स्वयं के नवीनीकरण पर ।

काव्य में छंद

हिन्दी काव्य में मुक्तक छंद के प्रवर्तक के रूप में निराला की प्रतिष्ठा हुई है । वे मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की मुक्ति को भी आवश्यक मानते हैं कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना है ।

---

1. चयन - पृ.25
2. महाकवि निराला, संस्मरण, श्रद्धांजलियाँ, प्रस्तोता, - राजकुमार शर्मा - पृ.55
3. चयन - पृ.20

मुक्त छंद की परिभाषा देते हुए परिमल की भूमिका में निराला ने लिखा है - "मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमि में रहकर भी मुक्त है। उसमें नियम कोई नहीं है। केवल प्रवाह कवित्त छंद का सा जान पड़ता है। कहीं कहीं आठ अक्षर आप ही आप आ जाते हैं। मुक्त छंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छंद सिद्ध करता है और उसका नियम उसकी मुक्ति।[1]"

निराला कहते हैं कि मुक्त छंद के बाह्य रूप में समानता न होते हुए भी वर्ण मैत्री होती है और लय के कारण गतिशीलता से आनंद मिलता है - "मुक्तक काव्य में बाह्य समता दृष्टिगोचर हो सकती, बाहर केवल पाठ से उसके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से बुद्धि की जो अबाध धारा प्राणों के सुख प्रवाह सिक्त निर्मल किया करती है, वही उसका प्रमाण है। जो लोग उसके प्रवाह में अपनी आत्मा को निमज्जित नहीं कर सकते, उसकी विषमता की छोटी बड़ी तरंगों को देखकर ही डर जाते हैं, हृदय खोलकर उससे अपने प्राणों को मिला नहीं सकते, मेरे विचार से यह उन्हीं की दुर्बलता है[2]।" उनके अनुसार भाषा में स्वाधीन चेतना, मुक्त छंद के कारण मिलती है यह अनर्थकारी नहीं है। मुक्त छंद के कारण काव्य प्रभावोत्पादक बन जाता है। क्योंकि, उनके अनुसार, भावों की मुक्ति छंद की मुक्ति चाहती है। यहाँ भाषा, भाव और छंद तीनों स्वतंत्र है[3]।" मुक्त छंद अकृत्रिम है।

इस प्रकार निराला भाव प्रवाह की स्वाभाविकता को अक्षुण्ण रखने के लिए मुक्त छंद को आवश्यक मानते हैं। मुक्त छंद का विधायक तत्त्व उसका प्रवाह है। बाह्य रूप में समता न होते हुए भी वर्ण मैत्री और लय के कारण काव्य गति उन्मुक्त बहती है।

---

1. परिमल - भूमिका
2. प्रबंध पद्म - पृ.97
3. प्रबंध प्रतिमा -पृ.204

निराला की व्यावहारिक आलोचना

निराला की व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत काव्यवादों, कवियों, काव्य-कृतियों और स्वकृतियों संबंधित अध्ययन प्राप्त होते हैं ।

रहस्यवाद

रहस्यवाद पर उनका विचार उतना महत्वपूर्ण नहीं है फिर भी ध्यातव्य है । वे लिखते हैं - "मेरी दृष्टि में रहस्यवाद एक अच्छी कविता है, मनुष्य मात्र की उत्तम कृति के सिवाय कुछ नहीं । .... जैसे रहस्यवाद का रहस्य समझ लेने पर रहस्य कुछ नहीं रहता, केवल सत्य के रूप में वहाँ एक अच्छी कविता रहती है ।[1]" रहस्यवाद एक अच्छी कविता है जिसमें मनुष्य मन के उत्तम भावों की अभिव्यक्ति की जाती है । उसका रहस्य समझ लेने पर वह केवल एक साधारण सत्य रह जाता है ।

कवींद्र रवींद्र

"रवींद्र - कविता - कानन" निराला की प्रथम गद्य रचना है जिसका प्रकाशन 1923 ई॰ हुआ था । इसमें निराला ने अपने समकालीन कवि रवींद्रनाथ के साहित्य के विविध पक्षों पर आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है । बंगाल में ही जन्म लेने के कारण निराला बंगभाषा के मर्म से परिचित थे और रवींद्र के प्रति उनकी आस्था भी गहरी थी । यही कारण है कि उन्होंने रवींद्र की रचनाओं में शृंगार, बाल मनोविज्ञान, स्वातंत्र्य भावना, संगीत तत्व आदि के उद्घाटन का प्रयास किया है । उन्होंने अपने विवेचन को पूर्णता प्रदान करने के लिए रवींद्रनाथ की संक्षिप्त जीवनी भी दी है । रवींद्र की प्रतिभा के क्रमिक विकास तथा जीवन-दर्शन का सोदाहरण विवेचन किया गया है । इसमें निराला ने रवींद्र साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है और उनकी कविताओं के एक एक

1· प्रबंध प्रतिमा - पृ· 169

शब्द के सौंदर्य को इस प्रकार चित्रित किया है मानो वह कविता उन्हीं के द्वारा रचित हो । शब्दों के अंतर्मुक्त सौंदर्य की सूक्ष्म व्याख्या की गई है । इस संबंध में डॉ॰ रामचंद्र तिवारी का कथन उल्लेखनीय है - "रवींद्र साहित्य को मूल बंगला में पढ़कर उसका आस्वादन करनेवालों में निराला अग्रणी थे । उन्होंने रवींद्र के काव्य को पूर्णतः परखा है ।[1]" निराला रवींद्रनाथ के काव्य सौंदर्य पर मुग्ध थे । वे उन्हें संसार भर के कवियों में बेजोड़ मानते थे । उनकी प्रतिभा के संबंध में निराला लिखते हैं - "रवींद्र की प्रतिभा संसार भर के भाव सौंदर्य को चमत्कृत करती है[2] ।" निराला ने बिहारी और रवींद्र की कवि प्रतिभा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए रवींद्र को बिहारी से उच्च कोटि का कवि सिद्ध किया है ।

पंत और पल्लव

"पंत और पल्लव" निराला की प्रसिद्ध आलोचनात्मक कृति है जिसे उन्होंने आरंभ में "प्रबंध पद्म" में निबंध रूप में संकलित किया था । बाद में निराला की साहित्यिक मान्यताओं के संवाहक के रूप में इसका स्वतंत्र प्रकाशन अनिवार्य हो गया । इस लघु कृति में उन्होंने पंतजी द्वारा "पल्लव" की भूमिका में व्यक्त विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा की है और अपने मत की पुष्टि केलिए पल्लव से अनेक काव्य पंक्तियों को उद्धृत किया है । आलोच्य कृति में पल्लव से संबद्ध निम्न लिखित तत्वों पर विचार विमर्श किया गया है : पल्लव में संग्रहीत कविताओं की रवींद्रनाथ की कविताओं से तुलना, पंत की छंद-योजना और उसमें कवित्त छंद का निर्धारण,मुक्त छंद से संबद्ध पंतजी के विचारों की आलोचना, मुक्त-छंद और कवित्त छंद के पारस्परिक संबंध का रहस्योद्घाटन, खड़ीबोली एवं ब्रजभाषा की तुलना, पाश्चात्य और भारतीय कवियों का तुलनात्मक अध्ययन भारतीय दर्शन की व्याख्या, पंतजी के शब्द चयन का गुण दोष युक्त निरूपण और अंततः पंतजी के काव्य रूप का समग्र: मूल्यांकन ।

---

1. हिन्दी का गद्य साहित्य - डॉ॰ रामचंद्र तिवारी - पृ॰389
2. रवींद्र कविता कानन - पृ॰4

निराला ने कृति के आरंभ में इसकी रचना के कारण पर भी प्रकाश डाला है । पंतजी ने "पल्लव" की भूमिका में निराला के शब्द चयन और उनके द्वारा आविष्कृत मुक्त छंद की व्यंग्यपूर्ण आलोचना की थी । निराला ने उसमें व्यक्त विचारों के अनौचित्य को लक्षित कर प्रस्तुत गवेषणात्मक निबंध की रचना की । यद्यपि इसमें उनका आक्रोश यत्र तत्र व्यक्त हुआ है, तथापि इसमें संदेह नहीं है कि इसमें उन्होंने गहन चिंतन-मनन किया है । निराला ने विषय निरूपण में प्रमुखतः वैज्ञानिक शैली को अपनाया है । तुलनात्मक आलोचना पद्धति के आधार पर रवींद्रनाथ और पंत की काव्य पंक्तियों का अध्ययन करते हुए उन्होंने यह निर्णय किया है कि पल्लव की अनेक कविताएं रवींद्रनाथ की कविताओं की नकल मात्र है[1] ।" पंतजी पल्लव में कवित्त छंद को सौंदर्यहीन और परकीय मानते हुए मात्रिक छंद को श्रेष्ठ छंद की संज्ञा दी थी । निराला के अनुसार पंत द्वारा व्यंजनाश्रित कवित्त छंद की अपेक्षा स्वराश्रित मात्रिक छंद पर बल देना उनके स्त्रीत्व प्रधान स्वभाव का परिचायक है[2] । निराला ने प्रस्तुत रचना में पंत के अभिमतों से अपनी भिन्नता व्यक्त करते हुए उनकी आलोचना की है । परंतु स्थान स्थान पर उन्होंने पंतजी के काव्य सौंदर्य का मुक्तकंठ प्रशंसा की है । उन्होंने पंतजी की मौलिकता की प्रशंसा उनकी रचनाओं में निहित माधुर्य गुण के रूप में स्वीकार की है । इस दृष्टि से उन्होंने पंत काव्य का विश्लेषण भी किया है और एक भाव को भिन्न रूप में कहने की उनकी शक्ति की भरपूर सराहना की है । उन्होंने जितनी सूक्ष्मता से उनके दोषों को उभारा है, उतनी ही सूक्ष्मता से उनकी विशेषताओं का भी उ उद्घाटन किया है । पंतजी की कविता की विशेषताओं को बताते हुए निराला लिखते हैं - पंत की मौलिकता में मधुरता ही ठहरती है - पंतजी में सबसे जबरदस्त कौशल जो है, वह शैली की तरह अपने विषय को अनेक उपमाओं से संवारकर मधुर से मधुर कोमल से कोमल कर देना । भावना की प्रबल जागृति तो नहीं, परंतु सौंदर्य के मनोहर रूप जगह जगह पंक्ति पंक्ति में मिलते हैं । सफलता जैसे स्वयं उनकी उपासना से प्रसन्न हो रही है[3] ।"

1· पंत और पल्लव - पृ·10

2· वही - पृ·30

3· प्रबंध पद्म - पृ·139

निराला जी द्वारा की गई पुस्तक समीक्षाएं व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं है । ये समीक्षाएं "सुधा" और माधुरी के पुस्तक परिचय स्तंभ के अंतर्गत उपलब्ध होती थी और बाद में कुछेक का संकलन चयन में किया गया है ।

कामायनी

"कामायनी - महाकाव्य - परीक्षा" शीर्षक निबंध में निराला ने कामायनी की प्रधानतः रहस्यवाद को आधार या समरसता की है । उन्होंने मनु की उत्पत्ति और सृष्टि तत्व की व्याख्या करते हुए अंत में कामायनी की कथा का परिचयात्मक विवरण दिया है । विवेचन में उनका दृष्टि कोण मुख्यतः प्रशंसात्मक रहा है । उन्होंने केवल कृति की ही नहीं कृतिकार प्रसाद की भी भरपूर सराहना की है । निराला ने प्रसाद को साहित्य के युगांतर का श्रेय देते हुए उनकी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा की प्रशंसा की है । कामायनी की कथा की आधार भूमि पर विचार करते हुए निराला चयन में कहते हैं - "मनु के मनुष्य बनाने की यह कथा बड़े अच्छे ढंग से प्रसादजी ने वर्णन की है ।[1]" उनके विचार से कामायनी में प्रसादजी ने मनुष्य मन का अत्यंत सुंदर और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है ।

हरिऔध जी कृत बोलचाल की समीक्षा में निराला जी अधिक तटस्थ दिखाई देता है । उन्होंने उक्त कृति के गुण दोष दोनों का विवेचन किया है । हरिऔध जी की भाषा शैली पर भी निराला ने गंभीरता से विचार किया है ।

सियारामशरण गुप्त के "आत्मोत्सर्ग" पर "सुधा" में लिखी गई समीक्षा में निराला ने प्रशंसात्मक आलोचना शैली अपनायी है ।

---

1. चयन - पृ. 117

निराला की भूमिकाएं

ग्रंथ की भूमिका को उसका प्रवेश द्वार कहा जा सकता है । कृति को कृतिकार के ही दृष्टिकोण से समझने केलिए भूमिका का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है । निराला की भूमिकाएं उनके गद्य और काव्य ग्रंथों के उचित मूल्यांकन केलिए मानदण्ड का काम करती है ।

गीतिका की भूमिका

प्रस्तुत कृति में निराला के गीतों का संकलन हुआ है, जो प्रचलित गीतों से भिन्न किंचित् नवीनता लिये हुये हैं । निराला को विदित था कि साहित्य प्रेमियों को उक्त गीतों की आत्मा से परिचित कराने केलिए उन्हें अनुकूल वातावरण का निर्माण भी स्वयं करना पड़ेगा । इस उद्देश से उन्होंने भूमिका में गीत के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मुख्यत: तीन बातों पर विचार किया है -
{1} संगीत का परंपरागत विकास - वैदिक युग से आधुनिक युग तक {2} छायावाद पूर्व गीतिकाव्य का उदाहरण सहित विवेचन विश्लेषण एवं उसमें दोष निरूपण
{3} मुक्त छंद में लिखित गीतों की विशेषताएं ।

संगीत की उत्पत्ति निराला ने वेदों से मानी है । वेदों में स्वर के पूंजीभूत रूप को संगीत की संज्ञा दी गई है और उसे मुक्त एवं आनंदमय माना गया है । किंतु संस्कृत काव्य में यह भावमय संगीत छंद ताल आदि में बंध गया नष्ट हो गई और उसकी स्वतंत्रता नष्ट हो गई । निराला छायावाद पूर्व संगीत को दोषयुक्त माना है । उनके अनुसार उसमें काव्य का एकांत अभाव रहता था ।

परिमल की भूमिका

प्रस्तुत काव्य की भूमिका "गीतिका" की भूमिका से अधिक विस्तृत है । "गीतिका" में मुक्त छंद की परंपरा और उसमें व्याप्त संगीत की आदायगी पर प्रकाश डाला गया था और परिमल में मुक्त छंद के स्वरूप पर विस्तृत विचार हुआ है

स्पष्टतः दोनों में लक्ष्य बिंदु मुक्त छंद ही रहा है । "खड़ीबोली" को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने केलिए निराला ने उसकी विशेषताओं पर इस भूमिका में उल्लेखनीय कार्य किया है । इन्हें यह दूरदर्शिता थी कि अकेले खड़ीबोली ही राष्ट्रभाषा के पद ग्रहण कर सकती है, इसकी घोषणा इन्होंने की थी । मुक्त छंद की परिभाषा देते हुए उन्होंने उसका संबंध मनुष्य के वैचारिक स्वच्छंदता से जोड़ा है । इसके समर्थन में उन्होंने वेदों में मुक्त छंद की स्थिति का परिचय दिया है । मुक्त छंद और कवित्त छंद का उन्होंने संबंध माना है ।

अन्य भूमिकाओं में "अर्चना" और "अनामिका" की भूमिकाएं उल्लेखनीय है परंतु ये अत्यंत संक्षिप्त है ।

निष्कर्ष

निराला की आलोचना के विवेचन के उपरांत यह स्पष्ट होता है कि उनकी आलोचनाएं विश्लेषणात्मक अधिक है । उन्होंने प्रसाद की भांति अपने विचारों से आलोचना के दोनों पक्षों को समृद्ध किया है । उनकी आलोचनाओं में समसामयिक विवादों का गंध मिलता है । आक्षेपों के उत्तर में लिखी गई आलोचनाएं कटुता, व्यंग्य और विद्वेष से परिचालित होती है । मुक्त छंद के संबंध में उनका विचार विशेष पठनीय है । निराला मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की मुक्ति चाहते हैं, यह उनके अनुसार छंद के बंधन से अलग होने से संभव होता है । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत अनेक कवियों तथा उनकी कृतियों पर व्यंग्यपूर्ण शैली में समीक्षाएं की गई है । उनमें निराला के गहन चिंतन और मनन का आभास मिलता है । स्वकृतित्व पर लिखी गई आलोचनाएं उनके सही आस्वादन और मूल्यांकन में सहायक सिद्ध हुई है ।

सुमित्रानंदन पंत की आलोचना

पंतजी मुख्य रूप से कवि है और काव्य सृजन ही इनके जीवन का लक्ष्य रहा है । किंतु छायावादी काव्य के संबंध में उठाई गई अनेक भ्रांतियों का निराकरण तथा अपनी कविता की विशेषताओं का स्पष्टीकरण करने केलिए उन्हें आलोचनात्मक कृतियाँ लिखनी पड़ी । उनके काव्य-विवेचक विचार काव्य कृतियों की भूमिकाओं [वीणा, पल्लव, गुंजन, ग्राम्या युगवाणी, उत्तरा अतिमा, आधुनिक कवि, वाणी रश्मिबंध] में और गद्य पथ, शिल्प और दर्शन, छायावाद का पुनर्मूल्यांकन आदि निबंध संग्रहों में उपलब्ध होते हैं । छायावाद काल तक हम देखते है कि सैद्धांतिक आलोचना नायिका भेद, नखशिख आदि में जकड़ी हुई थी । व्यावहारिक आलोचना अपने प्रिय कवि के इर्दगिर्द मंडरा रही थी । इसमें एक परिवर्तन शुक्ल की आलोचनाओं से संभव दिखाई देती है । परंतु उनका दृष्टिकोण छायावाद के प्रति अनुदार और पूर्वाग्रह युक्त था । इसलिए इन कवियों को अपने काव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए स्पष्टीकरण करना आवश्यक हो गया ।

पंतजी ने अपनी काव्य भूमिकाओं में काव्य के शिल्प पक्ष अर्थात् भाषा, अलंकार, छंद आदि का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है । इनके अतिरिक्त काव्यांगों के विवेचन में भी वे उत्सुक दिखाई देते हैं । अपने विवेचन में पंतजी ने पाश्चात्य कवियों का सहारा लिया है । छायावादी कविता की प्रमुख विशेषता शिल्प की नवीनता है । इसलिए इनका विवेचन प्रमुखतः इनको केंद्रित रहा हैं । काव्य भाषा के रूप में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा केलिए पंतजी ने महत्वपूर्ण योग दिया है । "पल्लव" की भूमिका में उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली की तुलना करके, इस पद के अधिकारी कौन है, इसकी स्थापना की है । काव्यवादों के विवेचन में इनका ध्यान पर्याप्त पड़ा है । इसी तरह अपने समकालीन कवियों तथा उनकी कविताओं का अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है ।

आगे हम पंतजी की आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप का विवेचन करेंगे ।

पन्तजी की सैद्धांतिक आलोचना

काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप के संबंध में पंतजी का विचार स्पष्ट नहीं है । कविता को उन्होंने जीवन का पूर्ण रूप और अंतर्मन का संगीत कहा है - "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है.। हमारे जीवन का पूर्ण रूप हमारे अंतरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छंद ही में बहने लगता है, उसमें एक प्रकार की संपूर्णता, स्वरैक्य, तथा संयम आ जाता है[1] ।" वस्तुत: पंतजी की यह परिभाषा अपूर्ण है, फिर भी उसमें उन्होंने कुछ बातों पर ज़ोर दिया है । यहाँ परिपूर्णता से पंतजी का तात्पर्य आध्यात्मिक एकता की अनुभूति से है । जीवन के इस परिपूर्णता की अनुभूति की अभिव्यक्ति कविता में होती है । उन्होंने काव्य को सामाजिक पुनर्निर्माण का साधन माना है - "साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव जीवन की गंभीर व्याख्या है[2] ।" कवि युग चेतना को अपनी अनुभूति का अंग बनाकर उसपर अपने संस्कारों के अनुकूल गंभीर चिंतन का रंग चढाता है और पाठक को पथ प्रदर्शन करता है । वे कवि कर्म को गंभीर दायित्वपूर्ण मानते हैं - कवि या लेखक अपने युग से प्रभावित होता है, साथ ही वह अपने युग को भी प्रभावित भी करता है[3] ।" इस उद्देश की सिद्धि केलिए कवि तथ्यगत विश्लेषण का सहारा नहीं लेता, अपितु अपने विचारों को रागात्मक रसमई वाणी में प्रस्तुत करता है । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि कविता अनुभूति की परिपूर्णता की अभिव्यक्ति है और अनुभूति की परिपूर्णता का आधार आध्यात्मिक एकता है ।

1• पल्लव, प्रवेश - पृ•34
2• गद्यपथ - पृ•205
3• रश्मिबंध, भूमिका - पृ•14

पंतजी ने स्वतंत्र प्रकरण में इसका विवेचन नहीं किया है । परंतु उनकी काव्य उक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति के महत्व को अपनाते हुए उन्होंने रस को काव्य का मूल तत्व माना है । आंसू कविता में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि काव्य प्रेरणा का आदि स्रोत कवि के हृदय की गहन वेदनानुभूति रही है । और इस गहन वेदनानुभूति की अभिव्यक्ति की परिणति काव्य में रस रूप में होती है । डॉ॰सुरेशचंद्र गुप्त, पंतजी को रसवादी कवि मानते हुए कहते हैं - "रस संपन्न काव्य में बौद्धिक शुष्कता तथा कृत्रिमता के स्थान पर आनंद का विशिष्ट अंतर प्रवाह रहता है । अतः स्पष्ट है कि पंतजी मूलतः रसवादी कवि हैं और उन्होंने काव्य में रस योजना के विविध फल (माधुर्य, भावों की निरंतर गतिशीलता, आत्मिक तृप्ति) माने हैं[1] ।" पंतजी ने काव्य में अलंकार को अभिव्यक्ति सौंदर्य का अपेक्षित आंतरिक साधन के रूप में ग्रहण करते हैं । वे रीति के प्रति सतर्क रहे हैं । उनके काव्य में प्रयुक्त वैदर्भी रीति की स्वच्छता माधुर्य, सौकुमार्य आदि गुण इसका प्रमाण है । भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से पंतजी ने अपनी कविता में जो चमत्कार उत्पन्न किया है, वह उनके ध्वनि और वक्रोक्ति संबंधी मर्मज्ञता का परिचायक है । वे कहते हैं - भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं । जैसे हिलोर में उठान, लहर में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कंपन, तरंग में लहरों के समूह को एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, बढ़ो बढ़ो, कहने का शब्द मिलता है,............[2] ।"

पंत जी प्रतिभा और व्युत्पत्ति को काव्य का हेतु मानते हैं । व्युत्पत्ति से उनका तात्पर्य है अध्ययन और मनन तथा दूसरों का प्रभाव । लोक-दर्शन को भी इसमें अंतर्निहित मानते हैं । काव्य प्रेरणा में प्रकृति को वे कारण मानते हैं - कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है[3] ।" यह उनका मौलिक दर्शन है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धांत - पृ॰385
2. पल्लव - पृ॰19
3. आधुनिक कवि - 2, भूमिका - पृ॰1

पंत जी ने काव्य के बाह्य प्रयोजन की अपेक्षा उसके आंतरिक फल का अधिक प्रतिपादन किया है । उन्होंने काव्य अथवा कला को सांस्कृतिक सौंदर्य की अभिव्यक्ति का साधन मानकर कवि को विश्व जीवन से संबद्ध भावों को अभिव्यक्त करने का परामर्श किया है । उनकी कामना है - "बने विश्व जीवन की स्वरलिपि, जन मन मर्म कहानी ।[1]" वे काव्य रचना से कवि को प्राप्त आनंद और पाठक को प्राप्त आनंद को संबद्ध देखते हैं - "एक विकसित कलाकार के व्यक्तित्व में स्वांत: और बहुजन में आपस में वही संबंध रहता है जो गुण और राशि में, और एक के बिना दूसरा अधूरा है[2] ।" यह विदित है कि स्वांत सुख की परिणति बहुजन हित में होती है और जो काव्य लोक मंगल की भावना से युक्त है वह कवि के आत्मतोष का कारण बनता है ।

काव्य के तत्व

पंत जी ने काव्य में सत्यं शिवं और सुंदरम् की चर्चा की है । 'आधुनिक कवि' में वे कहते हैं - "मुझे लगता है कि सत्यं शिवं में निहित है । जिस प्रकार फूल में रूप रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति सत्य के नियमों ही द्वारा होती है उसी प्रकार सुंदरम् की परिणति शिवं में सत्य ही द्वारा होती है[3] ।" इस तत्व का और विवेचन करते हुए वे लिखते हैं - "किसी कलाकृति में मुख्यत: तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए - (1) सौंदर्य बोध (2) व्यापक गंभीर अनुभूति, (3) उपयोगी सत्य । इनका रहस्य मिश्रण ही कला वस्तु में लोकोत्तरानंददायी रस की परिपुष्टि करता है[4] ।" यहाँ सौंदर्यबोध से उनका तात्पर्य कवि की उस परिष्कृत मनोवृत्ति से है जो रूढ़िबद्ध तथ्यों के स्थान पर सूक्ष्म आंतरिक रहस्यों का उद्घाटन करती है । व्यापक अनुभूति के अंतर्गत जीवनव्यापी

---

1. युगवाणी - पृ. 2
2. गद्यपथ - पृ.143
3. आधुनिक कवि-2, पृ.6
4. गद्यपथ - पृ.201

सत्य की खोज को महत्व दिया गया है । उपयोगी सत्य से उनका अभिप्राय लोकमंगलकारी सत्य के प्रतिष्ठान से है । पंतजी ने सत्य के दो रूप माने है - वस्तुस्थिति और वास्तविकता का इच्छित आदर्श रूप । उनके अनुसार "सत्य के दोनों रूप है - शराबी शराब पीता है यह सत्य है, उसे शराब नहीं पीनी चाहिए, यह भी सत्य है । एक उसका वास्तविक [फैक्चुअल] रूप है, दूसरा परिणाम से संबंध रखनेवाला[1] ।" काव्य में वास्तविकता का इच्छित आदर्श रूप अर्थात् शिवत्व से मंडित रूप ही अधिक काम्य होता है और यह रूप भौतिक सत्यों की भांति स्थूल नहीं होता । कवि कल्पना के सत्य को वाणी देता है और यह शिवत्व से परिचालित है । पंतजी के इसे काव्यादर्श को डॉ॰ नगेन्द्र यों स्वीकार करते हैं - पंतजी सुंदर के ही कवि है - "यद्यपि उनका सुंदर शिव और सत्य से शून्य नहीं है[2] ।"

काव्य के भेद के अंतर्गत पंत जी ने गीति गद्य का विवेचन किया है । 'युगवाणी' के गीतों की विशेषता पर वे लिखते हैं - "युगवाणी को गीत गद्य इसलिए मैं ने नहीं कहा है कि उसमें काव्यात्मकता का अभाव है - प्रत्युत उसका काव्य अलंकृत, अनलंकृत तथा विचार भावना प्रधान है[3] ।" गीति गद्य विचार प्रधान है और उसमें यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति होती है ।

पंत जी प्रकृति प्रेमी कवि है । इसे उन्होंने स्वीकार किया है । उनकी रचनाओं प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन मिलता है । वे विश्वमानवता और लोक मंगल की भावना से प्रेरित काव्य में भौतिक एवं आध्यात्मिक विषयों का प्रतिपादन आवश्यक मानते हैं ।

---

1. आधुनिक कवि - पृ॰6
2. सुमित्रानंदन पंत - नगेंद्र - पृ॰19
3. युगवाणी - पृ॰1

काव्य-भाषा

पंतजी के "पल्लव" का प्रवेश छायावादी काव्य भाषा का घोषणा-पत्र माना गया है। काव्य में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली की स्थापना केलिए इसमें अनेक तर्क उपस्थित किये गये हैं। भाषा की यह नवीन व्याख्या मनोवैज्ञानिक तथा छायावादी काव्य के अनुकूल की गई है। पंत जी भाषा को मनुष्य की मानसिक दशा की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम मानते हैं। उनके अनुसार भाषा एक गतिशील माध्यम है और उसमें युग के अनुकूल अभिव्यक्ति का आवश्यक परिवर्तन माना चाहिए। भाषा की शक्ति उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता है, न कि उसका उन्नत अलंकृत एवं प्रतिष्ठित होना। पंत जी कहते हैं - "भाषा विश्व का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। वह समूचे विश्व की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। काव्यगत माधुर्य भाषा का स्वभाव नहीं है, उसकी साधना है। परंतु यह काव्य माधुर्य भी जीवित होना चाहिए, जीवित वह तभी होगा, जब उसमें युग का स्पंदन हो[1]।

पंत जी राग संपन्नता को भाषा का मूल गुण मानते हैं - "भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। ..... राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खींचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है[2]।" राग से कवि का अभिप्रेत शब्दों में मधुर प्रवाह अथवा संगीत गुण की योजना से है। यह दृष्टिकोण उनकी कोमल काव्य-प्रकृति का सहज परिणाम है। ि भाषा एवं भाव में एकता अनिवार्य है।

काव्य भाषा में चित्रात्मकता को पंतजी अनिवार्य मानते हुए कहते हैं - "कविता केलिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए

1. पल्लव - पृ.26
2. वही - पृ.15

जो बोलते हो, सेब की तरह जिसके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो[1]।" काव्य भाषा में व्यंजना और लक्षणा शक्ति पर उन्होंने बल दिया है। उनका कहना है कि पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से भिन्न अर्थ का सूचित कर सकता है, जैसे "भ्रू" में क्रोध और "भ्रुकुटि" में कटाक्ष की चंचलता। वे कहते हैं - "पर्याय वास्तव में भाषा की व्यंजना शक्ति का अत्यंत समर्थ उपकरण है[2]।" हिन्दी के लिंग निर्णय पर उन्होंने पर्याप्त सुझाव दी है। देखिए - "जिस वाक्य में कोमलता, लघुता आदि स्त्रीयोचित गुण है उसमें स्त्रीलिंग और परुषता आकार आदि पुरुषोचित गुणों को पुल्लिंग मानना चाहिए। लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य अनिवार्य है। अन्यथा शब्दों का ठीक ठीक चित्रण सामने नहीं आता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित हो जाती है[3]।" यह उद्भावना नई तो अवश्य है परंतु भावपरक अधिक है। इस प्रसंग में नगेंद्र जी का कथन ध्यान देने योग्य है -"इसका सार्वभौम प्रयोग नहीं हो सकता। एक तो यह धारणा अत्यंत भावपरक है क्योंकि स्त्रीत्व और पुरुषत्व का आरोप मूलतः भावना का विषय है, दूसरे लोक व्यवहार की सत्ता का उल्लंघन भी सरल नहीं है[4]।"

काव्य में छंद

पंत जी ने छंद के स्वरूप का विस्तार से विवेचन किया है। उनके अनुसार छंद कविता का स्वाभाविक अंग है - कविता तथा छंद के बीच घनिष्ठ संबंध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना[5]।" छंद के कारण राग में स्पंदन तथा प्रवाह मिल जाते हैं और

---

1. पल्लव - पृ.17
2. वही - पृ.25
3. वही - पृ.12
4. विचार विश्लेषण - नगेंद्र - पृ.93
5. पल्लव - पृ.33

शब्दों में कोमलता और सजीवता भर जाती है । अलंकार और छंद के स्वाभाविक सामंजस्य से भावाभिव्यक्ति में विशेष सहायता मिलती है । उनके अनुसार हरेक छंद के प्रयोग में प्रत्येक कवि कुशल है ।

पंतजी के विचार में छंद का भाषा के उच्चारण और उसके संगीत से घनिष्ठ संबंध है, इसलिए वर्ण वृत्तों का प्रयोग हिन्दी भाषा की कोमल प्रकृति के अनुकूल नहीं है । उनकी राय में हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंदों में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है । उन्हीं के द्वारा उसमें सौंदर्य की रक्षा की जा सकती है[1] । पंतजी की यह स्थापना एकांगी है । भाषा में व्यंजनों का महत्वपूर्ण स्थान है । जैसे कोमल मधुर भावों की अभिव्यक्ति के लिए मात्रिक छंद उपयोगी है वैसे विराट एवं उग्र रूपों के चित्रण में वर्णिक छंदों का अपना विशेष योगदान है । कवित्त और सवैया जैसे मात्रिक छंदों का विस्तृत प्रतिपादन करके यह स्थापित करने की कोशिश की गई है कि यह हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं है, औरसजात नहीं, पोष्यपुत्र है । उनके मत में कवित्त छंद हिन्दी के स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है । उसमें लघु गुरु वर्णों का निश्चित नियम न होने के कारण संगीत के प्रवाह में रोक हो जाता है । सवैया एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक-स्वरता [मोनोटनी] आ जाती है । इस अभाव की पूर्ति करने केलिए कवि को अलंकारों का आश्रय करना पड़ता है । पंतजी की इन स्थापनाओं का समुचित खण्डन करते हुए निराला जी ने बताया कि उनके स्वभाव का स्त्रीत्व कवित्व जैसे पुरुषत्व प्रधान छंद को समझने में बाधक हुआ है[2] ।

मुक्त छंद के संबंध में पंत ने विचार किया है । उनके अनुसार यह स्वच्छन्द छंद ध्वनि अथवा लय [रिदम] पर चलता है इस मुक्त छंद की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है ।

---

1. पल्लव - पृ.22,23
2. देखिए पंत और पल्लव

मुक्त काव्य आंतरिक ऐक्य भाव जगत के साम्य को ढूंढता है ।
हिन्दी में मुक्त काव्य भी ह्रस्व दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है ।[1]"

अलंकार के संबंध में पंत जी का मत बहुत संक्षिप्त है । वे अलंकार को काव्य में भावाभिव्यक्ति का विशेष सहायक मानते हैं । उनका कहना है - "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है ।[2]" अलंकारों के विशेष प्रयोग से काव्य श्रेष्ठ नहीं हो सकता, वह भावों के महत्व पर निर्भर करता है, यही उनका समन्वयात्मक दृष्टिकोण है ।

पन्त जी की व्यावहारिक आलोचना

इस प्रकरण के अंतर्गत हम पंतजी के द्वारा, काव्यवादों, कवियों और पुस्तकों के बारे में की गई आलोचना का विवेचन करेंगे ।

छायावाद

पंतजी छायावाद के निर्माता कवि हैं और साथ ही आलोचक भी । इसलिए पंतजी की आलोचना छायावाद के आंतरिक स्पर्श से पुलकित ज़रूर होगी और उसे समझने में अधिक सहायक होगी । उनके अनुसार छायावादी काव्य एक सर्जनात्मक प्रवृत्ति है जो एक विशेष दर्शन और शिल्प से संबद्ध है ।

पंत जी छायावाद का प्रारंभ 19 वीं शती के उत्तरार्द्ध से मानते हैं, परंतु विकास चेतना के अभाव के कारण यह धारा जीवन का मूर्त रूप प्रस्तुत न कर सकी ।

---

1. पल्लव - पृ.32,33
2. वही - पृ.32

छायावाद नाम के संबंध में वे कहते हैं - "छायावाद का जन्म, उन विद्व चक्षुओं की उपेक्षा, अल्पताबोधक भाव और अभिमान को ठेस लगने की प्रतिक्रिया के फलने ही में प्रारंभ हुआ।[1]" समकालीन आलोचकों की धारणाओं के विरुद्ध पंतजी का आक्रोश इन पंक्तियों में स्पष्ट होता है। छायावाद पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने इस काव्य के शिल्प और वस्तु को अंग्रेज़ी के रोमेंटिसिज्म और बंगला की छाया कहने का सख्त विरोध किया है। यह निर्विवाद तत्व है कि छायावाद नाम इस काव्यधारा को विवशता में स्वीकार करना पड़ा। किंतु बाद में यह काव्य प्रवृत्ति साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गई तो इस का महत्व स्वीकृत हुआ। इस संबंध में वे कहते हैं कि यह कुछ ऐसा था कि किसी व्यक्ति को तिरस्कार के पहले बुद्धु कहकर, पीछे उसमें व्यक्तित्व की झलक पाकर बुद्धु को बुद्ध का तत्सम मान लिया जाय।[2]"

पंतजी छायावादी काव्य को भारतीय जागरण की चेतना का काव्य मानते हुए लिखते हैं - छायावादी काव्य वास्तव में राष्ट्रीय जागरण की चेतना का काव्य रहा है। उसकी एक धारा राष्ट्रीय जागरण से संबद्ध रही है। ...... दूसरी धारा का संबंध उस मानसिक, दार्शनिक जागरण की प्रक्रिया से रहा है, जिसका समारंभ औपनिषदिक विचारों तथा पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के प्रभावों के कारण हुआ।[3]" आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी द्वारा छायावाद पर की गई आलोचना के बारे में पंतजी कहते हैं - शुक्लजी छायावाद का विकास सहज, स्वाभाविक हिन्दी काव्य वस्तु और दर्शन की परंपरा में मानते हैं। शैली तथा सौंदर्यबोध पर बंगला और टागोर तथा अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों का प्रभाव मानते हैं। इनके अनुसार द्विवेदी युगीन काव्य की नीरसता, इति-वृत्तात्मकता, छायावादी काव्य की स्निग्धता, भावात्मकता, शाब्दिक भंगिमा और

---

1. छायावाद पुनर्मूल्यांकन - पृ.21
2. वही - पृ.12
3. रश्मिबंध - पृ14

अभिव्यक्ति के सौंदर्य के लिए छटपटाने लगी । प्राचीन रूढ़ियों तथा सामाजिक और नैतिक मूल्यों से पलायन कर क्रांति के साथ नवीन चेतना और नये काव्य सौंदर्य से नवजीवन के मूल्यों को आंकने के लिए कवि प्रयत्नशील हुए ।

छायावाद की डॉ॰ नगेंद्र की व्याख्या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, इसे एकांगी बताते हुए सूक्ष्म का संस्कार या रूपांतर कर नए मूल्यों की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न मानते हैं । उनके अनुसार "छायावादी काव्य अपने में नया आलोक लिए हुए था जिसने नवीन सौंदर्य के मूल्य और नवीन भावों की उद्‌भावनाएं की है । यह नए रूप विधान, शैली का कला वैभव और अभिव्यक्ति का सौंदर्य लिए हुए था[1] ।" छायावादी कवि अपनी कला बोध से हिन्दी काव्य को नवीन सौंदर्य में प्रस्तुत किया । इनकी कल्पनाशक्ति सजग और प्रखर थी । पंतजी छायावादी काव्य को व्यक्ति निष्ठ न होकर मूल्यनिष्ठ मानते हैं - "छायावाद की व्यक्तिनिष्ठ शैली में जो आत्मीयता अथवा निजता का स्पर्श था उसने परिस्थितियों की कारा में बंद उस युग के मन पर अनायास ही नई भाव वस्तु को जीवन चेतन सौंदर्य में उतार दिया । ······ इसलिए छायावाद वास्तव में व्यक्तिनिष्ठ न होकर मूल्यनिष्ठ या मूल्य केंद्रित काव्य रहा है[2] ।"

पंत जी छायावादी काव्य को अतृप्त वासना या दमित और कुंठित कामवासनाओं की अभिव्यक्ति मानने को तैयार नहीं है । उनके मत में इस काव्य में बौद्धिकता भावात्मकता और यथार्थ की व्यापकता का समावेश भी मिलता है । किंतु इस विशेषता को वह पूर्ण रूप से निभा नहीं सका । उनका कहना है = "उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का वैभव तो था पर महायुद्ध के बाद की अन्न वस्तु की धारणा [वास्तविकता] नहीं आई थी । और इसलिए एक ओर वह निगूढ़ रहस्यात्मक, भाव प्रधान और वैयक्तिक हो गया[3] ।"

1· छायावाद पुनर्मूल्यांकन - पृ·31

2· आधुनिक कवि-1 - पृ·12

3· छायावाद पुनर्मूल्यांकन - पृ·16

कई एक आलोचक छायावाद को पलायन प्रवृत्ति का कारण मानते हैं। इसका खंडन करते हुए पंत जी कहते हैं कि "छायावादी पलायन वर्तमान की संकीर्ण विघटित होती हुई ह्रासोन्मुखी वास्तविकता से एक नवीन उच्च वास्तविकता की खोज केलिए पलायन था - यदि उसे पलायन कहना आवश्यक ही है तो। इसलिए उसमें नए यथार्थ नयी काव्य वस्तु की झलक के साथ पिछली रूढि रीतियों के ढाँचे में बँधी सामाजिकता के प्रति छोट विद्रोह की भावना तथा क्रांति का शंखनाद मिलता है[1]।"

छायावाद के मूर्धन्य कवि होने के नाते उसकी विशेषताओं का उद्‌घाटन करना पंत जी का परम कर्तव्य था। किंतु जब उसमें पतनोन्मुखी प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगी उसका भी दिग्दर्शन पंत ने किया। छायावाद के पतन के संबंध में वे लिखते हैं - "छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाश नवीन भावना का सौंदर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था[2]।" "वह कुछ जीवन की कठोर वास्तविकता से कटकर कुछ दार्शनिक एवं मानसिक विरोधों में सामंजस्य स्थापित कर संतुष्ट रहने की चेष्टा करने लगा[3]।" पंतजी द्वारा प्रतिपादित ये कारण वास्तव में छायावाद के पतन का कारण रहे हैं। और यह दृष्टिकोण पंतजी के प्रगतिवादी विचारों का कारण है। कहने का तात्पर्य है कि छायावाद एक नए सौंदर्यबोध और भावबोध को लेकर अवतरित हुआ, किंतु बाद के कवियों को उसे निभाने में असफलता ही प्राप्त हुई।

प्रगतिवाद

पंत जी प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता को अभिव्यक्ति की समानता से अनुप्राणित मानते हैं। उनके अनुसार प्रगतिवादी कवियों में सामाजिक चेतना प्रखर और ठोस होते हुए भी काव्य तत्वों का अभाव दिखाई देता है। कभी कभी ये प्रचार मात्र रह जाते हैं। छायावाद जिस सौंदर्य को नए आदर्शों में प्रतिष्ठित करना चाहता था प्रगतिवाद ने उसे नए यथार्थ की वास्तविकता में प्रस्तुत किया।

1. छायावाद पुनर्मूल्यांकन - पृ.16
2. आधुनिक कवि - पृ.11
3. गद्यपथ - पृ.154

पंतजी प्रगतिवाद को सामूहिक जीवन यथार्थ की शक्ति से प्रेरित मानते हैं तथा उपयोगितावाद का दूसरा रूप मानते हुए लिखते हैं - 'प्रगतिवाद उपयोगितावाद ही का दूसरा नाम है । वैसे सभी युगों का लक्ष्य सदैव प्रगति की ओर रहना, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन समाज की सामूहिक प्रगति के सिद्धांतों का पक्षपाती है ।'[1]

रहस्यवाद

पंत जी ने रहस्यवाद का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है । जहाँ छायावाद को रहस्यवाद का अर्थात मध्य कालीन संतों के रहस्यवाद से मिलाने की कोशिश की गई वहाँ एक स्वतंत्र चेता कवि के नाते उस पर अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण व्यक्त किया है । पंत जी जहाँ मध्ययुग के रहस्यवाद को निवृत्तिमूलक और लोक निष्क्रिय मानते हैं वहाँ छायावाद द्वारा यह भी मानते हैं कि जीवन सक्रिय और प्रवृत्तिमूलक है । मानव मन के राग तत्व की ओर संतों ने उपेक्षा भरी दृष्टि डाली थी । छायावादी कवियों ने उसे सौंदर्य भरी दृष्टि से देखा । इन कवियों ने आत्ममुक्ति की अपेक्षा लोकमुक्ति पर बल दिया ।

समकालीन कवियों की आलोचना

पंतजी ने समय समय पर अपने समय के साहित्य को प्रभावित करनेवाले कवियों तथा अपने समकालीन कवियों के काव्य संबंधी विचारों और उनकी रचनाओं पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं ।

कवींद्र रवीन्द्र

पंतजी कवींद्र रवींद्रनाथ से बहुत अधिक प्रभावित है । 'शिल्प और दर्शन' तथा 'युग पथ' में उन्होंने रवींद्र की कविताओं का आकलन किया है ।

---

1. आधुनिक कवि - 2 - सुमित्रानंदन पंत - पृ.34

पंत जी उन्हें भारतीय जागरण का कवि मानते हैं । शिल्प और दर्शन में वे कहते हैं - "जागरण का संचरण और रूप कला आदि लाता है, रवीन्द्र साहित्य इसका प्रतिनिधित्व करता है।[1]" रवीन्द्र के काव्य में वे जीवन का सौंदर्य और मंगल तत्वों का समन्वय देखते हैं । उनकी मान्यता है कि रवीन्द्र अपने ही में एक संपूर्ण विश्व है - एक ऐसे अंतर्विश्व जो इस बाह्य विश्व से कहीं पूर्णतर, सुंदरतर तथा मंगलमय है[2]।" उनका काव्य एक साथ विश्व जीवन, विश्व मानवता, और विश्व बंधुत्व को प्रतिबिंबित करता है । उनके काव्य में पूर्व और पश्चिम का संयोग हुआ है । भारतीय आध्यात्मिक चेतना को युगानुकूल सौंदर्य प्रदान किया गया है । रवीन्द्र जी ने नवीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण से जीवन का व्यापक समन्वय किया अपने काव्य में । और भारतीय साहित्य को नई दिशाएं दिखा दी । "युग पथ" में पंत जी ने रवीन्द्र को युग द्रष्टा नाम से अभिहित किया है[3]।"

जयशंकर प्रसाद

"छायावाद पुनर्मूल्यांकन" नामक ग्रंथ में छायावाद के विकास और उसकी विशेषताओं का, पंत ने विवेचन किया है । छायावादी काव्य के विकास में उन्होंने प्रसाद, निराला और महादेवी के योगदान का सम्यक रूप में प्रतिपादन किया है । छायावाद के प्रवर्तक कवि अपने सहयोगी प्रसाद जी को पंत जी नवयुग का प्रवर्तक मानते हैं । उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत मानते हैं । उन्होंने भारत के गौरवपूर्ण अतीत के सांस्कृतिक वैभव और दर्शन से श्रीरोदात्त भाव भरे हैं । उन्होंने प्राचीन सांस्कृतिक स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर उत्कृष्ट काव्य सर्जना की है । वे भारतीय दार्शनिक चेतना, बौद्ध युग की करुणा तथा शैवागम के सामरस्य के स्पर्श से काव्य को अत्यंत सुंदर कोटि का बना सके हैं । प्रसाद की कृतियों की विवेचना करते हुए उन्होंने झरना को नये युग के सौंदर्य बोध से अनुप्राणित माना है ।

---

1. शिल्प और दर्शन - पंत - पृ.346
2. वही - पृ.351
3. देखिए युग पथ - पंत - पृ.116

पंत के अनुसार "चित्राधार" से लेकर "लहर" तक प्रसाद की सृजन प्रेरणा विकसित होती हुई "कामायनी" के शिखर तक पहुंच जाती है । कामायनी की चर्चा करते हुए पंत ने लिखा है - "यह भारतीय पुनर्जागरण का महाकाव्य है, इसमें भारत की अतीत साधना के नवनीत शैवागम दर्शन के आनंद चेतन का ही प्रसून नहीं, आधुनिक युग के मनोवैज्ञानिक, विकासवाद तथा भौतिक राजनैतिक संघर्ष की अस्पष्ट प्रतिध्वनियाँ भी मिलती हैं[1] ।" पंत के अनुसार इसमें प्रसाद की प्रतिभा, भाव बोध का वैचित्र्य तथा शिल्प और कला का निखार भी है । कला बोध और शिल्प सौंदर्य की दृष्टि से यह अद्वितीय काव्य है ।

निराला

पंत जी के अनुसार निराला के कृतित्व पर उनके व्यक्तित्व का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है - "निराला का आविर्भाव नयी काव्य चेतना के आकाश में एक तेजोमय धूमकेतु के समान हुआ, एक प्रखर धूमकेतु, जिसका सिर अंतर दृष्टि की मणि के आलोक से देदीप्यमान रहा और जिसके पीछे अपने ही व्याप्ति में खोई ज्योति बाष्पों की एक लंबी धूमिल पूंछ भी लिपटी रही, जिसमें उनके उपचेतन व्यक्तित्व की वे सभी महत्वाकांक्षाएं, प्रवृत्तियाँ, लिप्साएं - अहंमन्यता, स्पर्धा, पृथकता तथा निर्मम जीवन परिस्थितियों के कटु कष्टपूर्ण संघर्षों की परछाइयाँ एक अस्पष्ट अचैत्य, समझ में न आनेवाले रहस्यमय इंद्रजाल में बंधी प्रतिच्छायित रही[2] ।"

निराला कविता के क्षेत्र में पूरे प्रवेग से आये । उनकी पहली रचना जुही की कली अपनी नई अभिव्यंजना और शिल्प कौशल में महत्वपूर्ण रही । उनकी स्वच्छंद और मुक्त छंद में लिखी गई कविताओं पर पंतजी गीता और रवींद्र के असर मात्रिक छंद और शब्द चयन का प्रभाव देखते हैं । "परिमल" को बौद्धिक तेज में मंद और कृत्रिम भावना कृति मानते हैं । "गीतिका" के गीतों को हिन्दी की अमूल्य सम्पत्ति समझते हैं । "तुलसीदास" में उन्होंने युग और जीवन संघर्ष को वाणी दी है । "राम की शक्ति पूजा" को पंत ने कला और संकल्प का द्योतक बताया है ।

---

1. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन - पृ.60
2. वही - पृ.60

"सरोज स्मृति" में अभिष्ट आत्मीयता झलकती है । निराला के मुक्त छंद की प्रशंसा में पंतजी ने युग वाणी में कविता भी लिखी है । इस प्रकार पंत जी ने निराला को छायावाद युग के पौरुष प्रकाश का स्तंभ मानते हुए उनके कृतित्व को साहित्य की अद्वितीय देन के रूप में मान्यता दी है ।

महादेवी वर्मा

पंतजी के अनुसार महादेवी की काव्य दृष्टि विरह वेदना से स्पंदित मोक्ष मीनोन्मुखी और समाजोन्मुखी है । उनके काव्य में अन्तरमुखी भाव साधना प्राणों की संवेदना बनती है । पंत के अनुसार - "जिस निराकार दृष्टि को निराला ने बुद्धि से ग्रहण कर अपने काव्य पट में अवतरित किया उसी को महादेवी जी ने भावना द्रवित हृदय की झंकार द्वारा कला वैभव मंडित तथा प्रतीक बिम्बित किया, उनकी अभिव्यक्ति प्रतीकों बिंबों के सौंदर्य गुंठन से अत्यक्ष कटाक्ष करती है[1] ।" पंत जी के अनुसार महादेवी ने प्रेम की अंतर्मुखी अभिव्यक्ति की है । उनके काव्य में वेदना के चिरस्थाई, चिरव्यापि और चिरस्मृतणीय रूप विद्यमान है । पंत जी कहते है - "महादेवी जी ही छायावादियों में एक मात्र वह चिरंतन भावकोमना कवयित्रि है जिन्होंने नये युग के परिप्रेक्ष्य में राग तत्व के गूढ संवेदन तथा राग मूल्य की अधिक मर्मस्पर्शी गंभीर, अंतर्मुखी नव संवेदनात्मक अभिव्यक्ति दी है[2] ।"

महादेवी के काव्य में छायावादी अभिव्यंजना, तथा भाववस्तु का पूर्ण रूप दिखाई देता है । इनके प्रतीक, बिंब विधान, लाक्षणिक संकेत तथा प्रकृति चित्रण के अनेक आयामों से तादात्म्य स्थापित कर या उन्हें काव्य का उपकरण बनाकर सुंदर और मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना दी है । इनकी दृष्टि भाव वस्तु के अनुकूल अंतर्मुखी और वैयक्तिक है । इस प्रकार पंतजी महादेवी के काव्य में भावसंवेदना का प्राधान्य मानते हैं ।

1· छायावाद का पुनर्मूल्यांकन - पृ·115

2· वही - पृ·85

पंत जी ने उत्तर छायावादी कवियों में बच्चन, दिनकर और नरेंद्र शर्मा के व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में अपना विचार व्यक्त किया है ।

बच्चन को पंतजी व्यक्तिनिष्ठ और ऐकांतिकता का कवि मानते हैं । वे छायावाद का पुनर्मूल्यांकन में कहते हैं - "उनके भाव मांसल गीतों के अतिरिक्त उनका मुख्य दीर्घ मात्रिक मुक्त छंद का बौद्धिक काव्य भी मुख्यतः व्यक्तिवादी ही है । यद्यपि कहीं कहीं वह सामाजिक चेतना के अंतर्गत जीवन के वैषम्य को भी चित्रित सशक्त वाणी देने का प्रयत्न करता है ।[1]" उनकी भावानुरूप शैली में हिन्दी उर्दू परंपरागत भाषा के मुहावरों का प्रयोग होते हुए भी पंत उनमें छायावादी सौंदर्य बोध मानते हैं । उनके अनुसार अपने विश्वव्यापी दृष्टिकोण के कारण छायावादी कवि जिस प्रकृति के जीव व्यक्ति को भूल गया था बच्चन के काव्य में उसके सुख दुख का प्रामाणिक वेदना की वाणी मिलती है और हृदय के कोने में व्यक्तिगत स्वच्छंद भाव मुक्ति की प्रतिमा की स्थापना की गई है ।

दिनकर

दिनकर को पंतजी सामाजिक चेतना का कवि मानते हैं - "उनकी ओजस्वी हुंकार में प्रभावोत्पादकता तथा गहराई से अधिक उनके उन्मुक्त व्यक्तित्व की ही छाप मिलती है ।[2]" उनकी अभिव्यंजना में छायावादी सौंदर्य चेतना के साथ साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रबल वेग भी स्पष्ट दिखाई देता है ।

नरेन्द्र शर्मा

नरेंद्र शर्मा की काव्य चेतना को पंतजी छायावाद और प्रगतिवाद की मध्यवर्तिनी मानते हैं । उनके काव्य में दोनों युगों की विशेषता दिखाई देती है ।

---

1. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन - पृ.85
2. वही

पंत जी के अनुसार - "वैयक्तिक और सामाजिक तत्वों के युगीन वैषम्यों में वह एक उच्च यथार्थोन्मुख आदर्शवादी धरातल पर संतुलन स्थापित करने की चेष्टा करते हैं।"[1]

पंतजी अंचल - भगवती चरण वर्मा, सुमन, शमशेर, केदारनाथ, गिरिजा कुमार माथुर, नागार्जुन, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद तथा त्रिलोचन आदि को भी इस युग के प्रमुख कवि मानते हैं।

प्रयोगवादी कवियों में अज्ञेय, नरेश, भारती जगदीश गुप्त, कुंवर नारायण, सर्वेश्वर, कीर्ति चौधरी आदि कवियों का विचार करते हुए पंतजी उनकी रचनाओं में भावबोध और कला दृष्टि दोनों का स्पर्श मानते हैं।

पंत जी के निबंध संग्रह हैं - "गद्य पथ", "शिल्प और दर्शन" तथा "छायावाद का पुनर्मूल्यांकन"। इन संग्रहों में पंतजी का आलोचनात्मक मान्यताएं तथा किसी कवियों और उनकी कविताओं का मूल्यांकन मिलता है। गद्य पथ में गद्य साहित्य के विकास की रूप रेखा मिलती है। "शिल्प और दर्शन" में, रवींद्र की "गीतांजली" तथा प्रसाद की कामायनी की समीक्षा के अतिरिक्त दार्शनिक प्रतिभाओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। "छायावाद का पुनर्मूल्यांकन" कवि की छायावादी उपपत्तियों का ग्रंथ है। इसमें उन्होंने छायावाद के प्रति, किये गये आरोपों का खण्डन किया है। छायावाद के विकास में प्रसाद, निराला और महादेवी के योगदान का विवेचन भी इसमें किया गया है।

पंत जी की काव्य भूमिकाओं में "पल्लव" का प्रवेश विशेष उल्लेखनीय है। छायावादी काव्य भाषा का भाषागत अध्ययन इसकी विशेषता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक कवि, वीणा, गुंजन, युगांत, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि,

---

1. छायावाद का पुनर्मूल्यांकन - पृ.116

उत्तरा आदि की भूमिकाएं उनके काव्य विचारों का परिचय देती हैं। इन भूमिकाओं के द्वारा उनके काव्य के बहिरंग और अंतरंग के सही मर्म जानने में अधिक सहायता मिली है।

निष्कर्ष

पंत जी की आलोचना के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वे रसवादी आलोचक हैं। छायावाद के प्रति किये गये आरोपों के प्रत्युत्तर में उनकी आलोचना शक्ति उभर आयी है। "पल्लव" के प्रवेश में उन्होंने पहली बार छायावादी काव्य-भाषा की सही पहचान की। ब्रजभाषा [illegible] की तुलना में खड़ीबोली को हिन्दी के प्रकृति के अनुकूल सिद्ध किया गया। भाषा के अंतर्गत स्वर ध्वनि और संगीत ध्वनि की प्रभावात्मकता की उद्घोषणा की गई। व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत छायावाद का पुनर्मूल्यांकन उनकी चिंतन शक्ति और विद्वता का परिचय देता है। कवियों और कृतियों पर उन्होंने गंभीरता से अध्ययन किया है। व्यक्तित्व पर उन्होंने सर्वाधिक लिखा है।

महादेवी वर्मा की आलोचना

छायावादी कवियों में सर्जक और आलोचक के रूप में महादेवी का अतुलनीय स्थान है। उन्होंने काव्य रचना और काव्य चिंतन में समान रूप से भाग लिया है। उनके समीक्षा क्षेत्र में पदार्पण करने के बारे में गंगा प्रसाद पाण्डेय का निम्न कथन उल्लेखनीय है। "छायावाद युग ने नये काव्य की सृष्टि के साथ एक नये काव्य चिंतन की, नये काव्य शास्त्र की, नये काव्यालोचन की भी नींव रखी तो यह स्वाभाविक था। समालोचना की इस प्राणवंत प्रणाली में, अनुभव से परिपुष्ट इस चिंतन में पाठकों को शिक्षित करने के साथ एक नये काव्य सिद्धांत की स्थापना का भी उद्देश रहा है तो आश्चर्य की बात नहीं। जीर्ण शीर्ण परंपरा से आबद्ध ह्रासोन्मुख युग में कवि जब पाठकों की रसज्ञता के प्रति आश्वस्त नहीं रहता तब उसकेलिए काव्य के स्पष्टीकरण की विवशता अनिवार्य हो उठती है। सृजन के विभिन्न और विविध तत्वों से परिचित होने के नाते उसकी मान्यताओं का बोधगम्य और विश्वसनीय होना भी सहज होता है। स्वयं कवि के मार्मिक स्पंदनों से मुखरित होने के कारण उसकी विवेचना अपनी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता में अमोघ रहती है।"[1]

महादेवी जी ने अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण स्पष्ट करने केलिए जो भूमिकाएँ और विज्ञप्तियाँ लिखी हैं, वे मात्र छायावाद की भूमिकाएँ हैं। क्योंकि ये भूमिकाएँ छायावाद के परिप्रेक्ष्य में लिखी गई हैं। उनकी आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता निष्पक्षता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर परखने की क्षमता है। महादेवी की आलोचना की मुख्य कसौटी अनुभूति, विचार और कल्पना से समन्वित उनका जीवन दर्शन है, जो समीक्षा की प्रगति केलिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। महादेवी ने स्वतंत्र प्रकरण में काव्यशास्त्र का विवेचन नहीं किया है।

---

1. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध - महादेवी वर्मा - पृ.9

उनकी काव्य मान्यताएं विशेषतः 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, आधुनिक कवि - साहित्यकार व आस्था तथा अन्य निबंध, क्षणदा, पथ के साथी आदि ग्रंथों में बिखरी पड़ी है । इसके अलावा उनकी काव्य भूमिकाएं इस का समृद्ध भण्डार है । आगे हम महादेवी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना पर विचार करेंगे ।

महादेवी की सैद्धांतिक आलोचना

काव्य का स्वरूप

महादेवी ने स्वतंत्र रूप में काव्य का निरूपण नहीं किया है किंतु कवि कर्म की व्याख्या के अंतर्गत उन्होंने इस पर प्रकाश डाला है । वे कवि को हृदय तत्व और बुद्धि तत्व के समन्वय से कविता करने का उपदेश देती हैं - "भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तभी युगप्रवर्तक साहित्यकार प्राप्त होती है।[1]" उन्होंने प्रसादजी की भांति अनुभूति को काव्य रचना में प्रमुख माना है । कवि अपनी भावनाओं को अनुभव एवं कल्पना से परिचालित करके हृदय संवेद्य बना सकता है । लोक दर्शन भी अनिवार्य है । उनका कहना है - "उस के लिए [कवि] लोक समष्टि ही इष्ट है, पर लोक के दान को निरीह भाव से अंगीकार कर लेना उसे अभीष्ट नहीं होता । वह लोक का निर्माण भी अपनी कल्पना के अनुरूप चाहता है[2]।"

कवि अपनी अनुभूति को ज्यों का त्यों अभिव्यक्त नहीं करता उसे कल्पना और चिंतन से अधिक सुंदर और मधुर रूप में प्रस्तुत करता है -"कविता सबसे बड़ा परिग्रह है क्योंकि वह विश्वमात्र के प्रति स्नेह की स्वीकृति है । वह जीवन के अनेक कष्टों को उपेक्षा योग्य बना देती है । क्योंकि उसका सृजन स्वयं महत्ती वेदना है । वह शुष्क सत्य को आनंद में स्पंदित कर देती है, क्योंकि अनुभूति स्वयं मधुर है[3]।" महादेवी काव्य में वेदना और अनुभूति के साथ कल्पना का

---

1. पथ के साथी - महादेवी वर्मा - पृ. 8
2. वही - पृ.25
3. वही - पृ.95-96

योग मानती है । इसलिए वह व्यक्ति सीमित जीवन से समष्टि व्यापक तक फैलाने केलिए ही व्यापक सत्य [वेदना] को अपनी परिधि में बांधती है । इस प्रकार वे व्यक्ति चेतना के विस्तार को ही कविता का स्वरूप मानती है ।

काव्य-हेतु

महादेवी जी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य प्रेरणा मानती है । व्युत्पत्ति के अंतर्गत लोक-दर्शन का होना अनिवार्य समझती है । केवल अभ्यास से काव्य सृजन संभव नहीं है । वह कलाभास मात्र रह जायेगा ।

काव्य प्रयोजन

काव्य प्रयोजन में महादेवी ने कवि के आनंद का प्रतिपादन किया है । वह स्वांतः सुख को आ त्म परिष्कार का पर्याप्त मानती है । पाठक को लोक जीवन को समझने का अवसर प्राप्त होता है । उनके अनुसार काव्य कवि को नव नव संवेदन, सौंदर्य बोध, और जीवन दर्शन की विभूतियाँ प्रदान करता है । वे कहती है - "अपने सृजन से साहित्यकार स्वयं भी बनता है क्योंकि उसमें नये संवेदन जन्म लेते हैं, नया सौंदर्य बोध उदय होता है और नये जीवन दर्शन की उपलब्धि होती है । सारांश यह है कि वह जीवन की दृष्टि से समृद्ध होता जाता है, इसी से साहित्य सृष्टि का लक्ष्य स्वांत सुखाय का विरोधी नहीं हो सकता ।[1]" सामाजिक चेतना उत्पन्न करना साहित्य का लक्ष्य होता है - "साहित्य का उद्देश समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छंद मानव स्वभाव में, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करना है[2] ।"

प्रत्येक युग का साहित्य लोक हित और समाज कल्याण केलिए सदैव प्रयत्नशील रहा है । वास्तव में साहित्य समाज की अपराजेय शक्ति है । काव्य प्रयोजनों के अंतर्गत उन्होंने यश और संपत्ति की चर्चा की है ।

---

1. क्षणदा - महादेवी वर्मा - पृ.118
2. वही - पृ.122

काव्य के तत्व

महादेवी अनुभूति को काव्य का मूल तत्व मानती है, किंतु उसमें चिंतन और कल्पना को वांछित गौरव देना चाहती है। उनके अनुसार - "काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है, इसी से इसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिंदु तक पहुंचनेवाली विशेष विचार पद्धति। वह तो जीवन को चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।"[1]

महादेवी ने सत्य की अनुभूति को कल्पना और सौंदर्य से मंडित करना चाहा है। कवयित्री व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर समष्टि के सत्य को खोजने का प्रयास करती है। इस गुण के कारण कविता मानव मात्र के कल्याणकारी सिद्ध होती है। वे कहती हैं - "कविता हमारे व्यष्टि सीमित जीवन को समष्टि व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बांधती है।"[2] महादेवी के अनुसार सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य उसका साधन है। आगे वे कहती हैं - "सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएं जिस सौंदर्य का सहारा लेती है, वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित रहती है, केवल बाह्य रूप रेखा पर नहीं।"[3] अनुभूत सत्य की पूर्णतम अभिव्यक्ति में सौंदर्य निखर आता है।

काव्य के भेद

काव्य भेद के अंतर्गत महादेवी ने गीतिकाव्य की विस्तृत विवेचना की है। इसकी परिभाषा वे यों देती हैं - "सुख दुख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का, गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"[4] दूसरे स्थान पर वे कहती हैं - "साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख दुखात्मक अनुभूति का वह शब्द रूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।"[5]

---

1. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध - पृ.41
2. आधुनिक कवि - 1 - महादेवी वर्मा - पृ.11
3. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध - पृ.34
4. वही - पृ.118
5. वही - पृ.122

इससे स्पष्ट होता है कि महादेवी सुख दुखात्मक तीव्र अनुभूति का सूक्ष्मतम शब्दों में संगीतमय चित्रण करना गीत मानती है । वह ध्वन्यात्मकता के कारण गेय होता है । गीत व्यक्तिगत उद्गारों का आकार है । वे गीत का संबंध हृदय की रागात्मक वृत्ति से मानती है - "गीत का चिरंतन विषय रागात्मिका वृत्ति से संबंध रखनेवाली सुख दुखात्मक अनुभूति ही रहेगा । पर अनुभूति मात्र गीत नहीं, क्योंकि गेयता तो अभिव्यक्ति सापेक्ष है[1] ।" वे गीत में तर्क और बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति की तीव्रता पर अधिक बल देती हैं । आत्मानुभूत सत्य की अभिव्यक्ति में गेयता का विशेष महत्व होता है । कवि की सुख दुख की तीव्र अनुभूति में दूसरों को अपने दुख-सुख की प्रतिध्वनि सुनायी पड़े, तभी सफल गीत बन सकता है ।

महादेवी ने लोकगीतों पर भी विचार किया है । उनकी मान्यता है कि इसमें साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ सुरक्षित रहती है साथ ही जीवन का स्पर्श अधिक होता है । गीत काव्य और लोक गीतों की तुलना करते हुए वे कहती हैं "यदि हम भाषा, भाव, छंद आदि की दृष्टि से लोक गीत और काव्य गीतों की सहृदयता के साथ परीक्षा करें तो दोनों के मूल में एक सी प्रवृत्तियाँ मिलेंगी[2] ।"

काव्य-भाषा

महादेवी जी मनुष्य द्वारा किये गये विविध आविष्कारों में भाषा को सबसे महत्वपूर्ण मानती है । मानव ज्ञान के साथ भाषा में परिवर्तन आ गया । भिन्न भिन्न शास्त्रों केलिए भिन्न भिन्न पारिभाषिक शब्दावली निश्चित की गई । साहित्य भाषा में ऐसा परिवर्तन संभव नहीं, क्योंकि प्रत्येक कलाकार की भाषा अपनी शैली के कारण भिन्न होती है । काव्य भाषा, महादेवी के अनुसार - "मानव सामान्य अनुभूतियों की चित्रलेखा है, जिसका स्पर्श सामान्य मानव में ही संभव रहेगा[3] ।"

1· साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध - पृ·122

2· वही - पृ·139

3· संधिनी-पृ· 18

छंद और लय

महादेवी ने काव्य के शिल्प पक्ष के अंतर्गत छंद और लय पर विचार किया है । वे भाषा की प्रकृति को लयवती मानती है और उच्चारण में शब्द और अर्थ की लय समन्वित रूप को स्वीकार करती है । वे कहती हैं - "काव्य व्यष्टिगत तथा समष्टिगत जीवन को एक विशेष गतिक्रम की ओर प्रेरित करने का साधन है, अतः उसकी शब्द योजना में भी एक प्रवाह, एक लय अपेक्षित रहेगी[1] ।"

छंद के संबंध उनका विचार है कि काव्य में छंद का प्रयोग कवि की इच्छा पर निर्भर है । किंतु छंद स्वतः कविता का बंधन है ।

काव्य और संगीत का भेद करते हुए वे लिखती हैं - "काव्य सार्थक शब्द समूह है और संगीत लय प्रधान ध्वनि समूह । जैसे काव्य में गेयता संभव है पर अनिवार्य नहीं, वैसे ही संगीत के स्वरों में अर्थवत्ता संभव है, परंतु अनिवार्य नहीं .... । एक के संघटन में बुद्धि विशेषक्रियाशील रही और दूसरे के संयोजन में हृदय[2] ।" महादेवी का यह मत गीति काव्य के संदर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य है । और एक स्थान पर वे कहती हैं - "संगीत द्वारा हम विशेष रागात्मक अभिव्यक्ति करते हैं, परंतु भाषा का लक्ष्य समग्र जीवन की अभिव्यक्ति है । साहित्य और कला भी लक्ष्यतः जीवन व्यापि है[3] ।"

महादेवी की व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत महादेवी के विवेचनात्मक गद्य, पथ के साथी, क्षणदा, साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध, और "संकल्पिता" निबंध संग्रह विशेष उल्लेखनीय है । इन आलोचनात्मक कृतियों में महादेवी की साहित्यिक मान्यताएं, कवियों तथा काव्य कृतियों का विवेचन उपलब्ध होता है ।

1. संधिनी - पृ.20
2. वही - पृ.23
3. वही - पृ.23

इसके अतिरिक्त आधुनिक कवि-1, सांध्यगीत दीपशिखा, यामा और सप्तपर्णा की भूमिकाएं उनकी काव्य संबंधी उपपत्तियों की सजीवता से अनुस्यूत है । आगे हम विभिन्न काव्यवादों और समकालीन कवियों के विषय में महादेवी के विचारों की विवेचना करेंगे ।

छायावाद

छायावाद के आंतरिक एवं बाह्य तत्वों के संबंध में महादेवी ने सुचिंतित मत प्रकट किया है । वे छायावाद के आविर्भाव के बारे में कहती हैं - "छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव (बंधनों से ऊब उठना) में छिपा हुआ है । उसके जन्म से प्रथम कविता के बंधन सीमा तक पहुँच चुके थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा । स्वच्छंद छंद में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छाया उपयुक्त ही था और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है ।[1]" इस अवतरण में उन्होंने द्विवेदी युगीन कविता के प्रति अपना विरोध प्रकट किया है, साथ ही छायावाद की मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है । आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति जो छायावाद की मूलभूत विशेषता बतायी गई है, इसका समर्थन सारे छायावादी कवियों ने किया है । आगे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए वे लिखती हैं - "इस व्यक्ति प्रधान युग में व्यक्तिगत सुख दुख अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल थे । अत: छाया युग का काव्य स्वानुभूति प्रधान होने के कारण वैयक्तिक उल्लास विषाद आदि की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बन सका ।[2]"

उनके अनुसार छायावाद की दूसरी विशेषता प्रकृति में मानव चेतना का आरोप है । वे प्रकृति और मानव चेतना में सहज संबंध की स्थापना पर बल देते हुए उसकी विभिन्नताओं में सामंजस्य करने का उपदेश देती हैं - "छायावाद की प्रकृति घ घट, कूप आदि में भरे जल की एक रूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण

1· आधुनिक कवि - 1 - महादेवी वर्मा - पृ·17,18

2· साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध-पृ·88

बन गई । अत: अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस बिंदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है ।"[1] वे जीवन की संभावनाओं और प्रकृति की संपदा का सामंजस्य काव्य को सहजता प्रदान करनेवाले तत्व मानती हैं, उसकेलिए कल्पना का बड़ा हाथ है । उन्होंने कल्पना की भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में रखकर विवेचना की है - "काव्य जब प्रकृति का आधार लेकर चलता है तब कल्पनाओं में सूक्ष्म रेखाओं का बहुमूल्य और दीप्त रंगों का फैलाव स्वाभाविक ही रहेगा । छायावाद तत्वत: प्रकृति के बीच में जीवन का उद्गीथ है । अत: कल्पनाएं बहुरंगी और विविध रूपी हैं ।"[2] छायावादी काव्यके प्रकृति प्रेम का मूल वे भारतीय साहित्य परंपरा से प्रेरित दिखाती हैं । उसे वे विदेशी प्रभाव नहीं मानती ।

"स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया" छायावाद की यह परिभाषा उन्हें मान्य है, किंतु उस में स्थूल को वे संकीर्ण बनाना नहीं चाहती - "छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था । अत: स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसकेलिए संभव न हो सका, परंतु उसकी सौंदर्य दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं, यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण कर देना है ।"[3] पलायनवादी प्रवृत्ति के आरोप का खंडन करते हुए महादेवी कहती है कि पलायनवाद भारतीय काव्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है । और कल्पना की जो अधिकता उसमें होती है उसका भी वे उत्तर देती है और कहती है कि उस समय जीवन की समस्या आज के समान संकीर्ण नहीं थी । इसलिए कवियों ने प्रकृति और प्रेम को काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य बनाया । ये स्थापनाएं छायावादी काव्य के परिप्रेक्ष्य में ठीक निकलती है । परंतु यह ठुकरा नहीं जा सकता कि छायावाद में व्यापक जीवन मूल्यों का कम स्थान दिया गया है ।

छायावाद के कला पक्ष पर भी उन्होंने विचार किया है । यह नयी काव्य विधा सूक्ष्म कोमल अनुभूति की अभिव्यक्ति केलिए भाषा में ऐसी शक्ति मांगती थी जो उसके पूर्व की भाषा में न थी । भाषा की संकेतात्मकता के संबंध में वे कहती हैं

---

1. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध - पृ.66
2. वही - पृ.86
3. वही - पृ.69.70

'इस प्रकार की अभिव्यक्तियों में भाव रूप चाहता है, अतः शैली का कुछ संकेतमयी हो जाना सहज संभव है।[1]' छायावादी कवि को अपने भाव को अभिव्यक्त करने में नयी भाषा, नये शब्द, छंद और लय का निर्माण करना पड़ा। कवि के इस नये प्रयास के संबंध में वे कहती हैं - 'छायावाद ने नये छंद बंधों में सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा वह खड़ीबोली की सात्विक कठोरता सह नहीं सकता था। अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नापतोल कर और काट छाँट कर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतम कलेवर दिया।[2]' मुक्त छंद का प्रयोग छायावाद के अनुकूल है, यही उनकी धारणा है। उनके विचार में ब्रजभाषा के छंद छायावादी भावधारा को वहन करने में असमर्थ हैं।

महादेवी ने छायावाद की विशेषताओं पर विचार करने के साथ उसकी कमज़ोरियों पर भी विचार किया है। छायावाद के पराभव के संबंध में उनका विचार महत्वपूर्ण है - 'छायावाद के कवि को एक नये सौंदर्य लोक में ही वह भावात्मक दृष्टिकोण मिला, जीवन में नहीं, इसी से वह अपूर्ण है, परंतु इसी कारण यदि हम उसके स्थान में केवल बौद्धिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा कर जीवन की पूर्णता देखना चाहेंगे तो हम भी असफल रहेंगे।[3]' छायावाद में जीवन के प्रति व्यापक दृष्टिकोण का अभाव रहा, यही उसकी पराजय का प्रमुख कारण है। दूसरा उसकी दुरूहता है। परंपरा और स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता को ग्रहण करना जन सामान्य के लिए कठिन रहा - छायावाद ने कोई रूढ़िगत आध्यात्म या वर्गगत सिद्धांतों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्म सौंदर्य सत्ता की ओर जागरूक कर दिया था, इसी से उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।[4]' छायावाद के ही कवियों के द्वारा उसके पराभाव का कारण व्यक्त करना बहुत समीचीन और वास्तविक लगता है।

---

1. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध - पृ.68
2. वही - पृ.68,69
3. आधुनिक कवि - 1 - पृ.25
4. वही - पृ.22

रहस्यवाद

महादेवी अपरोक्ष अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति का रहस्यवाद से घनिष्ठ संबंध मानती हैं - "इस [प्रकृति की] अनेक रूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्य नाम दिया गया ।[1]" वे रहस्यवाद में सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा भावात्मकता को अधिक महत्व देती है - "रहस्यवाद, नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष प्राचीन नहीं । प्राचीन काल में परा या ब्रह्मविद्या में इसका अंकुर मिलता अवश्य है, परंतु इसके रागात्मक रूप केलिए उसमें स्थान कहाँ ?[2]"

महादेवी रहस्य भावना में द्वैत और अद्वैत दोनों की स्थिति मानती हैं । एक के अभाव में विरह की अनुभूति नहीं होगी, दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार विहीन होगी । महादेवी रहस्यवाद का ऐतिहासिक अध्ययन करते हुए हमारे प्राचीन काव्य में इसका सुसंबद्ध इतिहास पाती है । उन्होंने इसके विवेचन में में भारतीय वेदों और पुराणों तथा पाश्चात्य मान्यताओं से काम लिया है । उनके मत में पश्चिम का रहस्यवाद प्रकृतिवाद से संबंधित है और सूफियों का रहस्य पिसेम के निकट है । इन सबका प्रभाव भारतीय रहस्यवाद में है ।

आदर्शवाद और यथार्थवाद

~~कल्पना~~ महादेवी काव्य में यथार्थ और आदर्श का सामंजस्य चाहती है । जीवन की अनेक विविधताओं और एकताओं की अभिव्यक्ति केलिए ही काव्य ने यथार्थ और आदर्श की भिन्न प्रतीत होती हुई, एक ही प्रेरणा को लेकर चलनेवाली शैलियाँ अपनाई है । वे परस्पर प्रेरक है और वे ही जीवन को पूर्णता प्रदान करते हैं । "वे एक दूसरे के पूरक रहकर ही जीवन को पूर्णता दे सकते हैं, अतः काव्य उन्हें विरोधियों की भूमिका देकर जीवन में एक नई विषमता उत्पन्न करता है, सामंजस्य नहीं ।[3]"

---

1. सांध्य गीत - महादेवी वर्मा - पृ. 9
2. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध - पृ.95
3. वही - पृ.143

महादेवी करुणा और वेदना की कवयित्री है । इसलिए वे यथार्थ की अपेक्षा आदर्श को अधिक चाहती है । आदर्शवादी रचना में अनुभूति और कल्पना का सामंजस्य चाहती है । यथार्थवादी रचना में स्थूल भौतिकता के साथ भोग की कामना अनिवार्य है । उनके अनुसार - "एक ओर हम भूल गये हैं कि आदर्श की रेखाएं कल्पना के सुनहले रुपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकती जब तक उन्हें जीवन के स्पंदन से न भर दिया जाय और हमें यह स्मरण नहीं रहा कि तीव्र धारा को दिशा देने के बदले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है[1] ।"

महादेवी ने अपने सामयिक कवियों पर भी अपने अभिमत प्रकट किया है । निम्न लिखित कवियों पर उनके प्रौढ विचार उपलब्ध होते हैं ।

{1} कवींद्र रवींद्र

कवींद्र को महादेवी पथ का साथी न कहकर पथ का मार्ग दर्शक कहती है । इन्हें महान साहित्यकार और युग प्रवर्तक मानती हैं - जहाँ व्यक्ति को देखकर लगता है - "मानों काव्य की व्यापकता ही सिमटकर मूर्त हो गयी है और काव्य से परिचित होकर जान पडता है - व्यक्ति ही तरल होकर फैल गया है[2] ।" टागोर के काव्य से प्रभावित होकर तथा उनकी संवेदनाओं की गहराई को क वि जीवन केलिए तथा सच्चे कलाकार केलिए अत्यंत आवश्यक बताती है । अत: कवींद्र हर युग के मानव की विजय यात्रा के साथी रहेंगे । महादेवी का कहना है कि रवींद्र ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता को अपनी वाणी से अमरत्व प्रदान किया है । जीवन को अपनी रंगीन, कोमल मधुर कल्पना से भर दिया है ।

{2} मैथिलीशरण गुप्त

तुकबंदी से उनका परिचय गुप्त जी का ही परिचय मानती हुई वे कहती हैं "खडी बोली की तुकबंदी से मेरा जो परिचय हुआ, उसे मैं गुप्त जी का परिचय भी मानती हूं[3] ।" गुप्तजी के व्यक्तित्व में भारतीयता की अमिट छाप थी और

1· साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध - पृ·147

2· पथ के साथी - पृ· 4

3· वही - पृ·20

उनके साम्प्रदायिक विचारों पर इसका पूरा प्रभाव था । महादेवी इनके व्यक्तित्व में अद्वितीय संतुलन को देखकर प्रभावित होती हुई "पथ के साथी" में कहती हैं - "एक आस्था जनित संयम का बांध न उनके विषाद में ज्वार आने देता है और न हर्ष में[1]।" वे साहित्य में नवीन को प्राचीन की पृष्ठभूमि पर ही अपनाने चाहते थे ।

[3] जयशंकर प्रसाद

प्रसाद के व्यक्तित्व और कृतित्व पर महादेवी ने अत्यंत सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किये हैं - "प्रसाद का व्यक्तिगत जीवन अकेलेपन की जैसी अनुभूति देता है, वैसी अनुभूति हमें किसी अन्य समसामयिक साहित्यकार के जीवन के अध्ययन से प्राप्त नहीं होगी[2]।" प्रसाद के आनंदवाद को भी उन्होंने गहन वेदनानुभूति की प्रतिक्रिया माना है । उनके अनुसार - "प्रसाद विशुद्ध आनंदवादी नहीं है क्योंकि कोई भी सिद्ध कवि आनंदवादी नहीं होता । जीवन में अनेक आघातों के रहते हुए भी इनका जीवन संतुलन बना रहा । उनके विचार के तार इतने सधे और खिंचे हुए थे कि हल्की कंपन भी उसमें अपनी प्रतिध्वनि पा लेती थी[3]।" प्रसाद आनंदवाद और करुणा के मेल से इस बुद्धिवादी जीवन की शुष्कता को सरस बनाने का प्रयास करते रहे

[4] सूर्यकांत त्रिपाठी निराला

निराला से बहन का रिश्ता जोड़कर महादेवी "पथ के साथी" में कहती हैं - "लौकिक दृष्टि से निस्व निराला हृदय की निधियों में सबसे समृद्ध भाई हैं - यह स्वीकार करने में मुझे द्विविधा नहीं है । उन्होंने अपने सहज विश्वास से मेरे कच्चे सूत के बंधन को जो दृढ़ता और दीप्ति दी है वह अन्यत्र दुर्लभ रहेगी[4]।" महादेवी निराला के जीवन और उनकी काव्य साधना से प्रत्यक्षीकरण कर यह निष्कर्ष देती हैं - साहित्य के जीवन युग पथ पर निराला की स्मृति गहरी और स्पष्ट, उज्वल और लक्ष्यनिष्ठ रहेगी । इस मार्ग के हर फूल इनके चरण का चिह्न और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है[5]।"

---

1. पथ के साथी - पृ.20
2. वही - पृ.77
3. वही - पृ.78
4. वही - पृ.66
5. वही - पृ.66

G32318

निराला के व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए महादेवी ने उन्हें मस्तमौला, आतिथ्य प्रेमी, संघर्ष पुरुष, विद्रोही, आत्मनिष्ठ, स्वाभिमानी, कर्मठ, बौद्धिक और संवेदनशील व्यक्ति माना है । निराला में अहं की भावना थी किंतु हीन और द्वेषमूलक वृत्तियों से वे कोसों दूर थे । उनकी सहृदयता उनके जीवन में अनेक अभिशापों को भर देती है । किंतु वे काव्य के महाप्राण देवता हैं । निराला के साहित्य में महादेवी उनके जीवन का प्रतिबिंब देखती है ।

{5} सुमित्रानंदन पंत

पंत को वे सौंदर्य का कवि मानती हैं । उनके काव्य में कोमलता और सुकुमारता स्वाभाविक रूप से आई है । इनके विचार से पंतजी सम और विषम सभी परिस्थितियों में नई नई कल्पनाएं और उत्कृष्ट काव्य सृजन में लीन रहे हैं ।

{6} सियाराम शरण गुप्त

अपने पथ के साथियों में वे गुप्तजी को अनुज मानते हैं । उनके जीवन की सादगी इनके व्यक्तित्व की विशेषता बताती है । उनके जीवन का संयम अभूतपूर्व रहा है । इनके जीवन का संयम तथा इनकी भ्रातृ भक्ति महान थी । इन्होंने भावना को अपनी रचनाओं में समेटकर प्रस्तुत किया है ।

महादेवी ने 'पथ के साथ' में अत्यंत संयत रहकर साहित्य मनीषियों के व्यक्तित्व और कृतित्व का विश्लेषण किया है । महादेवी के इस सुप्रयास का मूल्यांकन करते हुए सूर्य प्रकाश दीक्षित कहते हैं - "इनके चित्रांकन में लेखिका ने अद्भुत न्याय निष्ठा का प्रमाण दिया है । अत: न तो भावना के आवेश में उनके रंगों में ज्वार आया है और न बुद्धि के विश्लेषण द्वारा उनकी रेखाओं में उतार आया है ।"[1]

कालिदास, भवभूति और जयदेव जैसे संस्कृत के कवियों पर भी महादेवी ने अपने विचार प्रकट किये हैं ।

---

1. महादेवी का गद्य - सूर्य प्रकाश दीक्षित - पृ.53

निष्कर्ष

महादेवी की आलोचनाओं में उनका चिंतक रूप दिखाई देता है। वे किसी भी दार्शनिक मतवाद के प्रचार में रत नहीं हैं। फिर भी उन्होंने मौलिक, गंभीर और अनुभूतिजन्य भावात्मक आलोचनाएं लिखी हैं। काव्य में गीत तत्व का समावेश छायावादी कवि आलोचकों में सिर्फ महादेवी ने किया है। उनके आलोचना संबंधी विचार काव्यात्मक है। व्यावहारिक आलोचना में छायावाद, रहस्यवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद आदि पर इनके विचार अत्यंत स्पष्ट है। इन्होंने समसामयिक कवियों पर भी विचार किया है। संक्षेप में महादेवी की आलोचनाएं मौलिक एवं मूल्यवान हैं।

निष्कर्ष

छायावादी काव्यधारा का उद्भव द्विवेदी युग की नीरसता और इति-वृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था । इस नयी काव्य धारा को लेकर प्रारंभ में अनेक भ्रांतियाँ और आलोचनाएँ निकलने लगी थी । नये सौंदर्य बोध और आत्मानुभूति से अनुस्यूत इस काव्यधारा को परखने की क्षमता परंपरागत आलोचना पद्धति और संस्कृत के काव्य शास्त्र के सिद्धांतों में नहीं थी । छायावाद के प्रमुख कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी ने अपनी काव्यधारा के संबंध में फैली भ्रांतियों का निराकरण करते हुए नवीन सौंदर्यवादी दृष्टि से काव्य-तत्वों का विवेचन किया । इन कवियों ने द्विवेदी युगीन काव्य मान्यताओं का निराकरण कर नयी काव्य दृष्टि प्रदान की । उन्होंने उत्कृष्ट काव्य सर्जना के साथ अपनी सूक्ष्म अन्वेषण दृष्टि से, मौलिक विचारों से हिन्दी आलोचना को समृद्ध कर दिया ।

छायावादी कवियों के आलोचक बनने के मूल में कई कारण मौजूद है । इन कवियों ने अपने सृजन के प्रारंभिक क्षणों में यह अनुभव कर लिया कि उन्हें नयी परिस्थितियों के संदर्भ में आत्माभिव्यक्ति के लिए परंपरागत शैली से हटकर अपने काव्य सृजन का मार्ग प्रशस्त करना होगा । उनके इस अनुभव के पीछे एक ओर परिस्थितियों का दबाव था, दूसरी ओर वैयक्तिक चिंतन की भी प्रेरणा थी । छायावादी कविता में अभिव्यक्त आंतरिक वैयक्तिक चेतना तथा उसके बाह्य सौंदर्यमूलक तत्वों को समझे बिना युग के आलोचकों ने उसकी कटु आलोचना और भर्त्सना की । इन आलोचनाओं का खंडन करना तथा अपनी कविता की विशेषताओं का प्रतिपादन करना इनका दायित्व बन गया । छायावादी कवियों के आलोचक बनने का मूल कारण यही है । अतः उन्हें कवि होने के साथ अपने कवि-कर्म का विश्लेषण भी करना पड़ा । हिन्दी काव्यालोचना के इतिहास में यह प्रवृत्ति पहली बार देखने में आती है । छायावाद के प्रत्येक कवियों की कविता में समान विशेषताएँ उपलब्ध होती है, किंतु वैयक्तिक दृष्टिकोण की भिन्नता और दार्शनिक चेतना की भिन्नता के कारण उनमें विविधता है । इसी कारण अपनी कविताओं के सही आस्वादन हेतु कवियों को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण के आधार पर कविताओं की विशेषताओं

का विवेचन करना पड़ा । कविताओं में निहित दार्शनिक चेतना को व्यक्त करना भी पड़ा । उपर्युक्त कारणों से इन कवियों को अपने सृजन के मूल्यों की स्थापना करनी पड़ी । इसी प्रक्रिया में से उन्होंने छायावादी काव्य के मूल्यांकन के नये मानदण्ड भी स्थापित किये ।

छायावादी कवियों की आलोचना पर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम होगा कि ये कवि-आलोचक परंपरागत शास्त्रीय आलोचना के पूर्णत: विरोधी नहीं है । फिर भी उनकी आलोचना में अभूतपूर्व मौलिकता परिलक्षित होती है । प्रसाद जी की आलोचना पद्धति आनंदवाद पर आधारित है । वे काव्य को आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति मानते हैं । रस और अनुभूति के मौलिक विवेचन के साथ काव्येतर संगीत कला और चित्र कला का भी उन्होंने अपने अध्ययन का विषय बनाया है । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत उन्होंने काव्यवादों का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है ।

निराला की आलोचनाओं में, सबसे उल्लेखनीय उनके मुक्त छंद संबंधी विचार है । वे मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की मुक्ति चाहते हैं और यह छंद के बंधन से अलग होने से मानते हैं । स्वकृतित्व और अन्य कवियों पर लिखी गयी आलोचनाएं उनके गहन चिंतन और मनन का परिणाम है ।

पंत जी ने पहली बार अपनी आलोचना में ब्रजभाषा और खड़ी बोली की तुलना करते हुए खड़ी बोली को हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल सिद्ध किया । काव्य में स्वर-ध्वनि और व्यंजन ध्वनि की प्रभावात्मकता को उन्होंने पल्लव की भूमिका के द्वारा रेखांकित किया । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत छायावाद का मूल्यांकन उनकी चिंतन शक्ति और विदग्धता का परिचायक है । कवियों और कृतियों पर उन्होंने गंभीरता से अध्ययन किया है । स्वकृतित्व पर सर्वाधिक लिखा गया है ।

काव्य में गीत तत्व के विवेचन से महादेवी ने अपनी मौलिक उद्भावना से हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया । उनके काव्य विचार अनुभूतिपूर्ण और [illegible] काव्यात्मक है । समसामयिक काव्यवादों और कवियों पर लिखते हुए उन्होंने व्यावहारिक आलोचना को पुष्ट किया है ।

छायावादी कवि-आलोचक मूलत: कवि थे । आलोचना करना उनका ध्येय न था । तात्कालिक भ्रांतियों का निराकरण तथा कवि के रूप में अपनी प्रतिष्ठा यही उनकी आलोचना का उद्देश था । अत: इनकी आलोचनाओं में कवि-व्यक्तित्व का स्पष्ट प्रभाव है ।

छायावादी कवि-आलोचकों ने परंपरागत आलोचना पद्धति को अपने मौलिक चिंतन से नया आयाम दिया । सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत काव्यांगों के विवेचन में, रस, ध्वनि आदि का प्रतिपादन मौलिक बन पड़ा है । अनुभूति की अक्षुण्ण महत्ता का प्रतिपादन छायावादी काव्य-तत्वों में सबसे महत्वपूर्ण है । काव्य सौष्ठव की सही पहचान और परख की ललक उनकी गेयता और संगीतता के प्रतिपादन में लक्षित होती है । व्यावहारिक आलोचना में, कवियों के व्यक्तित्व की तलाश करते हुए, उन्होंने कृतित्व का सही मूल्यांकन और आस्वादन में मदद दी ।

संक्षेप में, काव्य सौष्ठव के दिग्दर्शन में, नये सौंदर्य तत्वों की स्थापना करते हुए छायावादी कवियों ने हिन्दी काव्यालोचना को समृद्ध किया । हिन्दी काव्यालोचना में रोमानी मूल्यों की प्रतिष्ठा का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं को है । आधुनिक हिन्दी आलोचना साहित्य में मौलिक सृजन चिंतना की शुरुआत इनसे हुई है । यही इनकी आलोचना की सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

****

अध्याय - तीन

छायावादोत्तर कवियों की काव्यालोचना

अध्याय - तीन

छायावादोत्तर कवियों की काव्यालोचना

छायावादी और प्रगतिवादी काव्यधारा के बीच जो काव्यधारा हिन्दी साहित्य में पनपी वह अपनी अतिवैयक्तिकता के कारण वैयक्तिक कविता के नाम से अभिहित है। किंतु इसका कदापि यह तात्पर्य नहीं हैकि इसके पूर्व हिन्दी कविता में वैयक्तिकता की प्रधानता नहीं थी। साहित्यिक इतिहास में कोई भी काव्यधारा अचानक जन्म लेती नहीं। वर्षों से दबी पड़ी यह विशेषता उचित परिस्थिति और उर्वर भूमि के पाने से अपना अंकुर बाहर दिखाने लगती है। साहित्य में एक नई काव्य प्रवृत्ति उसके पूर्व की काव्य प्रवृत्तियों से अर्थात् काव्य परंपरा से प्रभावित होकर या विरोध से ऊबकर जन्म लेती है या पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्ति के विकास के रूप में अथवा प्रतिक्रिया स्वरूप जन्म लेती है। यह साहित्य की एक सामान्य विशेषता है जो विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य से प्रामाणित होगी। हिन्दी में द्विवेदी युगीन काव्य की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में, छायावाद ने स्वच्छंद कल्पना, और मुक्त वायवीय उड़ान भरकर जन्म लिया। किंतु काव्य क्षेत्र के भाव पक्ष एवं शिल्प पक्ष में नये सौंदर्य बोध और अभिव्यक्ति की क्षमता से संपन्न यह काव्यधारा अधिक समय तक जनहृदयों में स्थान पा नहीं सकी। क्योंकि उनके प्रवर्तक कलाकारों की वाणी में उसमें भविष्य केलिए कुछ भी नहीं था। अतः इसके इस वायवीय एवं अतिकल्पनाशील प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद ने जन्म लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि नई काव्य प्रवृत्तियाँ पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्तियों जाम लेकर उत्पन्न होती है।

छायावादी कवियों ने जहाँ स्वानुभूतिमयी विवृत्ति की विलक्षण प्रतिभा से व्यष्टि सीमित जीवन सत्यों को समष्टि व्यापक सत्य बनाने की कोशिश की, वहाँ इस वैयक्तिक काव्यधारा के कवियों ने अपने जीवन के सुख दुख को संगीतमयी भाषा में अभिव्यक्ति दी । उसके मूल में ऐसी कोई सार्वकालीन चेतना नहीं थी जो युगों से अनुभावकों को संतुष्ट करती आती थी । सिर्फ एकांतिक वैयक्तिकता उनकी विशेषता रही । अर्थात् इन कवियों की कविता में सिर्फ वैयक्तिक सुख दुख की उद्गार थी, चाहे वह पाठक को रुचे न रुचे उन्हें परवाह न थी । अपने वैयक्तिक उद्गारों को रागात्मक रूप में प्रस्तुत करके ये कवि आनंदित होते थे । इसलिए बच्चन जैसे कवि बाला, हाला और शाला के संबंध में कविता करके अधिक लोक प्रिय हुए । क्योंकि मानव हृदय की कोमल तंत्रियों को झंकृत करने की शक्ति उनकी कविता में थी । पाठक उनके साथ मिलकर हाला और बाला का मधु पीकर शाला में आनंद नृत्य करते थे ।

प्रस्तुत काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं हरिवंशराय बच्चन और भगवतीचरण वर्मा । इन दोनों ने कविता करने के साथ काव्य संबंधी मान्यताओं को व्यक्त किया है । इनकी चर्चाओं का लक्ष्य काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों का बारीकी से निरूपण करना नहीं था । यह प्रसंगवश हुई है । फिर भी आलोचना के विकास में इनका योगदान महत्वपूर्ण है । इनके अलावा इस प्रकरण में हम "रामधारी सिंह दिनकर" के काव्य-विचारों का विवेचन भी करेंगे । क्योंकि दिनकर कालक्रम से इनके बाद आते हैं किंतु काव्य प्रवृत्तियों में इनसे पूर्व आते हैं । उन्होंने प्रमुख रूप से राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताएं रची है । उन्होंने प्रसंगवश काव्य सिद्धांतों की चर्चा नहीं की है, अपितु एक स्वतंत्र काव्य चिंतक कवि के रूप में अपने विचारों को प्रस्तुत किया है ।

रामधारीसिंह दिनकर की आलोचना

भारतेन्दु युग में पल्लवित राष्ट्रीय भावना द्विवेदी काल में पुष्ट और परिपक्व हो गयी तथा उसका चरम विकास बाद के राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियों के काव्य में हुआ । कविवर दिनकर जी का नाम इन कवियों में सबसे प्रथम आता है उन्होंने काव्यसर्जन और काव्य चिंतन, दोनों दिशाओं में आशातीत कार्य किया । यद्यपि काव्य चिंतन में उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के काव्य सिद्धांतों का समर्थन किया है, तथापि राष्ट्रीयता की गौरवमयी अभिव्यक्ति की आलोक में उपस्थित किये जाने के कारण उनके विचार विशेष चिंतनीय हैं । उन्होंने प्रसंगवश काव्य सिद्धांतों की चर्चा नहीं की है, अपितु एक स्वतंत्र काव्य चिंतक कवि के रूप में अपने विचारों को व्यक्त किया है । इसलिए उनका विचार अतिमौलिक है । कवि-आलोचकों के संबंध में दिनकर जी का कथन अर्नोल्ड के मत से मेल खाता है - "यद्यपि काव्य के संबंध में चर्चायें सभी तरह के लोग किया करते हैं, किंतु काव्य की उच्चतम कोटी की आलोचनाएं केवल उन्हीं लोगों ने लिखी है जो स्वयं कवि थे ।"[1] प्रस्तुत कथन कवि की मौलिकता का परिचायक है । काव्यालोचना पुस्तकों में प्रतिपादित नहीं है, वह कवि के अंतस्थल में प्रच्छन्न रूप में रहती है, यही उनका सुचिंतित मत है । कवि-कर्म और काव्यचिंतन के समन्वय में विश्वास रखनेवाले कवि ने काव्यालोचना में ~~में विश्वास रखनेवाले कवि ने काव्यालोचना में अपना ध्यान~~ गहरा ध्यान दिया है । दिनकर जी ने सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना के विकास में समान योगदान दिया है । उनकी आलोचना संबंधी मान्यताएं, 'काव्य की भूमिका', 'शुद्ध कविता की खोज' 'मिट्टी की ओर' जैसे निबंध संग्रहों में उपलब्ध होती है । 'पंत, प्रसाद और मैथलीशरण गुप्त' अपने सामयिक कवियों के संबंध में रचा गया प्रौढ ग्रंथ है । 'अर्धनारीश्वर' चिंतन प्रधान निबंधों का संग्रह है जिसके अधिकांश पृष्ठ अरविंद और रवीन्द्रनाथ के विचारों के विवेचन में व्यय किया गया है ।

---

1. हिमालय - अप्रैल 1946 - पृ.85

सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना के अंतर्गत दिनकर जी ने काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, रस, काव्य के हेतु, काव्य के भेद, अलंकार, छंद आदि का विवेचन किया है । उन्होंने काव्यालोचना के स्वरूप तथा उनकी विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला है । आगे हम इनकी सैद्धान्तिक आलोचना के महत्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डालेंगी ।

‡1‡ काव्यालोचना

दिनकरजी कवि कर्म की भांति काव्यालोचना को भी प्रतिभा विशेष का साधन मानते हैं । उनके अनुसार "आलोचना सीखने की चीज नहीं है, यह भी जन्मजात है जैसे कवित्व ।[1]" आलोचक के कर्म पर प्रकाश डालते हुए दिनकर जी लिखते हैं कि "समालोचक में कविवत् भावुकता, चिंतन की कोमलता, भावों की प्रबलता और रस ग्राहिता होनी ही चाहिए, अन्यथा वह उन मनोदशाओं के धूमिल विश्व में पहुंच ही नहीं सकता जिसमें कविता की सृष्टि की जाती है ।[2]" उनके अनुसार आलोचक को आलोचना करते समय इस पर ध्यान देना चाहिए कि "कवि को जो कहना था, उसे उसका सम्यक ज्ञान था या नहीं तथा यदि ज्ञान था तो उस भाव को उसने पूरी समर्थता के साथ लिखा है या नहीं ।[3]"

आलोचक का काम केवल गुण दोष विवेचन करना नहीं । इसी प्रसंग उन्होंने स्पष्ट लिखा है - "गुण और दोष का विवेचन समालोचक का आंशिक कार्य अवश्य है, परंतु उसका प्रधान कर्म कवि की चातुरी का भेद खोलना है, क्योंकि प्रकार के विश्लेषणों से वह पाठकों के काव्यानंद की मात्रा में वृद्धि करता है ।[4]"

1· मिट्टी की ओर - रामधारी सिंह दिनकर - पृ·155
2· वही - पृ·155
3· काव्य की भूमिका- रामधारी सिंह दिनकर - पृ·45
4· मिट्टी की ओर - रामधारी सिंह दिनकर - पृ·153

आधुनिक युग में काव्यालोचक कवियों की भरमार है। अपनी रचना के संबंध में विचार करने की यह पद्धति आधुनिक युग की देन है। ऐसे कवि आलोचकों के प्रय का सराहना करते हुए दिनकर जी ने लिखा है - "यद्यपि काव्य के संबंध में चर्चाएं सभी तरह के लोग किया करते हैं, किंतु काव्य के उच्चतम कोटि की आलोचनाएं केवल उन्हीं लोगों ने लिखी है जो स्वयं कवि थे।[1]" यह दिनकर की अपनी नई उद्भावना नहीं है। उनके पूर्व पाश्चात्य एवं भारतीय कवियों ने इसकी अकुण्ठता व्यक्त की है। स्वयं छायावादी कवियों की आलोचनाएं इस बात को प्रामाणित करती हैं। अपनी कविता के संबंध में सर्जक कवियों के विचार विचार पाठकों को कृति के आस्वादन में अधिक सहायक होंगे। इन कवि आलोचकों के विचारों से परिचय प्राप्त करने से मध्यवर्ती आलोचनाओं की ज़रूरत न पड़ेगी।

दिनकर जी का यह दृष्टिकोण स्वस्थ एवं नवीन है। साथ ही उनकी भीक्षा का परिचायक है। स्वयं दिनकर जी की आलोचनाएं इसका प्रमाण है।

(2) काव्य का स्वरूप

काव्य के संबंध में दिनकर जी की स्पष्ट धारणाएं है। वे कहते हैं कि "कविता वह है जो अकथ्य को कथ्य बनाने का प्रयास करें।[2]" आगे वे कहते हैं - "कविता मनोरंजन नहीं, आत्मानुसंधान का उन्मेष है। प्रत्येक कविता किसी न किसी हद तक आध्यात्मिक होती है।[3]" फिर वे कहते हैं कि "कविता न तो कोमल भाषा, न गेय छंद न कोरी भावुकता में है। वह मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफलन है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम है, जो वस्तुओं के उन आभ्यंतर रूपों को देखती है और दर्शाती है, जो रूपविज्ञान में देखे नहीं जा सकते। किंतु जो वस्तु विज्ञान के स्वभाव के परे है, उसका वर्णन आगामी कविता वैज्ञानिक एकाग्रता के साथ करेगी।[4]" इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि दिनकरजी कवि को

---

1. हिमालय, अप्रैल 1946 - पृ.85
2. उजली आग - रामधारी सिंह दिनकर - पृ.47
3. वही - पृ.44
4. सीपी और शंख - भूमिका - दिनकर - पृ.छ

मनीषी होना आवश्यक मानते हैं । दूसरा आत्मदर्शन से जनित अभिव्यक्ति आध्यात्मिक होती है । कालरिज भी इससे सहमत दिखाई देते हैं - "कोई भी कवि सजग दार्शनिक हुए बिना कवि नहीं हो सकता ।[1]" भावुकता कवि का दोष नहीं, पर उसमें संयम रखना अनिवार्य है । उनके अनुसार "भावुकता साहित्यकार का बड़ा गुण है, बल्कि कहना चाहिए कि उचित मात्रा में इस गुण के हुए बिना कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता ।[2]" भविष्य की कविता बौद्धिकता से संपन्न होगी, परंतु उसमें मन की विशेष मनोदशा अर्थात् करुणा की अभिव्यक्ति अधिक यशपूर्ण होगी । अंत में उनके काव्य-स्वरूप संबंधी विचारों को देखते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जब कवि का भावुक हृदय उन्मेष प्राप्त कर जीवन के हर्ष विषाद का आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से स्वच्छंद निरूपण किया जायेगा तब उसी को कविता कह सकेगा ।

§3§ काव्य की आत्मा

दिनकरजी ने काव्य की आत्मा के अंतर्गत रस, अलंकार, रीति और ध्वनि का नियमित रूप से विवेचन किया है । "मिट्टी की ओर" में उन्होंने रस के काव्यत्व के संबंध में यों प्रकाश डाला है - "कविता तो कवि की आत्मा का आलोक है, उसके हृदय का रस है जो बाहर की वस्तु का अवलंब लेकर फूट पड़ता है ।[3]" वे कविता को कवि के हृदय का द्रवीभूत अंश मानते हैं । इससे स्पष्ट है कि दिनकर रस के प्रति सतत सजग रहे हैं ।

काव्य में अलंकारों को शोभाकारक तत्व के रूप में स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है - "मैं अलंकारों के महत्व को भूल नहीं सकता, किसी प्रकार उसका अनादर नहीं कर सकता, क्योंकि अलंकारों में काव्य कौशल के बहुत से ऐसे भेद खुले हैं, जो अन्यथा अविशिष्ट रह जाते ।[4]"

1.

2. काव्य की भूमिका - पृ.36
3. मिट्टी की ओर - पृ.144
4. वही - पृ.148-149

दिनकर जी ने रीति को शैली के पर्यायवाची के रूप में माना है। डॉ॰ नगेन्द्र ने भी इसका समर्थन किया है - "रीति और शैली का वस्तु रूप एक ही है[1]।" शैली के संबंध में दिनकर ने परस्पर विरोधी मत प्रकट किये हैं। एक ओर वे भाव को शैली की अपेक्षा प्रमुख मानते हैं तो दूसरी ओर शैली की असंदिग्ध अनिवार्यता घोषित करते हैं - "पहले मैं काव्य की शैली पर कम, उसके द्रव्य पर अधिक ध्यान देता था, किंतु अब मैं मानता हूँ कि यद्यपि शैली और भाव एक दूसरे से अलग करके देखे नहीं जा सकते, फिर भी साहित्य की शक्ति उसकी शैली में है[2]।" उनके अनुसार शब्द-चयन में, विशेषणों के प्रयोग में, कविता चमक उठती है।

ध्वनि के प्रति वे सजग हैं। वे काव्य में अभिप्रेत अर्थ के ऊपर व्यंजित या संकेतित अर्थ में काव्यात्मा का दर्शन करते हैं - "शायद ध्वनि से बारीक तत्व कविता में और कोई है ही नहीं[3]।" दिनकर जी के विचारों के विवेचन के बाद यह स्पष्ट सा होता है कि मुख्यत: रीतिवादी और ध्वनिवादी होते हुए भी वे समन्वयवादी प्रतीत होते हैं। क्योंकि उन्होंने सबका विवेचन किया है।

[4] काव्य-हेतु

काव्य-हेतु की चर्चा में दिनकर ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास पर प्रकाश डाला है। वे प्रतिभा को नैसर्गिक मानते हैं किंतु ईश्वर प्रदत्त नहीं मानते। उनके मत में प्रतिभा, बुद्धि, अनुभूति और संस्कारों से उत्पन्न अनिर्वचनीय शक्ति है। काव्य प्रेरणा अनायास उपलब्ध नहीं होती, वह कवि के लोकदर्शन और अध्ययनजन्य संस्कारों की उपज है - "प्रेरणा उन संस्कारों के उभार का नाम है जिन्हें हमने रहन-सहन विचार विमर्श, अध्ययन और संगति के द्वारा अर्जित किया है। कलाकार का कार्य प्रतिभा से कम, परिश्रम से अधिक संपन्न होता है[4]।" जब वे यह कहते हैं

1· हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, भूमिका - पृ॰56
2· चक्रवाल - दिनकर - पृ॰74
3· काव्य की भूमिका - पृ॰ 1
4· काव्य की भूमिका - पृ॰130

तब ऐसा दिखाई पड़ता है कि वे काव्य प्रेरणा में, प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति और अभ्यास को अधिक महत्त्व देते हैं । पूर्ववर्ती कवियों का अनुशीलन उपयोगी है । परंतु उनका अनुकरण अच्छा नहीं । क्योंकि उनके प्रतिपादन से काव्यशास्त्र के संबंध में जान सकते हैं जिससे प्रत्येक कवि लाभ उठा सकते हैं । उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि दिनकर ने प्रतिभा की अपेक्षा व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य रचना कारण माना है ।

[5] काव्य का प्रयोजन

दिनकर जी ने बाह्य प्रयोजनों से बढ़कर आंतरिक प्रयोजनों पर अधिक बल दिया है । काव्य का मूल प्रयोजन आनंद है । काव्य रचना से कवि को आनंद मिलता है और काव्यानुशीलन से पाठक को आनंद मिलता है - "आनंद कला की पहली शर्त है । कविता रचने के समय कवि को आनंद होता है, कविता पढ़ने के समय पाठक को आनंद होता है[1] ।"

युग धर्म का पालन करते हुए उन्हें बदल देना काव्य का दूसरा प्रयोजन है । उनके मत में "प्रत्येक लेखक को सबसे पहले अपने ही समय केलिए लिखना चाहिए । अपने युग केलिए लिखने का अर्थ है उस युग के मूल्यों की रक्षा करना अथवा उन्हें बदलने का प्रयास[2] ।" प्रशंसा और प्रोत्साहन उनके मतानुसार "कवि प्रतिभा के आहार है[3] ।" उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि कवि को लिखने के लिए अनुकूल परिस्थिति प्रदान करना समाज का दायित्व है क्योंकि कवि समाज की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करता है । वह उसको बदलने का प्रयास करता है । काव्य के प्रयोजन में कवि के आनंद का उल्लेख करते हुए उन्होंने काव्य रचना उसकी नैसर्गिक तृष्णा का कारण बताया है ।

---

1. रेती के फूल - दिनकर - पृ.70
2. वही - पृ.81
3. अर्धनारीश्वर - दिनकर - पृ.122-123

[6] काव्य के तत्व

काव्य के तत्वों में दिनकर जी ने सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की चर्चा की है। अनुभूति [सत्य] के संबंध में उन्होंने लिखा है - "कविता कवि के हृदय की अनुभूति होती है और इस अनुभूति की सामग्री सीधे समाज के भीतर से आती है।[1] कल्पना के प्रति कवि आस्थावान दिखाई देता है। "कल्पना के सिवा और कौन साधन है, जिससे कवि वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सके तथा कल्पना को छोड़कर और कौन शक्ति है जो वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सके तथा वस्तुओं की आंतरिकता के ज्ञान को चित्रों में परिवर्तित कर सके[2]।" उन्होंने काव्यास्वादन केलिए पाठकों को कल्पनाशील होना अनिवार्य माना है - "कल्पना केवल कवि केलिए ही नहीं बल्कि इतर जनों के लिए भी आवश्यक गुण है[3]।" कल्पना का काव्य में सापेक्षिक महत्व स्वीकार करने पर भी उन्होंने कभी अनुभूति की अवहेलना नहीं की है। काव्य का महत्वपूर्ण तत्व अनुभूति है। "अनुभूति और कल्पना में अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि काव्य का संवेद्य वही है। कल्पना इस संवेदन का अनिवार्य साधन अवश्य है, परंतु संवेद्य नहीं[4]।" कहने का तात्पर्य यह है कि अपने अनुभूत सत्य को पाठकों तक पहुँचाने में कल्पना सहायक है। इसके अलावा, कल्पना को अधिक महत्व देना काव्य के लिए शोभादायक नहीं है। काव्य में सत्य की जो अभिव्यक्ति की जाती है, वह उचित मात्रा में शिवं से अनुप्राणित होना चाहिए। तभी वह अधिक श्रेयस्कर होगा। सौंदर्य के संबंध में उनका विचार बहुत संक्षिप्त है। उन्होंने लिखा है - किंतु सर्वोत्तम "कला का सर्वोपरि धर्म सौंदर्य है, किंतु सर्वोत्तम कला कृति हम उसे कहते हैं जो सुंदर होने के साथ सत्य भी हो और शिव भी हो[5]।" ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि दिनकर जी ने काव्य में सत्य, शि और सौंदर्य को समान रूप से स्थान दिया है।

---

1. आजकल - दिसंबर 1955 - पृ. 11
2. चक्रवाल - पृ. 54
3. अर्धनारीश्वर - पृ. 142
4. हिन्दी रुबाइयात, भूमिका - पृ. 70
5. काव्य की भूमिका - पृ. 134

(7) काव्य के भेद

काव्य भेदों के अंतर्गत उन्होंने सामान्य रूप से महाकाव्य और कथाकाव्य की चर्चा की है । परंतु इससे बढ़कर उन्होंने दो अन्य काव्य रूपों का प्रतिपादन किया है । वे हैं रूप काव्य और विचार काव्य । इनका प्रतिपादन करते हुए वे लिखते हैं - 'रूप काव्य से तात्पर्य उस कविता से है जिसके महत्व का कारण उसमें 'उगनेवाले चित्र होते हैं, ऐसे चित्र जो मनश्चक्षु से देखे जा सकते हैं, ऐसे चित्र जो वस्तुओं के दृश्य रूपों की प्रतिछवि के समान है । विचार काव्य वह है जिसके महत्व के कारण मुख्यत: उसमें वर्णित भाव या विचार होते हैं, बल्कि भाव भी नहीं केवल विचार होते है[1] ।" इनमें उन्होंने रूपकाव्य का श्रेष्ठ माना है । इसलिए रीतिकाल का नया मूल्यांकन शीर्षक निबंध में उन्होंने कहा है कि 'रामायण और महाभारत को बहुत ऊंचा पाते हैं क्योंकि इन कवियों में पारदर्शिता बहुत अधिक है और उनके भीतर से जीवन की बहुत बड़ी गहराई सफल दिखाई पड़ती है[2] ।" इन दो काव्य रूपों के अंतर्गत सभी काव्य रचनाएं आ जाती हैं । वर्ण्य विषय के अंतर्गत दिनकरजी ने प्रकृति और राष्ट्रप्रेम को अधिक महत्व दिया है ।

(8) काव्य भाषा

दिनकर जी के अनुसार काव्य में प्रयुक्त भाषा की सफाई, उसके सौंदर्य का कारण बन जाती है । चित्रमयता ही काव्य का दूसरी विधाओं से अलग श्रेष्ठ उद्घोषित करती है । यह गुण भाषा के सफल प्रयोग से निष्पन्न होता है । ध्वनि के संबंध में उनका विचार शब्दों के अभिधा, लक्षणा और व्यंजना की ओर इशारा करता है । उनका कहना है कि 'अच्छी कविता की पहचान यह है कि उसे पढ़कर मनुष्य के हृदय में एक प्रकार की बेचैनी या जागृति स्फुरित होती है और उसका मन भीतर ही भीतर किसी यात्रा या पर्यटन पर निकल जाता है । अर्थों तक सीमित नहीं असली वस्तु शब्दों के अर्थ नहीं, संकेत है और संकेत तो शब्द बहुत दूर तक का

1· काव्य की भूमिका - पृ·119

2· वही - पृ·2

दिया करते हैं।[1]" आगे उन्होंने लिखा है - "कविता की चौथी और आखिरी पहचान यह है कि उसमें विशेषणों का कैसे प्रयोग हुआ है।[2]" भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं। वह और कुछ विशेष साधन है। शैली का प्रवाह, भाषा के प्रसाद गुण पर निर्भर रहता है। प्रसाद गुण, उपयुक्त शब्दों के चयन के द्वारा लाया जा सकता है।

(9) काव्य में छंद

कविवर दिनकर ने काव्य में लय, तुक, मुक्त छंद और नवीन छंदों की आवश्यकता पर अपनी राय प्रकट की है। उनके अनुसार आगामी युग विचारक कवियों का युग होगा। इसलिए अनुभूति और चिंतन से समर्थ काव्य में छंद का क्या स्थान होगा, यह उनके इन शब्दों से स्पष्ट होता है - "अब वे ही छंद कवियों के भीतर से नवीन अनुभूतियाँ ला सकेंगे जिनमें संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी, जो उड़ान की अपेक्षा चिंतन के अधिक उपयुक्त होंगे।[3]"

मुक्त छंद उन्हें इसलिए प्रिय था कि प्राचीन छंदों के नियमानुकूल प्रयोग कभी कभी भावाभिव्यक्ति में बाधा डालते हैं। और इससे निवृत्ति पाने के लिए नवीन छंदों के प्रयोग में वे जागरूक थे। युग विशेष की मनोदशा अपने अनुकूल छंदों की माँग करती है, यह स्वाभाविक ही है।

दिनकर की व्यावहारिक आलोचना

कविवर दिनकर जी की व्यावहारिक आलोचना का क्षेत्र बहुत व्यापक है उन्होंने साहित्यिक विधाओं, समसामयिक कवियों और साहित्येतर अनेक विषयों के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। साहित्यिक विधाओं में उन्होंने छायावाद, प्रयोगवाद और भविष्य की कविता के संबंध में अपना सुचिंतित मत प्रकट किया है। इसके अतिरिक्त अपने समसामयिक कवि, पंत, प्रसाद, मैथिली शरण गुप्त, सियाराम

---

1. काव्य की भूमिका - पृ. 1
2. वही - पृ. 145
3. चक्रवाल

शरण गुप्त, और महादेवी के विषय में अपना प्रौढ विचार किया है । वे रवीन्द्रनाथ टागोर और अरविंद के दर्शन से बहुत प्रभावित दिखाई देते हैं । उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का सही मूल्यांकन करने का प्रयास उन्होंने किया है । इसके अतिरिक्त "शुद्ध कविता की खोज" शीर्षक पुस्तक में उन्होंने पाश्चात्य साहित्यिक क्षेत्र के अद्यतन साहित्यिक वादों का सूक्ष्म गंभीर विवेचन किया है । शुद्ध कविता के हिमायतियों में "मलार्मे", "रेम्बू", "पोल" "अबेरी", "एडगर", "एलन पो" जैसे महारथियों के काव्य दर्शन का विवेचन करते हुए उन्होंने भारतीयों को इन्हें हस्तामलक बना दिया है । इनमें संकलित निबंधों का अध्ययन करते वक्त ऐसा प्रतीत होता है कि इसके लेखक में आलोचक की नैसर्गिक प्रतिभा तो है ही, वह पाश्चात्य वाङ्मय में उतना व्युत्पन्न है जितना हिन्दी साहित्य में । आगे हम दिनकरजी की व्यावहारिक आलोचना का विवेचन करेंगे ।

{1} छायावाद

दिनकर जी के छायावाद संबंधी विचार "काव्य की भूमिका" में संकलित "छायावाद की भूमिका" शीर्षक लेख में उपलब्ध होते हैं । छायावाद के संबंध में दिनकर के विचार अति ध्यान देने योग्य हैं । छायावाद के उद्भव के विषय में वे कहते हैं कि "द्विवेदी युग की कविता अपेक्षाकृत नीरस और रूक्ष है । छायावाद नाम से जो आन्दोलन उठा वह मुख्यत: द्विवेदी कालीन काव्य की कल्पनाशीलता के विरुद्ध विद्रोह था ।[1]" छायावाद के पीछे रवींद्र की प्रेरणा का वे तिरस्कार करते हैं और कहते हैं कि "प्रसाद का प्रेमपथिक और माखनलाल चतुर्वेदी में रवींद्र का कोई प्रभाव नहीं है । {छायावादी} नये आंदोलन की तैयारी हिन्दी कविता के भीतर आप से आप होती आ रही थी तथा प्रसादजी और माखनलाल जी की रचनाओं तक वह हिन्दी की पूर्वागत धारा के समीप थी ।[2]" "छायावाद की भूमिका" में इसी दृढ़ता से इसलिए उन्होंने प्रसाद को छायावाद का आरंभ कर्ता माना है ।

---

1. काव्य की भूमिका - पृ.29
2. वही - पृ.31

पूर्व युगों से छायावाद की भिन्नता केवल भाषाई परिवर्तन के कारण हुआ है ।

छायावाद की प्रसाद की परिभाषा का दोष दिखाते हुए दिनकर जी यह जोड देते हैं कि "वास्तव में छायावाद की विशेषता ध्वनि और वेदना प्रियता नहीं, प्रत्युत भावुकता और कल्पना की अतिशयता तथा परिचित से दूर जाकर अपरिचित में विचरण की प्रवृत्ति थी[1] ।" आगे इस विचार को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं - हिन्दी के छायावादी आंदोलन की दो प्रवृत्तियाँ हैं - सृष्टि के रहस्यों को समझने की उत्सुकता या जिज्ञासा (बौद्धिक पक्ष), ऊँची से ऊँची सुंदरता को देखने की कामना या चाह (रागात्मक पक्ष) । इन पंक्तियों में दिनकरजी ने छायावाद की सभी विशेषताओं को निचोड़कर उसका रस प्रस्तुत किया है । छायावादी कवियों में वे वस्तुओं के भीतर प्रविष्ट होकर उनके आंतरिक सौंदर्य को प्रस्फुटित करने की अतिशय क्षमता का दर्शन करते हैं । ऊँचे साहित्य उनके मतानुसार तभी रचा जाता है कि "अनुभूति के समय भावुकता, किंतु रचना के समय बुद्धि का सहयोग, यही वह मार्ग है जिससे ऊँचे साहित्य का सृजन हो सकता है[2] ।" यह विचार उन्होंने छायावादी कविता के उपलक्ष्य में व्यक्त किया है ।

छायावाद के प्रमुख कवि प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की रचनाओं में भारत के प्राचीन अखण्ड सत्यों की अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति को वे मानते हैं । किंतु उनकी अभिव्यक्ति की शैली में वे यूरोपीय प्रभाव को देखते हैं । उनका कहना है कि "प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की कविताओं की रीढ़ भारत के प्राचीन सत्यों की अनुभूति है । केवल अभिव्यक्ति की शैली उन्होंने यूरोप की अपनाई है[3] ।" छायावादी प्रगीत पद्धति का सराहना करते हुए उन्होंने लिखा है

---

1. काव्य की भूमिका - पृ.33
2. वही - पृ.37
3. वही - पृ.38

कि 'प्रगीत काव्य का निचुड़ा हुआ रस होता है और छायावाद मुख्यतः प्रगीतों का आंदोलन था[1]।' छायावाद की जड़ें रीतिकाल में देखने वाले दिनकर कहते हैं कि छायावाद की सबसे बड़ी देन खड़ीबोली की कर्कशता को गलाकर मोम बनाना है। यहाँ उनका उद्देश भाषा के मंजे हुए प्रयोग से है जो पूर्व रचनाओं से उनका अलगाव और विशेषता को घोषित करते हैं। छायावाद के विषय में दिनकर जी के विचार गंभीर एवं प्रौढ़ है।

छायावाद और प्रगतिवाद के बीच हिन्दी में रची गई कविताओं की उन्होंने चर्चा की है। छायावादोत्तर काल की कविताओं का आरंभ दिनकर जी भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविताओं में देखते हैं। छायावादोत्तर काल की कविता की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख यों किया गया है[2]-[1] भाषा को बोलचाल के निकट लाने का प्रयास, [2] हृदय की सच्ची अनुभूति को व्यक्त करने का साहस, [3] काव्य में प्रसाद गुण की वृद्धि[2]।'

[2] छायावादोत्तर कविता

छायावादोत्तर काल की कविताओं के उद्भव के संबंध में उनका विचार सर्वथा समीचीन लगता है। उनका कहना है कि 'छायावादोत्तर काल कोई सर्वथा नवीन क्षितिज लेकर नहीं आया था, वह छायावादी प्रयोगों के ही परिपाक से उत्पन्न हुआ। दोनों से नज़दीक किंतु दूर रहना चाहता था[3]।' परिवर्तन की कामना लक्षित होती है और प्रगति उनके पीछे लक्षित होती है। दिनकर जी मानते हैं कि इन कविताओं में द्विवेदी काल और छायावादी काल की भाषा के बीच का सामंजस्य वर्तमान है।

---

1. काव्य की भूमिका - पृ.42
2. वही - पृ.46
3. वही - पृ.46

कविवर दिनकर ने छायावादोत्तर काल की कविता की सामंजस्य की प्रवृत्ति को इन शब्दों में, सही अभिव्यक्ति दी है - "भाषा की सजीवता, अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यक्ति की प्रसन्नता ये ऐसे गुण है जिनके समन्वय से कोई भी कविता सप्राण हो सकती है । छायावादोत्तर काल के कवि अपेक्षाकृत सरल, रोचक और आनंददायी निकले । छायावादोत्तर काल में, द्विवेदी काल और छायावादी काल की भाषा के बीच समन्वय दिखाई देता है । छायावादी कोमलता को अपनाई गयी[1] ।"

छायावादोत्तर काल की कविताओं के संबंध में दिनकरजी का निष्कर्ष सौ फीसदी सही प्रतीत होता है । खुद दिनकर और बच्चन की कविताओं का आस्वादन करते समय यह बात प्रामाणित होती है । भाषा और भाव की कठोरता के बीच भटकनेवाले सामान्य पाठक, कविता में प्रयुक्त अपनी भी भाषा को पहचानकर आनन्दित हो जाते हैं । छायावादोत्तर काव्य भाषाके विषय में दिनकर जी का विश्लेषण मौलिक है । यद्यपि प उनके विचार बहुत संक्षिप्त है तथापि उन्होंने छायावादोत्तर काल की कविता की आत्मा की पहचान का परिचय दिया है

{3} प्रयोगवाद

"काव्य की भूमिका" में संकलित "प्रयोगवाद" शीर्षक निबंध में दिनकर जी ने प्रगतिशील कविता के गुण दोषों की चर्चा की है । प्रयोगवाद के उद्भव के संबंध में दिनकर जी की स्पष्ट धारणाएं है । छायावादोत्तर काल या प्रगतिवादी आंदोलन के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप इस काव्यधारा का जन्म माना गया है । एक और वे प्रयोगवाद को प्रतिक्रिया एवं परिष्कार की उपज मानते हैं दूसरी ओर उसे शुद्ध साहित्यिक आंदोलन मानते हैं । इसके संबंध में उन्होंने कहा है कि " "प्रयोगवाद आदि से अंत तक, शुद्ध साहित्यिक आंदोलन है और उसका मुख्य ध्येय काव्य एवं कला संबंधी हमारी धारणाओं का परिवर्तन करना है । यह आंदोलन

---

1. काव्य की भूमिका - पृ.47

छायावाद की पीठ पर भी आ सकता था क्योंकि इसका मुख्य ध्येय अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों को स्वच्छ बनाना है और छायावाद काल में ये दोनों ही चीज़ें, अधिकांश रचनाओं में, अस्वच्छ थी।[1]" छायावादी कविता से जिसकी कामना की जाती थी, उस अपूर्ति की पूर्ति कवि प्रयोगवाद में लक्षित करते हैं। और इसे कविता के इतिहास में परिवर्तन का कारण मानते हैं। भविष्य की कविता के संबंध में कवि के मन में दृढ धारणाएं हैं। उनकी आशाओं और अभिलाषाओं को उन्होंने "कोमलता से कठोरता की ओर" शीर्षक लेख में यों प्रकट किया है - "भावि कविता केवल फूलों का मकरन्द ही नहीं, शिलाओं का दूध भी पियेगी। हम कविता में ऐसी प्राणवत्ता और गुणों की कठोरता चाहते हैं कि वह फिर से मनीषियों के अध्ययन और मनन की वस्तु बन जाय। हम उसमें कोमलता भी चाहते हैं, पर भावुकता और निरी वायवीयता से उत्पन्न कोमलता नहीं, प्रत्युत वह चमकीली और मर्म चीज़, जिसका सच्चा उपमान मुलायम सोना ही हो सकता है।[2] वैज्ञानिक प्रगति के डोरे पर आकाश पाताल को एक करनेवाले आधुनिक युग में कविता का ढांचा उसके अनुरूप बदल जाना आवश्यंभावी है। अगला युग विचारक कवियों का युग होगा। भविष्य की कविता उसकी सजावट के कारण प्रिय नहीं होगी, उसके विचारों की उदात्तता के कारण होगी। दिनकर ने इसकी मर्मस्पर्शी सूचना दी है - "भावि कविता शैली के कारण पूजी नहीं जायगी। उसकी पूजा का कारण यह होगा कि वह मनुष्य के आत्मनिरीक्षण की कविता होगी, वह अपने अस्तित्व के भीतर आप निमग्न होने की कविता होगी, वह मनके भीतर चलनेवाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की कविता होगी। उस कविता में मिठास और रंगीनी कम बौद्धिक चिंतन की कठोरता अधिक होगी। वह कवि मानस की अस्पष्ट अधिक छाया बनकर ही रह जाय। किंतु हर हालत में, वह हमें विचारों की उत्तेजना देगी। भविष्य की कविता गाने और सुनाने की चीज न होकर, पढने और सोचने समझने की वस्तु होगी। उसकी कल्पना सूक्ष्म कल्पना और उसके भाव कठोर चिंतन के भाव होंगे।[3]"

---

1. काव्य की भूमिका - पृ.65
2. वही - पृ. 84
3. वही - पृ.103

कवि समय के साक्षी हैं - अतः कविता में युगानुकूल परिवर्तन एवं परिवर्द्धन की इच्छा उनके अनुकूल है । दिनकर को अच्छी तरह मालूम है कि आधुनिक युग के मानव यंत्र चालित है और इसलिए उन्हें कल्पनाशील वायवीय कविताओं का आस्वादन करने को फुर्सत नहीं मिलेगी । विचारों की कविता मानव के आत्मनिरीक्षण की कविता होगी । इसलिए उसमें कविता की आग ज़रूर उठेगी, वह आग चिंतन या अनुभूति के रूप में प्रकट होगी । कवि के मन में उठनेवाली यह आग, उनके अनुसार, शुद्ध कल्पना से अधिक समृद्ध होगी ।

"प्रयोगवाद", भविष्य की कविता "कविता ज्ञान है या आनंद" ऐसे लेखों के द्वारा दिनकरजी ने आधुनिक युग की कविता की असली पहचान का दिशा निर्देश किया है । उनके द्वारा की गई यह भविष्यवाणी, कविता के संबंध में आज सार्थक होती जा रही है । किंतु कविता इस दिशा में कितनी सफल हुई है और हो रही है, यह अधिक विचारणीय विषय बन गया है । किंतु हम निस्संदेह कह सकते हैं कि दिनकर जी के काव्य संबंधी विचार, विशेषकर प्रयोगवादी कविता संबंधी विचार, विशेषकर प्रयोगवादी कविता संबंधी विचार, एक अच्छे कवि आलोचक के रूप में, हिन्दी साहित्य में उनका स्थान और भी प्रज्वलित करता है । कवि और आलोचक होने के नाते उनका विचार भविष्य के लिए उज्ज्वल मार्ग दर्शन करेगा ।

साहित्यिक वादों, काव्यविधाओं और काव्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कविवर दिनकरजी ने अपने समसामयिक कवियों तथा उनकी रचनाओं का सही मूल्यांकन करने का प्रयास किया है । इस दिशा में उनके द्वारा रचा गया ग्रंथ "पंत, प्रसाद और मैथलीशरण" विशेष उल्लेखनीय है । इस पुस्तक के संबंध में डॉ॰ आनंद प्रकाश दीक्षित का कथन ध्यातव्य है - "पंत प्रसाद और मैथलीशरण", इन तीनों के सहारे उन्होंने द्विवेदीकाल से छायावाद और उसके बाद उस सीमा तक की दूरी नापने का भी प्रयत्न किया है जहाँ पहुँचकर पंत विचारक की भूमिका अपना लेते हैं ।[1] आगे हम इसका विवेचन करेंगे ।

---

1. समीक्षा, दिनकर स्मृति अंक 11-12, मार्च-अप्रैल 1975, पृ॰160

§1§ मैथिलीशरण गुप्त

दिनकर ने मैथिलीशरण गुप्त को पुनरुत्थानवादी कवि के रूप में अधिक आदर दिया है । साफ जाहिर है कि वे उनके बौद्धिक पक्ष की प्रशंसा करके, समय सापेक्षता में उनका महत्व अंकित करते हैं । पुनरुत्थान को उन्होंने नई मानवता के वैचारिक आंदोलन के रूप में पनपे विचारों के संगम से नवीन भारत के व्यक्तित्व की पुष्टि में सहायक माना है । पुनरुत्थानवादी आंदोलन के सबसे बड़े परिणाम उनकी दृष्टि में तीन हुए - प्रवृत्ति का उत्थान, बुद्धि की स्वतंत्रता, और नारियों की मर्यादा वृद्धि । प्रवृत्ति के उत्थान की जड़ें उन्हें गीता के कर्म योग में दिखाई दी, जिसे तिलक के "गीतारहस्य" से उस काल में विशेष बल मिला । यह पुनरुत्थान एक ओर बंगाल की भूमि से रवींद्र की कविता की माध्यम से यहाँ आया और दूसरी ओर गुजरात से दयानंद और आर्य समाज के माध्यम से । गुप्तजी स्वयं सनातनी संस्कारों के होकर भी दयानंद की प्रवाह की लपेट में आये बिना न रह सके । अंग्रेजी के अनभिज्ञ गुप्तजी दयानंद के उपदेशों की ओर मुड़ गये । रवींद्र ने प्राचीन भाषा में लिखी, गुप्तजी ने नई भाषा में । गुप्त जी की रचनाओं में उनके प्राचीन संस्कार और नवीन दृष्टि इस प्रकार घुल मिलकर उपस्थित हुए है कि दिनकर की दृष्टि में "वे ऐसे कवि है जिनमें भारत की परंपरा अभी तक सर्वाधिक जीवित और चैतन्य है तथा दूर से देखने पर वे नवीनता नहीं, प्राचीनता के प्रतिनिधि मालूम होते हैं ।[1]" दिनकर गुप्तजी को हिन्दी के सबसे बड़े कवि मानते हैं उनके अनुसार गुप्तजी की सभी रचनाएं उस समय को ध्यान में रखकर विरचित लगती हैं । समय सापेक्षता की पृष्ठभूमि में गुप्तजी के महत्व का आकलन करने का स्तुत्य कार्य दिनकरने किया है । दिनकर जी ने अपनी आलोचनाओं के द्वारा एक स्वस्थ मार्ग खोल दिया है । इसी प्रसंग में आनंद प्रकाश दीक्षितकी ये पंक्तियाँ मुझे समीचीन लगती हैं - "किंतु सजग आलोचक उन्हीं बंधी बंधाई सरणियों से न चलकर

---

1. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण

अपनी दृष्टि के सहारे इस क्षेत्र में भी नये पथ खोज लेता है जिससे उसकी आलोचना नीरस तथ्यों की परिगणना से हटकर सर्जन का सुख देने लगती है।[1]"

§2§ जयशंकर प्रसाद

पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण दिनकर की प्रौढ रचना है जिसमें उन्होंने इन तीनों के सहारे द्विवेदी काल से छायावाद और उसके बाद की काव्य विधाओं का अध्ययन करने का प्रयास किया है। दिनकर ने प्रसाद के विषय में कवि के रूप में नहीं, उनकी महत्वपूर्ण रचना "कामायनी" के विषय में अपना सुचिंतित मत प्रकट किया है। फिर भी उन्होंने कामायनी के कवि को उसके काल संदर्भ में अवश्य प्रस्तुत किया है। कवि से हटकर कृति को विषय बनाने के कारण उनकी पकड रचना की बारीकियों पर गहरी हो गई है।

कामायनी के लेख में दिनकर के व्याख्याकार और गुण दोष की परख करनेवाले प्रखर आलोचक का सम्मिलित रूप दिखाई देता है। इस लेख में दिनकर ने कवित्व को उसकी सारी प्रासंगिकता के साथ कसौटी पर कसा है, कलात्मक निर्वाह, समकालिक चेतना और कवि के उद्दिष्ट दर्शन के आधार पर कामायनी की परीक्षा की है। और उसे सम्पूर्ण गुण दोषों के साथ छायावाद का सम्पूर्ण उदाहरण माना है। कामायनी की प्रशंसा केलिए दिनकर को मुख्यतः कथा संधान, विराट कल्पना और उदात्त रूप चित्रण की कुशलता जान पडी है और दोष अधिकांशतः भाषा प्रयोग में और प्रसाद के चिंतन में दिखाई दिये हैं। कामायनी श्लाघ्य अपने महाकाव्य के कारण नहीं है, अपने कवित्व के कारण है जो यत्र तत्र सभी सर्गों में दिखाई पडता है, किंतु उसका सघन परिचय श्रद्धा, काम और लज्जा सर्गों में विद्यमान है। कामायनी की भाषा की असमर्थता पर उन्होंने लिखा है, कामायनी में खडीबोली का जितना असमर्थ रूप प्रकट हुआ है, उतना असमर्थ रूप

1• समीक्षा, दिनकर स्मृति अंक 11,12, मार्च-अप्रैल 1975 - पृ•160

किसी और काव्य में नहीं मिलता । कामायनी के विषय में व्यक्त किये गये विचार कामायनीकार प्रसाद के संबंध में किये गये विचारों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि कवि और कृति अलग नहीं होते । दिनकर ने एक तटस्थ आलोचक के रूप में कामायनी की परीक्षा की है । जहाँ उन्हें दोष दिखाई दिये वहाँ उन्होंने उसे खुलकर बता दिये । और जहाँ प्रशंसा करने का मौका मिला वहाँ उन्होंने उसका सदुपयोग किया । प्रसाद और उनकी कामायनी के विषय में लिखी दिनकर की आलोचना में उनके निर्णयात्मक आलोचक का रूप उभर आया है । सचमुच उनकी आलोचनाएं उनके सर्जन के समान सुंदर एवं चिंतोद्दीपक बन गई हैं ।

{3} सुमित्रानंदन पंत

प्रत्येक कवि के जीवन दर्शन में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आना स्वाभाविक है । पंतजी के विषय में आलोचकों की धारणा रही है कि उनका विकास छाया प्रगति और दर्शन के तीन पृथक और क्रमिक चरणों में हुआ है । किंतु दिनकर "युगवाणी" से ही उसके विकास का संबंध जोड़कर केवल दो चरणों की मान्यता स्वीकार करते हैं । यों तो पंतजी का विचारक रूप "ज्योत्स्ना" से सामने आ गया था और "युगांत" में उनकी क्रांतिकारी तथा सुधारवादी प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी, किंतु अरविंद से प्रभावित होने से भी पहले से "युगवाणी" के प्रकाशन काल से लेकर आज तक जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसे समझने में युगवाणी" कुंजी का काम देती है । पंतजी का विकास एक स्वाभाविक गति से होता रहा है, उनके विचारों में क्रांति जैसी घटना नहीं हुई है, यह दिनकरजी की मान्यता है । युगवाणी में मार्क्स की प्रशंसा, अरविंद के कर्म मार्ग से मुक्ति, ये दोनों मार्क्स के समाज का मोक्ष दर्शन, गांधीजी का समाज सेवा से प्राप्त वैयक्तिक मोक्ष दर्शन में सम्मिलित है, इसकी खोज में पंत तत्पर थे । इस ओर उनका प्रयाण स्वाभाविक था ।

इसलिए कि वे सौंदर्यवादी थे । पंतजी के नारी चित्रण में अनैतिकता का अभाव है इसलिए दिनकर उसे मानते हुए कहते हैं - "उन्होंने नई नैतिकता के जो सिद्धांत निकाले हैं उन्हें मैं समाज केलिए उपयोगी मानता हूं और मेरा अनुमान है कि उसके प्रचलन से दम्पतियों के जीवन में सुख और शांति की वृद्धि होगी[1] ।" पंत की आशा एवं आस्थावादी रचनाएं, उनके मन में, यह विश्वास जागृत करती हैंकि आगे की पीढ़ियां उन्हें अवतारी, संदेशवाहक रूप में याद करेंगी, अन्यथा उत्थानवादी तो मानेंगी ही[2] ।" "अनिमा" की भाषा का दिनकर ने "अपरिचित को व्यक्त करने की बेचैनी से आक्रांत भाषा" कही है ।

पंतजी का विवेचन उनके दृष्टिकोण के विकास के आधार पर करने के कारण सहानुभूति पूर्ण दिखाई पड़ता है । पंतजी में कवि के विचारक पक्ष का दिनकर ने अपने अध्ययन का विषय बनाया है । और इस भूमिका निभाने में पंतजी की रचनाएं किस सीमा तक उपयोगी बनी है, इसका सूक्ष्म निरीक्षण भी उन्होंने किया है । अंत में हम दिनकर की आलोचनाओं का यह अध्ययन, आनंद प्रकाश दीक्षित के निम्न पंक्तियों से समाप्त करना उचित समझते हैं - "कामायनी की अ आलोचना का खट्टा मीठा स्वाद और गुप्त तथा पंत की आलोचनाओं का सहानुभूतिपूर्ण स्वर जो दोनों कवियों के भाषा प्रयोगों को नज़र अंदाज करके चलने के कारण उक्त आलोचना की तुलनामें अधिक सहानुभूति पूर्ण लगने लगता है, दिनकर की भिन्न मुखी क्षमताओं को उद्घाटित करता है[3] ।"

निष्कर्ष

दिनकर की काव्यालोचना के अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उनकी धारणाएं अधिक स्पष्ट एवं व्यापक है । काव्यांगों के विवेचन में, विशेष:

1· पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण

2· वही

3· समीक्षा, दिनकर स्मृति अंक - पृ·164

काव्य प्रयोजन में, उनकी मौलिक उद्भावना उभर आती है। पंत, प्रसाद, मैथिलीशरण जैसे समसामयिक कवियों तथा उनकी कृतियों के विवेचन में दिनकर की भिन्न मुखी कुशलता दृष्टिगत होती है। कामायनी की परीक्षा करते हुए उन्होंने उसकी भावाई भूल चूक का निर्देश किया है। संक्षेप में कहें तो दिनकर की आलोचना हिन्दी साहित्य को समझने में सहायक सिद्ध हुई है।

हरिवंशराय बच्चन की आलोचना

छायावादोत्तर वैयक्तिक काव्यधारा के प्रमुख कवि के रूप में हरिवंशराय बच्चन का नाम हिन्दी साहित्य में विशेष उल्लेखनीय है । उन्होंने हिन्दी कविता जो छायावाद के कल्पनामय, वायवीय, मांसलता प्रधान घेरे में चक्कर काट रही थी उससे मुक्त करके उसको सुखदुखमय मानव जीवन की सच्ची अनुभूतियों से भर दिया । यह उनकी मौलिक देन है । कवि के रूप में उनकी लोकप्रियता का कारण उनकी कविताओं की रमनीयता है जो सब प्रकार के पाठकों को आकर्षित करती है । वे अच्छे कवि है, साथ ही अच्छे आलोचक भी । उनकी आलोचन-कृतियाँ अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है फिर भी "क्या भूलूं, क्या याद करूं, "नीड का निर्माण फिर भी" "बसेरे से दूर" जैसी उनकी आत्मकथात्मक कृतियों में उनके साहित्य संबंधी विचार बिखरे पडे हैं । इसके अतिरिक्त बुद्ध और नाचघर, आरती और अंगारे आधुनिक कवि-7 जैसी काव्य रचनाओं की भूमिकाओं में उनके विचारक का प्रखर रूप देखने को मिलता है । उन्होंने समय समय पर अनेक निबंध लिखे हैं जिनमें साहित्य तथा साहित्यकार से संबंधित उनके विचार लक्षित होते हैं । आगे हम बच्चन जी की आलोचना का विवेचन करके देखेंगे कि हिन्दी आलोचना के विकास में उनकी आलोचना की क्या देन है ?

बच्चन की सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना के अंतर्गत बच्चन जी ने निम्न लिखित विषयों पर अपना विचार व्यक्त किया है -

।1। सृजन के क्षण

भारतीय साहित्य में, विशेषकर संस्कृत साहित्य में काव्य के सभी अंगों का विस्तार से विवेचन किया गया है । किंतु कवि कर्म के संबंध में, काव्य रचना के अवसर पर कवि की मानसिक दशा का विश्लेषण संस्कृत के आचार्यों ने नहीं किया है ।

इसे उन्होंने अछूते ही छोड दिया है । यह एक निर्विवाद सत्य है कि काव्य की रचना प्रक्रिया वस्तुत: एक जटिल समस्या है । शायद, मुझे लगता है, यह गूंगे के गुड के समान है । सृजन के क्षणों में, कवि अपनी आंतरिक तनाव तथा संघर्ष का अनुभव कर सकता है, अभिव्यक्त नहीं कर सकता । भारतीय साहित्य की तुलना में, पाश्चात्य साहित्य में इस दिशा में कार्य हुआ है । टी॰एस॰ इलियट, पेम वारन अलन टेट जैसे साहित्यकारों ने वैज्ञानिक आधार पर इसका विवेचन किया है । हिन्दी साहित्य में, आधुनिक युग के साहित्यकारों में विशेषत: कवियों ने, काव्य रचना के इस अछूते अंश को, उनके अकथनीय मानसिक संघर्ष को, वाणी देने का प्रयास किया है । आधुनिक साहित्यकार कवि-कर्म में कवि के व्यक्तित्व का असंदिग्ध रूप में स्वीकार करते हैं, शायद यही उनके विवेचन का मूल कारण रहा होगा । छायावादी कवियों ने इस जटिल मानसिक प्रक्रिया का परामर्श करके छोड दिया है । किंतु बच्चन ने इस रचना प्रक्रिया का रहस्य उद्घाटित करने का अधिक प्रयत्न किया है । उनकी आत्मकथा के "बसेरे से दूर" नामक भाग में उन्होंने इसका प्रतिपादन किया है ।

काव्य की रचना प्रक्रिया वस्तुत: एक जटिल समस्या है, यह सब स्वीकार करते हैं । कहा जाता है कि कवि की अनुभूति उसके अंतर्मन में घनीभूत होकर एक विशेष मानसिक स्थिति में अभिव्यक्त होने के लिए विवश हो जाती है । इस स्थिति को बच्चन ने यों व्यक्त किया है - "सृजन का क्षण सर्जक को अपनी सृष्टि में इतना डुबोनावाला होता है कि उसे वह ज्ञान ही नहीं रहता कि वह किस मनस्थिति में है । सृजन बडी पेचीली प्रक्रिया है और मन पारे से भी अधिक चंचल । सृजन आरंभ होते ही माध्यम कोई भी हो, सर्जक अपनी सृष्टि का अंग बन जाता है, और मेरा ऐसा अनुभव है, वह अपने मन की स्थिति का न स्वामी रह जाता है, न दास, न भोक्ता ही ।[1]" बच्चन की राय में

---

1. बसेरे से दूर - बच्चन - पृ॰103

अनुभूतियों के आलोड़न विलोड़न से उद्विग्न मन विश्रांति पाने केलिए सृजन करता है । मानसिक विश्रांति को और भी स्पष्ट करने केलिए वे उसकी अंग्रेज़ी शब्द कम्पोज़ से तुलना करते हैं - "अंग्रेज़ी में सृजन केलिए एक शब्द कम्पोज़ करना भी प्रयुक्त होता है, विशेष कर संगीत के संदर्भ में । कम्पोज़ होने का अर्थ विश्रांति पाना भी है । शायद कम्पोज़ स्थिति पाने के लिए मन कम्पोज़ करना आरंभ करता हो या कम्पोज़ करते करते मन कम्पोज़्ड (विश्रांत) हो जाता हो[1] ।" कवि के मन में सृजन के वक्त एक प्रकार की खिंचाव, तनाव अथवा उद्विग्नता की स्थिति पैदा होती है । यह स्थिति क्यों होती है और इसे क्या कहे, यह बच्चन के ही शब्दों में "अनप्रकथनीय" (अनप्रेडिक्टेबल) है । कवि का उद्विग्न मन विश्रांति पाने केलिए सृजन करता है । विश्रांति पाते पाते उसके मन में एक तनाव पैदा होती है, जिसे बच्चन - "कलात्मक तनाव-भाव और अभिव्यक्ति के माध्यम के बीच की तनाव कहते हैं[2] ।" इस कलात्मक तनाव की स्थिति बच्चन के मत में, विश्रांति की स्थिति से अधिक जीवंत है । वे कहते हैं कि "यह भी हो सकता है कि सर्जक वास्तविक तनाव के अभाव में तनाव का रस पाने केलिए अपने केलिए अपने को एक कलात्मक तनाव में डाल देता हो - विश्रांति की स्थिति से तनाव की स्थिति अधिक जीवंत है[3] ।" कला अनुभूतियों का, किसी इंद्रीय ग्राह्य माध्यम में रूपांतरण है । यह रूपांतरण वह जादू है जो अनुभूतियों को मस्तिष्क के उस स्तर से उठाकर जहाँ वे भोगी झेली जाती हैं, उस स्तर पर ले जाता है जहाँ उनका आस्वादन किया जाता है । यह आस्वादन की प्रक्रिया कहीं संतोष, आनंदप्रद और कहीं शांतिदायिनी हो जाती है । मानवीय अनुभव की अपूर्णता कला के माध्यम से पूर्णता पाती है । जीवन कटु मधुर अनुभूतियों से मुक्त नहीं है । पर इस भार को वहनीय और सुखद बनाने में सबसे अधिक योगदान कला ने दिया है ।

---

1. बसेरे से दूर - बच्चन - पृ.103
2. वही - पृ.104
3. वही - पृ.104

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि बच्चन जी रचना प्रक्रिया में दो स्थितियाँ मानते हैं - एक विश्रांति की स्थिति, और दूसरा सृजनात्मक तनाव की स्थिति । कवि का उद्विग्न मन विश्रांति पाने केलिए तड़प उठता है और फल-स्वरूप वह सृजन करने लगता है । दूसरी स्थिति में भाव और अभिव्यक्ति के बीच का संघर्ष है, जिसे मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति का खतरा कहा है ।

[2] काव्य का स्वरूप

काव्य के स्वरूप के विषय में बच्चन जी ने संक्षिप्त विचार प्रकट किया है । उन्होंने भाव सम्पन्नता और रागात्मकता को कवि के मूल गुण माना है - "कविता सचमुच पाठक और कवि के हृदय को जोड़ने का साधन है, या एक मानव-हृदय को जोड़ने का साधन है, या एक मानव-हृदय को दूसरे मानव के हृदय के साथ ।"[1] कवि अपने मन की अनुभूतियों की रचनात्मक अभिव्यक्ति करता है और सहृदय पाठक अपनी कल्पना के बल पर उसे तादात्म्य स्थापित करता है । अर्थात् कवि की रचना में, वह शक्ति की आवश्यकता होती है जो पाठकों के मानसिक वृत्तियों को जागृत करने की क्षमता रखती है । कविवर बच्चन जीवन के प्रति बड़े आस्थावान हैं । उनके अनुसार काव्य का जीवन से निकट संबंध है और यह पाठकों को अनुप्राणित करके उनके ही वाणी का अनुगूंज बन जाती है । यह प्रवृत्ति साधारणीकरण से मिलती जुलती है ।

कवि के भावों को अपने अंदर समेटने की शक्ति भाषा में होनी चाहिए । अर्थात् भावानुगामिनी भाषा कविता की शोभा बढ़ाती है । संक्षेप में बच्चन के अनुसार काव्य वह रचना है जिसमें अनुभूति की तीव्रता, भावों की सजीवता, स्वाभाविकता, भावना और अभिव्यंजना की सहकारिता तथा रागात्मकता की प्रधानता हो ।

---

1. सोपान, भूमिका - पृ.8

{3} काव्य की आत्मा

बच्चन जी ने रस को काव्य का आंतरिक गुण माना है - "रस सुधा स्वर में उतराया, वह गीत मैं ने क्या गाया।[1]" रस विहीन कविता से कवि को आत्मसुख नहीं मिलेगी। यह तथ्य उनकी सभी रचनाओं के मूल में ढूढ सकते हैं। उन्होंने काव्य की आत्मा के रूप में दूसरे सम्प्रदायों का उल्लेख नहीं किया है। इस से यह जाहिर है कि वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। शुष्क सत्य की अपेक्षा रस स्निग्ध मधुर कल्पना कवि को पसंद है - "गुह ज्ञानी चाहिए तो रस सिद्ध कवि भी।[2]" अर्थ गरिमा से युक्त काव्य रस सम्पन्न होगा, इसलिए वे आदि कवि का नमस्कार करते हैं - "

"रस अर्थरहित ध्वनियों में मैं क्या गाऊँ।
तमसा तट के कवि, तुमको शीश नवाऊँ।[3]"

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि रस की साधना कवि का मुख्य उद्देश है। यह परंपरा सम्मत काव्य सिद्धांत है।

{4} काव्य-हेतु

काव्य हेतु के अंतर्गत बच्चन ने पुराने मान्य प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास की चर्चा की है इसके अतिरिक्त प्रेम से प्राप्त प्रेरणा को उन्होंने व्यक्त किया है। यह उनकी अपनी मौलिक स्थापना है। कवि प्रतिभा नैसर्गिक होती है। बच्चन जी कहते हैं कि "कभी कभी कविता लिखने केलिए हृदय में आवेग उठता है और वह रोका नहीं जा सकता।[4]" बच्चनजी के अनुसार काव्य सर्जन कोई अनायास कार्य नहीं है।

---

1. आरती और अंगारे - पृ. 197
2. मधुकलश - पृ. 62
3. आरती और अंगारे - पृ. 32
4. हालाहल, कृति परिचय - पृ. 15

उसकेलिए व्युत्पत्ति और लोक दर्शन की आवश्यकता है। आधुनिक कवि-3 में वे लिखते हैं कि "कविता की ठीक समझदारी केलिए दो तथ्यों पर दृष्टि रखना आवश्यक है - कवि के व्यक्तित्व और उसके परिवेश पर।[1]" इससे मालूम होता है कि कवि को लोकदर्शन और अध्ययन की आवश्यकता है। दूसरे कवियों से प्रेरणा प्राप्त करना कोई दोष नहीं है। सच्चे कवि दूसरों से प्रभावित रहता है। उनका कहना है कि "पता नहीं अन्य लेखकों का अनुभव है या नहीं, मेरा तो है कि हम कभी कभी दूसरे कवि की रचना पढकर कविता लिखने को प्रेरित होते हैं। ऐसी प्रेरणाओं से कविता लिखना अपराध नहीं है।[2]" प्राकृतिक सौंदर्य भी कवि केलिए प्रेरणा प्रदान करता है। प्रेम काव्य की प्रेरणा का एक मौलिक आधार है। बच्चन की यह स्थापना, काव्य हेतु की चर्चा में उनका नाम अमर बना देती है कवि दिनकर ने भी इसकी महत्ता की घोषणा की है।

[5] काव्य का प्रयोजन

बच्चन जी ने काव्य के आंतरिक प्रयोजन का अत्यंत संक्षिप्त वर्णन किया है। काव्य रचना आनंददायक है, सर्जक एवं पाठक दोनों केलिए। काव्य रचना से कवि अपने मन को शांति प्रदान कर सकते हैं। बच्चन कहते हैंकि कवि अपनी विह्वल वाणी से अपना व्याकुल मन बहलाता।[3]" अनुभूति की अभिव्यक्ति से कविता इस हद तक पहुंच जाती है कि वह सब केलिए आनंद दायक होती है। बच्चन के अनुसार "किसी भी रचना की सार्थकता तभी सिद्ध होती है जब जनता उसे खरीदे, पढे और उसका रस ले।[4]" लोक हित का भी इन्होंने विवेचन किया है सहृदय होना सच्चे आस्वादक की कसौटी है।

---

1. आधुनिक कवि - पृ.4
2. वनफूल, कन्हैयालाल सेठिया, भूमिका से।
3. एकांत गीत - पृ.73
4. मधुशाला, भूमिका- पृ. 5

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि बच्चन ने आनंद की प्राप्ति और लोक हित की संरक्षा काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है । कवि अपनी रचना के द्वारा समाज के हित की अभिव्यक्ति करता है, उन्हें आनंद मिलता है, साथ ही पाठकों को । पाठक काव्यास्वादन से अपने व्यक्तित्व का संस्कार करता है । ये सारी स्थापनाएं पूर्व कवियों को मान्य रही हैं ।

[6] काव्य के तत्व

बच्चन जी ने अनुभूति को काव्य का मूलभूत तत्व माना है, किंतु कल्पना की उपेक्षा नहीं की है । उनकी प्रारंभिक रचनाओं में कल्पना की प्रमुखता दिखाई देती है । काव्य मानव जीवन की अभिव्यक्ति है । उसके सुख दुखों का रागात्मक संगीत है । "आरती और अंगारे" में वे गाते हैं - मैं ने जीवन देखा, जीवन का गान किया, और गीत वही बाँटेगा सबको, जो दुनिया की परिर सके ले ।"[1] अनुभूति की तीव्रता काव्य को अधिक संवेदनशील और हृदयाकर्षक बना देती है ।

कल्पना उसकेलिए, अभिव्यक्ति कौशल की जान तथा प्रमाता को आनंद दिया देने वाले सहायक विधान मात्र है । बच्चन की रचनाओं में केवल कल्पना का प्रसार नहीं, वह सत्य के आलोक से पूर्ण है । इसलिए उन्होंने काव्य में अनुभूति का सहज स्वाभाविक चित्रण पर बल दिया है ।

[7] काव्य के भेद

काव्य भेदों में बच्चन ने गीत का विस्तार से विवेचन किया है । उनकी मान्यता है - प्रत्येक गीत को सर्व स्वतंत्र, अपराश्रित और अपने ही में परिपूर्ण मानकर पढ़ा या गाया जाता है और उसका रस लिया जाता है । अब यह गीतकार का

---

1. आरती और अंगारे - पृ.224

काम है कि गीतों की परिमित परिधि के भीतर ही भावों का उद्रेक और विकास कर उन्हें वांछित परिणति पर पहुँचा दें।[1] इससे गीति काव्य के दो गुण प्रकट होते हैं, एक ही भाव की स्वतंत्र और पूर्ण अभिव्यक्ति तथा उसके अध्ययन से पाठक को रस एवं आनंद की उपलब्धि।

[6] काव्य में वैयक्तिकता

काव्य के तत्वों के अंतर्गत सत्य शिवं सुंदरम् की श्रेष्ठता सभी साहित्यकारों को मान्य रहे हैं। छायावादोत्तर काल की कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वैयक्तिकता है। कवि बच्चन ने वेदनानुभूतियों की अभिव्यक्ति को वैयक्तिक कविता की प्रमुख प्रवृत्ति मानी है। कवि अपने वैयक्तिक जीवन की अभिव्यंजना करते हैं और पाठक उससे तादात्म्य स्थापित करके उसका आस्वादन करते हैं। बच्चन की ये पंक्तियाँ इसको प्रामाणित करती हैं -

मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना,
मैं फूट पड़ा, तुम कहते छंद बनाना। [मधुकलश पृ॰100]

कवि के वैयक्तिक सुख दुखों की उद्गार कविता का रूप लेती है। वेदनानुभूति की अभिव्यक्ति सत्भूति, शैली जैसे कवि के लिए इतना प्रेरणा प्रद रहा है कि शैली इसे यों प्रकट करते हैं - "करुणतम भावना को व्यक्त करनेवाले गीत सर्वाधिक मधुर होते हैं।"[2]

काव्य में अभिव्यक्त प्रत्येक अनुभूति व्यक्तिगत ही रहती है परंतु वह सार्वजनिक तभी होती है जब उसमें लोकसंग्रह की भावना निहित हो। इसके संबंध में बच्चन कहते हैं - यह तो निर्विवाद है कि कला में अभिव्यक्ति पानेवाली प्रत्येक अनुभूति व्यक्तिगत ही होती है, पर कला में अभिव्यंजित होने योग्य प्रत्येक अनुभूति को कुछ ऐसा भी होना पड़ता है जो सार्वजनिक हो।"[3] सामान्यतः एक प्रश्न

1• आरती और अंगारे - भूमिका - पृ॰11
2•

3• बुद्ध और नाचघर, भूमिका - पृ॰20-21

उठता है कि कवि की वैयक्तिक अनुभूति कैसे पाठकों को रसप्रद होगी ? इसका उत्तर गुलाबराय के निम्न कथन से प्राप्त होता है - "कवि लिखता अपने ही दृष्टिकोण से, लेकिन वह सब समान धर्मा पाठकों व श्रोताओं के आमोद और उपभोग का विषय बन जाता है इसलिए साहित्य में व्यक्तित्व को महत्व देते हुए भी साधारणीकरण की आवश्यकता हो जाती है।[1]" छायावादी कविता भी वैयक्तिकता प्रधान है किंतु उसमें एकरसता है। बच्चन की कविता में भी इसका दोष दिखाई देता है, पर वह नगण्य है।

(9) काव्य में छंद

काव्य शिल्प के अंतर्गत बच्चनजी ने छंद का स्फुट एवं स्वतंत्र विवेचन किया है। भावानुकूल छंद योजना काव्य की शोभा बढाती है। बच्चनजी कहते हैं - "कविता में भाव, भाषा और छंद का अटूट संबंध है। कोई छंद लिया जाय तो उससे संबद्ध भाव और उसमें ढली भाषा सहज ही आ जाती है। किसी विशेष प्रकार के भाव किसी विशेष प्रकार की भाषा और छंद की अवतारणा करते हैं।[2]"

उन्होंने मुक्त छंद और कतिपय विदेशी छंदों (सोनट, रुबाई, उर्दू छंद) के स्वरूप का विवेचन किया है। छंद संबंधी उनका विचार रूढिगत न होकर विकासशील है। उनके शब्दों में, "यदि काव्य जीवन का प्रतिबिंब है तो इसमें तुकांत छंद, अतुकांत छंद, और मुक्त छंद सबकी सार्थकता है।[3]" मुक्त छंद को वे कवि की स्वतंत्र चेता मनोवृत्ति का परिचायक मानते हैं। मुक्त छंद के स्वरूप के संबंध में वे लिखते हैं - "मुक्त छंद वह है जिसकी पंक्तियों में मात्रा और लय की समता रूढि न बन गई हो और न तुक पर ही आग्रह हो।[4]" मुक्त छंद में

---

1. काव्य के रूप, गुलाबराय, चौथा संस्करण - पृ.11
2. मेरा रूप और तुम्हारा दर्पण (बाल स्वरूप राही) भूमिका - पृ.4
3. बुद्ध और नाच घर, भूमिका - पृ.10
4. वही - पृ.9

लय, गद्यवत् भाषा और जीवन की उलझी समस्याओं का स्थान, उनकी अपनी मौलिक उद्भावना है। आगे वे लिखते हैं - "मुक्त छंद में लिखनेवालों का एक और भ्रम मैं दूर करना चाहूँगा कि इस प्रकार की कविता अकेले में बैठकर पढ़ने के लिए है। गंभीर से गंभीर कविता को स्वर से तलाक दिला देने की बात मेरे मन में नहीं बैठती।"[1]

मुक्त छंद के प्रयोग से काव्य भाषा और गद्य भाषा के बीच की दूरी कम हो जाती है। बच्चन लिखते हैं - "मुक्त छंद के द्वारा गद्य और काव्य की भाषा का विपर्यय भी हटाया जा सकता है।"[2] मुक्त छंद के द्वारा जीवन की विभिन्न समस्याओं को काव्य का विषय बना सकते हैं। बच्चन के शब्दों में, "अगर मुक्त छंद को यह समझकर अपनाया जाय कि जीवन की कुछ कुछ बयों, बहुत सी ऐसी समस्याएं हैं जो केवल उसके द्वारा ही मुखरित की जा सकती है तो उसके विकास और विविधता की सम्भावनाएं असीमित हैं।"[3] मुक्त काव्य में लयात्मकता, गद्यवत् भाषा और जीवन की विविध समस्याओं के प्रतिपादन का संबंधी विचार बच्चन की मौलिक चिंता का उदाहरण है। निराला ने भी लय की चर्चा की है।

विदेशी छंदों में "सोनट" के बारे में बच्चन का विचार है कि "सोनट की काया में केवल एक ही भाव या विचार समाहित किया जा सकता है।"[4] उर्दू छंद के वे विरोधी नहीं हैं। उनका कहना है कि उर्दू के छंदों को स्वीकार करने से इस बात का खतरा है कि लेखक विवशता से उर्दू के शब्द भावों की धारा में बह जाय। यह हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि हिन्दी का जन्म उसी चीज़ को

---

1. बुद्ध और नाचघर, भूमिका - पृ.20
2. वही - पृ.19
3. वही - पृ.19
4. सम्मेलन पत्रिका, भाग-41, संख्या - 4, संवत् 2012 - पृ.85

दुहराने केलिए नहीं हुआ जिसे उर्दू कह चुकी है[1]।" यहाँ उन्होंने यह स्पष्ट करना चाहा है कि विदेशी छंदों के प्रयोग की कामना में अपनी भाषा के गुणों को भुलाना नहीं चाहिए।

बच्चन ने फारसी के रूबाई छंद का मौलिक विवेचन किया है। हिन्दी में इसका प्रतिपादन करनेवाला कवि बच्चन है। रूबाई के बाह्य रूप का विवेचन करते हुए बच्चन लिखते हैं - "रूबाई का शाब्दिक अर्थ है चौपाई, चौपदा या चतुष्पदी। रूबाई एक विशेष प्रकार के छंद का नाम है जिसमें पहली पंक्ति का तुक दूसरी पंक्ति के तुक से मिलता है, तीसरी पंक्ति का तुक विभिन्न होता है और मन चौथे तुक की प्रत्याशा करता है जो फिर पहली और दूसरी पंक्ति का होता है[2]।" रूबाई के भाव पक्ष पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं - "रूबाईयात मनुष्य की जीवन के प्रति आसक्ति और जीवन की मनुष्य के प्रति उपेक्षा का गीत है। यह गीत जीवन मायाविनी के प्रति मानव का एकान्तिक प्रणय निवेदन है। रूबाइयात सुख का नहीं दुख का गीत है, संतोष का नहीं असंतोष का गान है[3]।" रूबाईयात में जीवन की मार्मिक अनुभूति को विशेषकर वेदना को वाणी दी जाती है। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दूसरे भाव इसके अनुकूल नहीं हैं। नैतिक कथनों, रोमानी भावनाओं और दार्शनिक बातों तक इसके भीतर समाहित हो जाती है। समीक्षा शास्त्र में सीताराम चतुर्वेदी ने इसका प्रतिपादन किया है। यद्यपि रूबाइयात के बारे में बच्चन का विचार अपूर्ण है तथापि वह उनके अध्यवसाय और चिंतन शीलता का प्रमाण है।

‡1‡ सुमित्रानंदन पंत

बच्चन जी ने अपने समकालीन कवियों में सुमित्रानंदन पंत के व्यक्तित्व और कृतित्व का गहरा अध्ययन छायावादी और प्रगतिवादी काव्यधारा की पृष्ठभूमि में किया है। उनका ग्रंथ "कवियों में सौम्य पंत" एक प्रौढ़ रचना है जिसमें

---

1. मेरा रूप तुम्हारा दर्पण, भूमिका - पृ.6
2. खैयाम का जाम - कमला चौधरी - भूमिका - पृ.3
3. वही - पृ.13-14

उन्होंने पंतजी के व्यक्तित्व और कृतित्व की सही पहचान की है । इसमें उनकी कृतियों की परख की गई है । इस रचना के उद्देश के संबंध में बच्चनजी कहते हैं कि "यह कवियों में सौम्य पंत श्री सुमित्रानंदन पंत के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कुछ प्रकाश डालने के ध्येय से तैयार की गई है[1] ।" पंत जी के काव्य रत्न का सच्चा रूप प्रदीप्त करने में यह ग्रंथ सफल होगा, यही उनकी आशा है ।

बच्चन जी पंत जी के कोमल सुनहले रूप से इतना प्रभावित है कि यह अचरज का भाव उनके निम्न शब्दों में व्यक्त होता है - "अगर आप 1919 और 1929 के बीच इलाहाबाद नगर में होते तो सड़क पर जाते एक युवक दिखाई देता जिसे आप कभी न भूलते । .... लंबा, दुबला, पतला, गोरा सुंदर रेशमी चमकते सूट बूट में अपने घुंघराले सुनहले बालोंवाला, जैसे किसी ने नर के धड़ पर नारी का सिर जोड़ दिया हो[2] ।" पंत जी का जन्म प्रकृति रमणीय कौसानी गांव में हुआ था । प्रकृति के प्रत्येक स्पंदन से वे बचपन से ही प्रभावित थे । पंतजी के व्यक्तित्व में लक्षित होनेवाले राग-विराग के तत्वों के विषय में प्रकाश डाल चुके हैं । इसके संबंध में बच्चन कहते हैं - "पंत जी का हृदय राग और विराग का संघर्ष है । पंतजी की कविता में यह राग और विराग चिरस्नेहालिंगन देकर बंधे हुए हैं । इन्हीं राग और विराग की लहरों पर पंतजी का तन मन प्राण सदा लहराता रहा है । पंतजी की पंक्ति पंक्ति में, कविता कविता में, रचना रचना में इसी राग और विराग की लय (रिध्म) मौजूद है और यही लय मौजूद है उनके जीवन की हर घड़ी में, हर अवस्था में, हर दशा में, मुझे इसी राग विराग की लय, इसी के संयोग, इसी के संघर्ष और इसी के संतुलन में पंतजी के जीवन और काव्य की कुंजी मिली है[3] ।"

---

1. कवियों में सौम्य पंत, भूमिका - पृ.9
2. वही - पृ.101
3. वही - पृ. 39

कलाकार का निजी व्यक्तित्व, काव्य रचना प्रक्रिया में विशेष महत्व रखता है । सच तो यह है कि अपने व्यक्तित्व की निजी असाधारण विशेषताओं के कारण ही कोई कलाकार होता है । पंतजी के व्यक्तित्व की विशेषता उनकी हर रचना में मौजूद है । बच्चन के शब्दों में - "जो उनकी कविता है वही उनका जीवन है और जो उनका जीवन है वही उनकी कविता है।[1]" आलोचकों ने पंतजी को छायावादी, प्रगतिवादी, आध्यात्मवादी कवि ऐसे अनेक नामों से पुकारा है, जो मेरे ख्याल में, उनके काव्य जीवन के विकास का द्योतक है । किंतु बच्चन जी इसके पीछे पंतजी के प्रबल विकासोन्मुख व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि "पंत जी का अपना छायावाद भी था, अपना प्रगतिवाद भी है और इसका कारण यह है कि उनका अपना व्यक्तित्व है जो किसी वाद अथवा युग के सांचे में नहीं बिठाया जा सकता ।[2]" यहाँ पंतजी को किसी वाद या युग के अतीत मानने की बच्चन की प्रबल कामना दिखाई देती है । पंतजी को वे संवेदन, मनन और चिंतनशील कवि मानते हैं । इस विचार को साबित करते हुए बच्चन जी कहते हैं कि "अपने काव्य जीवन के प्रथम काल में वे प्रधानतया संवेदनशील कवि रहे हैं । युगवाणी और ग्राम्या में वे मननशील हो गये । स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि में मुख्यतया वे चिंतन-दर्शन के कवि हैं । इसी को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैंकि वीणा से युगांत तक वे प्रधानतया भावनाओं के, युगवाणी और ग्राम्या से बुद्धि अथवा विचारों के तथा अंतिम दो रचनाओं में आत्मदर्शन के कवि है ।[3]" पंत जी के व्यक्तित्व और कृतित्व से संपृक्त रखते हुए बच्चन जी ने जो आलोचना की है वह मौलिक है ।

पंत जी की रचनाओं के मूल्यांकन में उन्होंने उनके जीवन दर्शन का उत्कर्ष देखा है । प्रत्येक रचना के संबंध में बच्चन ने अपना मत प्रकट किया है जो उनके परिपाक चिंतन परिचय देता है । पंतजी की प्रथम रचना "वीणा" में बच्चन प्रकृति ।

1.
2. कवियों में सौम्य पंत - पृ.24
3. वही - पृ.31

प्रकांक्षता में अद्भुत स्तब्ध कवि को देखते हैं। उनका कहना है कि "वीणा" में कवि ने प्रकृति को विस्मय भरी आँखों से देखा है - वह उनके सौंदर्य पर मुग्ध है, उसकी पावनता से अभिभूत है[1]।" ग्रन्थि में, उनके अनुसार कवि ने अपनी रागात्मिका वृत्ति को जगाया है। "पल्लव" में वे प्रकृति प्रेमी कवि के विस्मय के बदले उसके अनुराग ममता और सहानुभूति का दर्शन करते हैं। वे कहते हैं कि "पल्लव में भी कवि प्रधानतया प्रकृति का कवि है, परंतु अब वह प्रकृति को उन आँखों से देखता है जो प्रेम के आंसुओं से धुल चुकी हैं[2]।" "गुंजन" में पंत जी के प्रकृति प्रेम के अतिरिक्त आत्मसाधना तथा मानव प्रेम का रूप प्रकट होता है। "ज्योत्स्ना" में कवि ने मानव समाज का नया स्वप्न देखा है। और यह काव्य उनके काव्य पथ का एक नया और महत्वपूर्ण कदम है। युगांत में आकर कवि का सुकुमार रूप एकदम बदल गया। वह उग्र रूप धारण करने लगा। बच्चन के शब्दों में है कि "युगांत" में पंत का कोमल कवि पुरुष और पौरुषपूर्ण हो गया है। कवि का यह आभास होने लगा कि नये के निर्माण केलिए पुराने का नष्ट भ्रष्ट करना ज़रूरी होगा[3]।" युगवाणी और ग्राम्या में विचारों को अधिक ध्यान दिया गया है। इन दोनों रचनाओं में उनके मननशील व्यक्तित्व अधिक स्पष्ट हुआ है। "स्वर्णकिरण" और "स्वर्णधूलि" में कवि का आत्मदर्शन उसी स्तर पर आ चुका है। "कला और बूढ़ा चाँद" को बच्चन गद्य काव्य मानते हैं। इसके बारे में वे कहते हैं कि "मुक्त छंद को विकृत होते देखकर उन्होंने गद्य काव्य का पुराना माध्यम अपनाकरके उपस्थित किया है[4]।" आगे वे कहते हैं कि "कला और बूढ़ा चाँद की रचना सहज स्फुरण से प्राप्त सत्यों की अभिव्यंजना करती है[5]।

---

1. कवियों में सौम्य पंत - पृ.32
2. वही - पृ.33
3. वही - पृ.36
4. वही - पृ.167
5. वही - पृ.267

पंतजी की भाषा के संबंध में आलोचकों ने यह आपत्ति उठाई है कि वह व्याकरण सम्मत नहीं है, लचीली है । भाषा भावों का परिधान है, इसलिए उसके अनुकूल होना बहुत आवश्यक है । पंतजी की भाषा के संबंध में बच्चन कहते हैं कि "जैसे पंतजी की कविता उनके जीवन का सहज उद्गार है वैसे ही उनकी भाषा उनके भावों का स्वाभाविक परिधान है[1] ।" पंत जी के शब्दों की कठिनता पर आरोप करने वालों को वे समझाते हैं कि "पंतजी की कठिनता शब्दों की नहीं है । .... उनकी कठिनता है उनकी नवीन अभिव्यंजना की, नवीन विचारधारा की, नवीन चिंतन दर्शन की[2] ।" बच्चन के अनुसार पुरानी पीढी के लोग अपनी रूढिवादिता के कारण पंत जी के इस अभिव्यंजना सौंदर्य की सही पहचान नहीं कर सके । उनकी कविता अपने आस्वादन में, पाठकों से विकसित हृदय और मस्तिष्क की मांग करती है । अन्यथा वह अपने श्रम में सफल नहीं होगा । सूक्ष्म सहृदयता तथा साधना, साहित्य के आस्वादन में हमारा सहायक है । पंतजी की कविता के आस्वादकों से बच्चनजी कहते हैं "हम कविता से, यह उचित ही है, आनंद मांगते हैं, लेकिन कविता, और यह भी ठीक ही है, हम से साधना चाहती है[3] ।

पंतजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में बच्चनजी के विचारों का विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने पंतजी के काव्य रत्न को प्रदीप्त करने केलिए अनेक दिशाओं से उन पर प्रकाश डाला है । पंतजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का मनोयोग से अध्ययन करने के बाद यह आलोचना लिखी है । पंत काव्य को समझने में यह अत्यंत उपादेय आलोचना स्पष्ट होता है ।

---

1. कवियों में सौम्य पंत - पृ.25
2. वही - पृ.28
3. वही - पृ.48

(2) प्रगतिवाद

प्रगतिवाद के उद्भव के संबंध में बच्चन कहते हैं कि "छायावाद की परिणति स्वरूप कामायनी 1936 में प्रकाशित हुई, हृदय और बुद्धि के सामरस्य संदेश को लेकर। शरीर फिर भी उपेक्षित रहा जिसकी सुधी कुछ उत्तर छायावादी कवियों ने ली। इसी समय छायावाद की स्वप्निलता की प्रतिक्रिया में आर्थिक यथार्थ को आगे रखकर प्रगतिवाद आया।"[1] यहाँ बच्चन ने छायावाद की एक बड़ी कमी की ओर इशारा किया है और प्रगतिवाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति की ओर भी। प्रगतिवाद के आर्थिक पक्ष का वे खुले हृदय से समर्थन करते दिखाई देते हैं। किंतु उसके एक विशेष राजनीतिक विचार धारा से प्रतिबद्ध होने में आपत्ति देखते हैं। इसलिए उसे विशुद्ध प्रचारवादी आंदोलन मानते हैं। "राजनीति की एक विशेष विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के कारण उसके आंतरिक विकास की कोई दिशा नहीं थी, बाह्य शिल्प की ओर उसका किसी प्रकार का आग्रह नहीं था। इस प्रकार यह प्रगतिवादी आंदोलन अगतिवादी सिद्ध हुआ और शिथिल पड़ने लगा।"[2] कला की पूर्णता उसके भाव पक्ष और कला पक्ष के सामंजस्य में रहती है, यह सच है। इस का अभाव प्रगतिवादी साहित्य में बड़ी पैमाने पर हुआ है। उनका बाह्य रूप यों कहें, निष्प्राण ही था। बच्चन का यह निष्कर्ष सत्य का अधिक निकट है। किंतु किसी विचार धारा से प्रतिबद्ध होना कविता केलिए आपत्तिजनक है, यह कहना संगत नहीं लगता।

(3) प्रयोगवाद

प्रत्येक युग में हम देखते हैं कि साहित्यिक विचारधारा में परिवर्तन आ जाते हैं। यह परिवर्तन कई कारणों की उपज है। कथ्य के बदल जाने के कारण उसका पुराना ढाँचा यानी फार्म असमर्थ हो जाता है। फल स्वरूप कवि अपनी आंतरिक अनुभूतियों की सक्षम अभिव्यक्ति के अनुकूल नये ढाँचे का निर्माण करता है।

---

1. टूटी छूटी कड़ियाँ - बच्चन - पृ.39
2. वही - पृ.40

प्रयोगवादी नयी कविता की कलात्मक क्रांति को, बच्चन इसी अर्थ में समर्थन करते हैं। वे लिखते हैं कि " प्रयोगवादी कविता ने, जिसने आगे चलकर नयी कविता का रूप लिया, परंपरागत अपने पूर्ववर्ती सभी छंदों का परित्याग कर दिया। छंदों का बंधन तो निराला ने भी तोड़ा था, पर वे लय में बंधे थे। नयी कविता ने लय का बंधन भी नहीं माना। वे अधिक शुद्ध गद्य की लय के समीप हैं। कहने का तात्पर्य है कि कविता कुछ ऐसी चीज़ है जो अपने ढांचे से स्वतंत्र है। यहीं से शुद्ध कविता यानी प्युर पोयट्री की खोज शुरू होती है[1]।" नयी कविता में छंद के प्रति जो विद्रोह है, उसे बच्चनजी एक साहित्यिक अनिवार्यता मानते हैं। क्योंकि कविता के आंतरिक परिवर्तन के साथ उसके बाह्य ढांचे का बदल जाना स्वाभाविक है। कविता को किसी ढांचे में कैद करना अन्याय है क्योंकि यह उसके आंतरिक विकास यानी विचारपक्ष को दुर्बल कर देगा। नयी कविता ने छंद के बंधन को ही नहीं तोड़ा उसकी लय को भी। वह गद्य के अधिक निकट पहुंच गयी। नयी कविता के इस बाह्य संघर्ष को हार्दिकता से उन्होंने अपनाया।

निष्कर्ष

बच्चन जी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना, उनकी काव्यरचनाओं के समान समृद्ध और स्वादिष्ट है। सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत काव्य के तत्वों में उनकी आलोचना क्रमशः अधिक विकसित दिखाई देती है। वैयक्तिकता के स्पर्श से उनकी काव्य मान्यताएं अधिक झलकती हैं। काव्य के छंदों में, विदेशी छंद, स्वराघात, उर्दू-छंद आदि का विवेचन, उनकी विद्वता का परिचायक है। रचना प्रक्रिया के विषय में बच्चनजी का विचार अत्यंत मूल्यवान है। इसमें "विभाति की स्थिति" और कलात्मक तनाव" की स्थिति की उद्भावना उनके मौलिक चिंतन की उपज है। छायावाद, प्रगतिवाद, और प्रयोगवाद का उनके विचार प्रौढ तथा गंभीर है। कवि पंतजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का उनका अध्ययन, कवि के काव्य जीवन पर अधिक प्रकाश डालता है, जिससे पाठक पंतजी का तटस्थ एवं सही मूल्यांकन कर सके। साथ ही पंतजी से उनकी गहन आत्मीयता की घोषणा करती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उनकी आलोचना, उनकी कविताओं के समान हिन्दी के आधुनिक साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

---

1. टूटी छूटी कड़ियाँ - बच्चन - पृ.41-42

भगवतीचरण वर्मा की आलोचना

बच्चन जी की आलोचना की तुलना में श्री॰ भगवतीचरण वर्मा की आलोचना, हिन्दी आलोचना के विकास में कम महत्वपूर्ण नहीं है । यद्यपि वर्माजी के काव्यशास्त्रीय [सैद्धांतिक] विवेचन उतना महत्वपूर्ण नहीं है तथापि उन्होंने यथायोग्य उसमें वैयक्तिक चिंतन से, अपनी मौलिकता का परिचय दिया है । इसी कारण उनकी आलोचना संबंधी मान्यताएं विशेष पठनीय हैं । आगे हम उनकी सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना का विवेचन करेंगे और देखेंगे कि हिन्दी काव्यालोचना के विकास में उनका क्या योगदान है ।

सैद्धांतिक आलोचना

भगवती चरण वर्मा ने काव्यालोचना का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है । उनके विचार समय समय पर आविष्कृत हुए है । साहित्य के सिद्धांत तथा स्वरूप उनका एक संकलन है जिसमें काव्य सृजन से लेकर काव्य विधाओं तक का अध्ययन किया गया है । इसके अलावा, सरस्वती, आजकल, विशाल भारत जैसी पत्रिकाओं में उनके विचार प्रकाशित हुए है । उन्होंने कवियों काव्यधाराओं तथा साहित्य की अन्य विधाओं पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकट किये हैं ।

काव्यांगों में वर्माजी ने निम्न तत्वों का विवेचन उपस्थित किया है ।

[1] काव्य का स्वरूप

भगवतीचरण वर्मा ने काव्य के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है । उनके अनुसार साहित्यकार को अपना विशेष दृष्टिकोण रखना चाहिए, वाद-विवाद से मुक्त रहना चाहिए । सहज आस्था के कारण रचित काव्य, युगांतकारी हो

सकता है । उनके मन में साहित्यकार का बड़ा दायित्व है - "महान कलाकार युग का निर्माता हुआ करता है[1] ।" जीवन बेमूल्य नहीं, अत: उससे उदासीन न होना । काव्य में जीवन की गरिमा का उद्घाटन, जीवन की विविधताओं की अभिव्यक्ति नवीनता लाये बिना नहीं रह सकती । महादेवी की यामा की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है - "कला में ताजगी की बहुत बड़ी आवश्यकता है । उसी कलाकार की देन आज महत्व की समझी जायगी जो जिन्दगी के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाल सके[2] ।" जीवन की स्वस्थ, स्वाभाविक और मौलिक अभिव्यक्ति ही काव्य का आदर्श है । काव्य में भाव कथन की गरिमा प्रत्येक कवि का काम नहीं । अच्छे और मौलिक कवि ही यह पद प्राप्त कर सकता है - महान साहित्य वही कहलाता है जो मौलिक होता है[3] ।"

वर्माजी के अनुसार स्पष्टता काव्य का महत्वपूर्ण गुण है । अस्पष्टता अनुभूति की विकलता के कारण होती है । इसलिए स्पष्टता केलिए भावना की स्वाभाविकता अनिवार्य है । वर्माजी लिखते हैं - "मैं तो कभी कभी उस काव्य को जिसमें भाषा तथा भाव की स्पष्टता न हो, सफल काव्य मानने को तैयार नहीं, क्योंकि ऐसी हालत में तो कला के ध्येय की ही हत्या हो जाती है[4] ।" काव्यास्वादन केलिए साधारणीकरण की प्रवृत्ति उन्हें मान्य है । उनका कथन कि "कला का एकमात्र लक्ष्य संवेदना की सृष्टि है - अपनी भावना में दूसरों ? कर देना[5] ।"

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि भगवतीचरण वर्मा के क[...] में अनुभूति की तीव्रता, स्वाभाविकता और स्पष्टता अनिवार्य है । व[...] सफल कहलाने योग्य होता है ।

---

1. मानव, भूमिका - पृ.7
2. विशाल भारत, जनवरी 1940, पृ.96
3. सरस्वती जून 1958, पृ.395
4. प्रेम संगीत, दो शब्द पृ. 15
5. सरस्वती मार्च 1958, पृ.169

(2) काव्य की आत्मा

भगवतीचरण वर्मा काव्य में रस की प्रधानता को मानने पर भी ध्वनि-संगीत के प्रति सतर्क रहे हैं। तत्संबंधी उनका कथन ध्यान देने योग्य है - "कला में जो कृत्रिम है - छंद भाषा आदि वह कला का शरीर है। उसका प्राण है कवि की भावना अथवा कवि का प्राण।"[1] यहाँ उन्होंने स्पष्टतः रस की घोषणा की है। आगे वे ध्वनि और संगीत के संबंध में कहते हैं कि "हम यह मानते हैं कि (कविता में) अर्थ का होना अनिवार्य है पर यदि बिना अर्थ पर ध्यान दिये ध्वनि और संगीत से ही कविता द्वारा एक भावना प्रकट हो सकती है, तो अर्थ हीनता का दोष क्षम्य हो जाता है।"[2] ये दोनों परस्पर विरोधी स्थापनाएं प्रतीत होती हैं। किंतु काव्य में रस को प्रमुखता देकर ध्वनि संगीत को गौण रूप में स्वीकार करना कोई दोष नहीं है। रस का प्रकर्ष अभिव्यंजना सौंदर्य पर अवलंबित नहीं है, परंतु सुंदर भावना और ललित पदावली का संयोग रस साधना में बाधक न होकर साधक सिद्ध होता है।

(3) काव्य-हेतु

काव्य-हेतु के अंतर्गत वर्माजी ने प्रतिभा को नैसर्गिक गुण माना है। उनका कहना है कि मेरा विचार है कि कवित्व-प्रतिभा मनुष्य में प्राकृतिक गुण हुआ करता है, यह गुण अध्ययन से अथवा प्रयत्न करने से नहीं उत्पन्न किया जा सकता[3] अध्ययन और अभ्यास से कविता कर सकता है किंतु उसमें यह स्वाभाविकता नहीं हो भी, क्योंकि कविता स्वयं प्राकृतिक है।

---

1. प्रेमसंगीत दो शब्द - पृ.16
2. विशाल भारत, जनवरी 1940 - पृ.95
3. मधुकण भूमिका - पृ.21

व्युत्पत्ति को प्रतिभा के विकास में सहायक तत्व मानते हुए "सुमित्रानंदन पंत" शीर्षक लेख में उन्होंने कहा है कि - "उन इने गिने कवियों में जिनकी कुछ कविताओं में मैं ने कभी कभी अपने को खो दिया है, जिनकी कविताओं ने ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में मुझे प्रभावित किया है, सुमित्रानंदन पंत का स्थान बहुत ऊंचा है[1]।" "आजकल" में प्रकाशित "मैथिलीशरण गुप्त" शीर्षक लेख में भी इन्होंने इस बात को स्पष्टत: स्वीकार किया है - "मुझे कवि बनने की प्रेरणा मैथिलीशरण गुप्त से मिली है, वे एक तरह से मेरे गुरु है[2]।" इससे स्पष्ट होता है कि वर्माजी ने प्रतिभा की भांति व्युत्पत्ति को काव्य प्रेरणा के अंतर्गत स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त बच्चनजी की तरह उन्होंने प्रणय की प्रेरणा को भी स्वीकार किया है।

(4) काव्य का प्रयोजन

भगवती बाबू ने काव्य के आंतरिक प्रयोजनों के साथ उसके बाह्य प्रयोजनों पर भी टिप्पणी की है। उनके मत में काव्य सृजन से कवि तथा काव्य-पाठ से प्रमाता भी आनंदित होते हैं - "कविता का ध्येय आत्म संतुष्टि ही नहीं है, कविता मुख्यत: दूसरों के मनोरंजन केलिए लिखी जाती है[3]।" यहाँ "मनोरंजन" शब्द सिर्फ स्थूल रुचियों का द्योतक नहीं है क्योंकि स्वांत सुखाय रचना करनेवाले कवि का कदापि यह उद्देश नहीं होगा। "साहित्य का स्रोत" शीर्षक लेख में उन्होंने स्वांत सुखाय को कविता का फल माना है - "स्वांत सुखाय वाले तत्व में ही साहित्य का सृजन है, केवल समाज द्वारा उस साहित्य की स्वीकृति बहुजनहिताय वाले तत्व पर निर्भर है[4]।" किंतु काव्य रचना का उद्देश सिर्फ कवि की आत्म तुष्टि नहीं है। अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि "जो साहित्य लोकहित और जन कल्याण की उपेक्षा करता है, वह निष्प्राण साहित्य है[5]।"

---

1. आजकल मार्च, 1958 - पृ.13
2. वही - पृ.27 मई 1958
3. आजकल - जुलाई 1956 - पृ.44
4. सरस्वती, अप्रैल 1958 - पृ.248
5. प्रसारिका, अक्तूबर दिसंबर, 1956 - पृ.17

काव्य के बाह्य प्रयोजनों के अंतर्गत वर्माजी ने यश की प्राप्ति और अर्थ लाभ की ओर संकेत किया है । वे लिखते हैं - "मैं साहित्य को आजीविका का साधन मानने में संकोच नहीं करता हूँ[1] यश प्राप्ति, उनके मन में सत्कविता ज़रूर लायेगी ।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि वर्माजी आनंद की प्राप्ति एवं सांस्कृतिक अथवा जन कल्याण को काव्य का मुख्य प्रयोजन मानते हैं । यशोलिप्सा और अर्थ लाभ की कामना इसके पीछे पड़ जाती हैं । ये काव्य का साध्य नहीं, साधन हैं ।

[5] काव्य के तत्व

वर्माजी ने अनुभूति को काव्य का मूल तत्व माना है । वे कहते हैं कि "अनुभूति का तत्व साहित्य का मूल तत्व है, क्योंकि इसी में आनंद का सृजन है[2] ।" जीवन की अनुभूति की अभिव्यक्ति जिस काव्य में हुई है, वह प्रमाता को इस लोक में पहुँचा सकता है । उसमें स्वाभाविकता और सहजता होगी । वर्मा जी ने अनुभूतिजन्य आनंद को काव्य मानकर कहा है कि "कविता का संबंध मन से है, मन का क्षेत्र अनुभूति है ज्ञान नहीं है[3] ।" यहाँ कवि ने चिंतन को अनुभूति से गौण माना है । पर चिंतन की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती । अनुभूति और चिंतन के समन्वय से कविता में गरिमामयी जीवन की अभिव्यक्ति हो सकती है । पंत जी की भाँति इन्होंने सत्य [अनुभूति] और शिव [चिंतन] को सुन्दरम् में निहित मानकर यह विचार व्यक्त किया है कि सुंदर शब्द में सत्य और शिव की मान्यता को भी मैं निहित समझता हूँ । जो सत्य नहीं है या जो कल्याणकारी नहीं है या जो कल्याणकारी नहीं है वह सुंदर हो ही नहीं सकता[4] ।" प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है कि वर्माजी काव्य में अनुभूति को मूल तत्व मानते हैं । साथ ही सत्यं शिवं सुंदरम् से समन्वित काव्य को ही श्रेष्ठ समझते हैं ।

---

1. सरस्वती मार्च 1958 - पृ.172
2. वही - पृ.249
3. वही - पृ.249
4. वही - जून 1958, पृ.393

(6) काव्य के भेद

काव्य भेदों के अंतर्गत वर्माजी ने केवल गीति काव्य का विवेचन किया है उनका कहना है कि "यदि हम स्वर प्रधान संगीत में अच्छे से अच्छे भाव भर दें या भाव प्रधान कविता में अच्छी से अच्छी स्वर लहरी पैदा कर सके तो कविता तथा संगीत एक हो जाता है और वही काव्य या संगीत सर्वोच्च होगा।"[1] यहाँ उन्होंने गीति काव्य में अर्थ गरिमा के साथ पदलालित्य पर भी ज़ोर दिया है। संगीत की श्रेष्ठता असंदिग्ध है। गीति काव्य के संबंध में इनसे पहले निराला, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि कवियों ने विस्तार से विचार किया है। भगवतीचरण वर्मा के विवेचन में नवीनता नहीं है, साथ ही वह अपूर्ण भी है।

काव्य वर्ण्य के अंतर्गत, प्रकृति प्रेम, लौकिक प्रेम तथा जीवन की सभी घटनाओं को उन्होंने प्रतिपादन का विषय बनाया है।

(7) काव्य में वैयक्तिकता

काव्य में वैयक्तिकता की स्थापना, छायावादोत्तर कवियों की निजी विशेषता है। उनका कहना है कि साहित्य व्यक्ति चेतना की उपज है न सामाजिक चेतना की। वर्माजी इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, यह है कि क्या साहित्य वैयक्तिक चेतना की उपज है या वह सामाजिक चेतना की उपज है। .... मुझे तो केवल इतना कहना है कि साहित्यकार व्यक्ति है और वह अपनी निजी भावना से प्रेरित होकर उस साहित्य का सृजन करता है जो उसका सत्य है। ..... मैं साहित्य का स्रोत सामाजिक मान्यता या चेतना को किसी

---

1. मधुकण, भूमिका - पृ.24

शासन में नहीं मान सकता ।[1]" यहां सांसारिक अनुभव की अपेक्षा निजी अनुभव पर अधिक बल दिया गया है । स्वांत सुखाय में वर्माजी व्यक्तित्व की प्रमुखता देखते हैं, साधारणीकरण में लोक मंगल की ।

साहित्य में वैयक्तिकता की प्रमुखता के संबंध में अन्यत्र वे लिखते हैं कि "साहित्य या कला को प्राणवान बनाता है कलाकार अथवा साहित्यकार के व्यक्तित्व का निक्षेप । प्रत्येक प्राणवान और सशक्त साहित्य में साहित्यकार का यह व्यक्तित्व मूर्त होता है ।[2]" व्यक्तित्व का यह निक्षेप पाठकों को आनंद देने योग्य होने की ज़रूरत नहीं । व्यक्तित्व का यह साधारणीकृत रूप प्रमाता के समान धर्मा गुण से मिलकर उसे आनंद प्रदान करता है । यही कविता की शक्ति है । नहीं तो कवि की वैयक्तिकता एकांतिक होगी ।

(8) भाषा और छंद

काव्य के शिल्प पक्ष के अंतर्गत वर्माजी ने भाषा और छंद का विवेचन किया है । भाषा स्पष्ट होनी चाहिए, दुरूहता काव्य का गुण नहीं अपितु दोष है उन्होंने कहा है कि "दुरूहता को मैं कला के क्षेत्र में दोष समझता हूं ।[3]" उन्होंने दिनकर की भांति प्रसाद गुण को काव्य भाषा का आदर्श माना है । कविता के अर्थ प्रकट करने में वही भाषा सक्षम होगी जो प्रसाद गुण से युक्त है । रस के उन्मीलन में वे व्याकरणिक नियमों को बाधा मानते हैं और कहते हैं कि "यह बात ध्यान में रखनी पड़ेगी कि रस को उत्पन्न करने के लिए हमें कहीं शुद्ध व्याकरण को भी बलिदान करना पड़ता है । यह व्याकरण के नियमों का उल्लंघन हमें केवल कविता को गति प्रदान करने के लिए करना पड़ता है ।[4]"

---

1. सरस्वती, अप्रैल 1958 - पृ.250-251
2. वही , जुलाई 1958 - पृ. 14
3. विस्मृति के फूल, भूमिका- पृ. 3
4. मधुकण, भूमिका - पृ.26

छंद के विवेचन में वर्माजी उतनी सतर्क नहीं दिखाई देते । उन्होंने छंद को काव्य का नित्य धर्म माना है - "छंद और अनुप्रास दूसरों के मनोरंजन में कविता के सहायक रहे हैं । आज की जो कविताएं जनता द्वारा पढ़ी जाती हैं और प्रशंसित हैं वे छंद और अनुप्रास के सहारे ही मनोरंजन करती हैं ।[1]"

छंद का निर्वाह कवि की व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर है । किंतु छंद की योजना कविता में लय की सार्थकता अधिक कर देती है । इसलिए उन्होंने मुक्त छंद के विरोध में लिखा है कि "मेरे विचार से तो मुक्त काव्य में जितना सौंदर्य गति से प्रदान किया जाता है वह व्याकरण के नियमों के उल्लंघन से हर लिया जाता है । इसलिए मुक्त काव्य यदि गद्य से अधम नहीं तो उससे अच्छा भी नहीं कहा जा सकता । कला के क्षेत्र में उसका कोई स्थान नहीं है ।[2]"

व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत भगवतीचरण वर्मा ने आदर्शवाद और यथार्थवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, आदि के संबंध में अपने बहुमूल्य विचारों को प्रकट किया है । आगे इस प्रकरण में उनकी व्यावहारिक आलोचना के महत्व का विवेचन किया जायेगा ।

1. आदर्शवाद और यथार्थवाद

आदर्शवाद और यथार्थवाद साहित्य में हमेशा विवादपूर्ण रहे हैं । वर्माजी ने इसके स्वरूप का सामान्य परिचय दिया है । साहित्य के उपयोगितावादवाले सिद्धांत एवं साहित्य के प्रभाव के संदर्भ में भगवतीचरण वर्मा ने आदर्शवाद और

---

1. आजकल, जुलाई 1956 - पृ.44
2. मधुकण, भूमिका - पृ.26-27

यथार्थवाद की परस्पर विरोधी मान्यताएं स्वीकार की है । यथार्थ मूल रूप में मानव के अस्तित्व का सत्य है, उसका सत्य है । वह स्वाभाविक रूप से घटित होनेवाला है । उसपर बुद्धि का अनुशासन नहीं रहता । आदर्श वर्माजी के अनुसार "हमारे जीवन में घटित होनेवाली चीज़ों में सद् एवं कल्याणकारी के रूप में स्वीकार किया जाता है और इसलिए वह समाज का सत्य है, क्योंकि वह मानव के विकास का सत्य है[1] ।" आगे वे कहते हैं कि "आदर्शवाद में आरोपण का तत्व है, क्योंकि आदर्शवाद में चयन की प्रक्रिया है[2] ।" इसलिए उनका निष्कर्ष है कि आदर्शवाद बौद्धिक अधिक भावनात्मक कम है । परस्पर विरोधी तत्व होने पर भी वे आदर्श को यथार्थ का ही अंग मानते हैं । यह तभी संभव है जब यथार्थ के सद् असद् का विभाजन करके उसके सद् तत्व को आदर्श का नाम दिया जाता है । आदर्श की रूपरेखा सामाजिक मान्यताओं से परिचालित होती है । सामाजिक मान्यताएं युग के अनुसार बदलती रहती है । इसलिए वर्माजी के अनुसार आदर्शवाद शाश्वत नहीं । यह दृष्टिकोण एकांगी है । "जो है" वह वास्तविक है । उसके विपरीत हमारी इच्छा के अनुसार जो होना चाहिए, वही कल्पना है । यह कल्पना या अतिशयोक्ति ही आदर्शवाद का आधार है ।

मानव में गुण और अवगुण या सुंदरता और कुरूपता समान भाव से स्थित है । सामाजिक मान्यताओं के आधार पर कुरूपता मानव की विकृति है और यह समाज के विकास के मार्ग में रोडा है । यह कुरूपता सामाजिक परिकल्पना है और साहित्य में इस कुरूपता के परे जो कुछ भी है वह सब सुंदर की कोटी में आता है । जो सुंदर है वह शाश्वत तथा सत्य माना गया है । इसलिए वर्माजी कहते हैं कि "आदर्शवाद सत्य शिव सुंदर के तत्वों को एक रूप में स्वीकार करके आगे बढता है और यही आदर्शवाद का बल है[3] ।" आदर्शवाद जो है, उसे सत्य न मानकर, जो होना चाहिए, उसे ही सत्य मानकर बढता है और यह आदर्शवाद का सबसे बडा बल होते हुए भी सबसे बडी कमज़ोरी है, यही भगवती बाबू का सिद्धांत है ।

---

1. साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - वर्मा - पृ.51
2. वही
3. वही - पृ.53

"जो होना चाहिए" में बौद्धिक आरोपण है, भावनात्मक संवेदना का अभाव है । अतः यह एकांगी है । इसे और भी स्पष्ट करते हुए वर्माजी लिखते हैं कि "आदर्शवाद केवल एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसमें सामाजिक मान्यताओं को प्रमुखता मिलती है, अपने समस्त तार्किक क्रम के साथ, लेकिन जिसमें अनुभूति की चेतना को उपेक्षित कर दिया जाता है[1] ।" जो अच्छा है, यह जानने के लिए जो बुरा है, यह भी जानना आवश्यक है । बुराई और अच्छाई मानव में मौजूद है । लेकिन इसके वर्गीकरण का कार्य सामाजिक अस्तित्व का प्रश्न है । यह वर्गीकरण बौद्धिक अधिक भावनात्मक कम है । इसलिए वर्माजी आदर्शवाद को कला के अंग मानने को तैयार नहीं हैं । वे कहते हैं - "आदर्शवाद स्वयं में बौद्धिक और सामाजिक दृष्टिकोण होने के कारण शास्त्र का अंग है, संवेदनात्मक कला का अंग नहीं है । साहित्य वही महान और स्थाई है जो आरोपित नहीं करता, वरन् जिसे मानव की संवेदना स्वयं ग्रहण करती है[2] ।"

यथार्थवाद वर्माजी की राय में यूरोप की औद्योगिक क्रांति की उपज है। इसके पहले भारतीय आचार्यों के शिष्ट साहित्य और लोक साहित्य के वर्गीकरण में लोक साहित्य में वे यथार्थवाद का स्वरूप देखते हैं । यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वर्माजी लिखते हैं कि "लेकिन इस नवीन यथार्थवादी साहित्य में जीवन जैसा है वैसा ही चित्रित करके अतिशयोक्ति और विरोधाभास के तत्व को बहिष्कृत कर दिया गया है[3] ।" यथार्थ सत्य है, उसमें सुंदर और कुरूप दोनों है । यथार्थ में आदर्श स्वयं निहित है । क्योंकि इस में विकृति से गुण को पृथक करने की प्रक्रिया है । लेकिन खेद के साथ वे कहते हैं कि "यथार्थवाद में सुंदर और असुंदर के मूलभूत भेद की कोई स्पष्ट सीमारेखा नहीं है यही यथार्थवाद की सबसे बड़ी कमजोरी है[4] ।"

---

1. साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ.54
2. वही - पृ.54
3. वही - पृ.55
4. वही - पृ.58

आज यथार्थवाद के नाम पर जो नग्न, उद्दाम काम वृत्तियों का चित्रण किया जाता है उसकी उन्होंने भर्त्सना की है । इस तरह की रचना के पीछे वे दो कारण देखते हैं, एक, आर्थिक और दूसरा, अपना जीवन दर्शन स्थापित करने की प्रबल कामना । इनमें दूसरा उनके अनुसार अधिक खतरनाक है । यथार्थ सबका सब सुंदर नहीं है, उसमें असुंदर भी है । कला का उद्देश सुंदरता का सृजन है, कुरूपता का सृजन नहीं है । तब यह प्रश्न उठता है कि यथार्थवादी साहित्य कैसे सुंदर होगा ? इसका उत्तर देते हुए वर्माजी लिखते हैं - "साहित्य की सुंदरता और कुरूपता सामाजिक काल और परिस्थिति से परे भावना की सुंदरता अथवा कुरूपता की अभिव्यक्ति है ।[1]" भावना की यह अभिव्यक्ति मानव में संवेदना की सृष्टि करती है । साहित्य और कला का मूल तत्त्व संवेदन है । इसलिए वर्माजी यथार्थवाद को भावनात्मक प्रक्रिया मानते हैं ।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि भगवतीचरण वर्मा ने आदर्शवाद और यथार्थवाद के अध्ययन में सतर्कता दिखाई है । उनका विवेचन अधिक तर्कसंगत दिखाई पड़ता है । बौद्धिक एवं भावनात्मक रूप में इनकी स्थापना वर्माजी की अपनी मौलिक उद्भावना है । इनके गुणों और दोषों के प्रतिपादन के बाद, साहित्य में इनका सम्मिश्रण रूप ही वे अधिक उचित मानते हैं । "वस्तुतः प्रत्येक यथार्थवाद में मानव की उदात्त भावना का समावेश होना चाहिए क्योंकि इसी उदात्त भावना में सद् और कल्याण है, और प्रत्येक आदर्शवाद में सहनशीलता और संवेदना होनी चाहिए क्योंकि इन्हीं में शाश्वत सत्य और आनंद है ।[2]"

2. <u>छायावाद</u>

भगवतीचरण वर्मा ने छायावाद के विकास का अध्ययन ऐतिहासिक आधार पर किया है । उनके पीछे उनके अनुसार ऐतिहासिक कारण ही अधिक है । अठारह शती में फ्रांस की राज्यक्रांति के रूप में एक नवीन सामाजिक परिवर्तन का सूत्रपात हुआ और उस सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव यूरोप की कला एवं संस्कृति और साहित्य प

---

1. साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ.62
2. वही - पृ.62

भी पड़ा । साहित्य में इस नवीन चेतना और प्रभाव के रूप में एक नई धारा प्रस्फुटित हुई जिसे अंग्रेज़ी में "रोमान्टिक रिवाइवल" के नाम से जाना जाता है । इस आंदोलन का फल यह हुआ कि सामंतवादी भोगविलास, मांसलता और शारीरिक वासना से अलग हटकर साहित्य फिर से शुद्ध भावनात्मक क्षेत्र में आ गया । अंग्रेज़ी कविता को इस भावनात्मक क्षेत्र में उतारकर वर्ड्सवर्थ, बायरन, शैली, कीट्स आदि कवियों ने इसमें जान फूंक दिया । जनता में शुद्ध कविता के प्रति एक तरह का अनुराग जाग पड़ा । इस समय भारत अंग्रेजों की अधीनता में था । स्वाभावतः वह भी शासकों की संस्कृति और साहित्य से प्रभावित हो गया । हिन्दी में इस परिवर्तन की प्रतिध्वनि बंगला के माध्यम से आयी । यहाँ हिन्दी कविता के विकास का संक्षिप्त इतिहास उन्होंने प्रस्तुत किया है । आदिकाल से ही भारतवर्ष की संस्कृति आध्यात्मिक रही है । इसकी परिरक्षा मध्यकाल के कबीर, तुलसी जैसे कवियों की कृतियों में पूर्ण रूप से हुई है । परंतु रीतिकाल में आकर यह आध्यात्मिक संस्कृति वासनामय श्रृंगार में बदल गई । वर्माजी ने कहा है कि "वासना के रूप में भौतिकता ने इस संस्कृति में प्रवेश किया, लेकिन ऊपर से आध्यात्मिकता का जामा हमेशा ओढे रही । समस्त रीतिकालीन कविता आध्यात्मिकता के मुखौटे में वासना की अभिव्यक्ति है ।[1]" वर्माजी की यह मान्यता ऐतिहासिक सत्य है ।

आधुनिक काल के प्रारंभ में हम देखते हैं कि कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने ले लिया । द्विवेदी युग में यह और भी सुधारा गया । द्विवेदी युग से छायावादी कविता के रूप में कविता का विकास वर्माजी के अनुसार बंगला के कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रभाव से हुआ । उनका कहना है कि "द्विवेदी युग के अंतिम चरण में प्रायः 1918 ई॰ के आसपास हिन्दी कविता ने एक मोड़ लिया जिसका श्रेय हिन्दी के कवियों को उतना नहीं है जितना बंगला के अमर कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को है[2] ।"

1· साहित्य के सिद्धांत तथा रूप – पृ॰113

2· वही – पृ॰112

पाश्चात्य साहित्य-जगत से बंगला के द्वारा हिन्दी में आयी यह नवीन काव्य धारा छायावाद नाम से अभिहित हुई। इसके संबंध में भगवतीचरण वर्मा लिखते हैं - "पाश्चात्य संस्कृति हमेशा भौतिक ही रही है। उस भौतिक संस्कृति का भावनात्मक रूपांतर ही तो था वह "रोमांटिक रिवाइवल"। रवींद्रनाथ ठाकुर ने इस भावनात्मक भौतिक संस्कृति को भारतीय आध्यात्मिकता के साँचे में ढालने का नया प्रयोग किया। इसमें उन्हें आशा से अधिक सफलता प्राप्त हुई। सुधारवाद और कट्टरता की अत्यंत नीरस कविता के मुकाबले रवींद्रनाथ ठाकुर की कविता की परिपाटी ने जब हिन्दी कविता में प्रवेश किया तब हिन्दी कविता में रसात्मकता का समावेश हो सका। उस परिपाटी की नवीन कविता ही हिन्दी में छायावाद की कविता के नाम से जानी जाती है[x]।" काव्य क्षेत्र में नई चेतना, भावना और रसात्मक तत्वों से सम्पन्न इस काव्य विधा को समझने में कई आचार्य असमर्थ रहे। उनकी भृकुटी तन गई। अवहेलना और उपेक्षा की दृष्टि से इसे छायावाद कहने लगे। शुद्ध रूप से भावना के प्रतिनिधि के रूप में इसने हलचल मचा दी। भावना अमूर्त है। वह मन की उपज है। इसे रूप देने के लिए कवियों ने बिंबों का सहारा लिया। भावना का अंतर वर्माजी ने यों प्रकट किया है कि "यह कविता रीतिकालीन भावना से मुक्त थी, यह भौतिक न होकर मानसिक स्तर पर थी। इस तरह की कविता को आरंभ में रहस्यवाद का भी सहारा मिला जो प्राचीन भारतीय परंपराओं की प्रतीक थी[1]।" रहस्यवाद उनके अनुसार छायावाद की एक प्रवृत्ति है। इन दोनों के अंतर स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है - "रहस्यवाद और छायावाद में अंतर यह है कि रहस्यवाद दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों को वहन करता है जबकि छायावाद को केवल अमूर्त भावना की अभिव्यक्ति ही कहा जा सकता है[2]।" आगे, छायावाद में लय, छंद, अन्त्यानुप्रास आदि परंपरागत रूप में मौजूद होने के कारण उन्होंने लिखा है - "वस्तुतः छायावाद नवीन युग का प्रतिनिधित्व करनेवाली अमूर्त भावना वाहक परंपरागत कविता है[3]।"

---

x. साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ.113
1. वही - पृ.114
2. वही - पृ.114
3. वही - पृ.115

परंपरागत कविता से इसका अंतर यह है कि इस में भावना तत्व या मन तत्व की प्रधानता है । परंपरागत कविता शरीर तत्व से संबद्ध रही, इसलिए प्रबंधात्मक अधिक थी । भावना प्रधान होने के कारण यह अंतर्मुखी हो गई और इस में गीत तत्व अधिक उभर आये । छायावाद को वर्माजी परंपरागत कविता का आधुनिक रूप कहते हैं । उनका कहना है कि "लयात्मक गति का अवलंब लेकर जो कविता लिखी जा रही है, वह परंपरागत कविता है । इसका रूप काल और परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है । 20 वीं शती में आकर इसने छायावाद नाम ले लिया[1] ।

छायावाद का विवेचन वर्माजी ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया है । छायावाद को परंपरागत कविता मानने में नवीनता है । किंतु कोई भी काव्यधारा अपनी पूर्वधारा से असंपृक्त नहीं रहेगी । इस प्रकार छायावाद के विकास की रूपरेखा वर्मा जी ने संक्षेप में प्रस्तुत की है ।

3. <u>प्रगतिवाद</u>

भगवतीचरण वर्मा के मत में प्रगतिवाद समाजवादी मान्यताओं का साहित्यिक रूपांतरण है । समाजवादी दृष्टिकोण उपयोगितावाद पर निर्भर है । साहित्य का आधार भावना है, यह सभी स्वीकार करते हैं । "भावना का आधार मूल स्रोत मानव की भूख है[2] ।" यह दो तरह की है - मन की भूख और तन की भूख । मनन, चिंतन विवेचन आदि मन की भूख के अंतर्गत आते हैं । मानव बौद्धिक प्राणी होने के नाते यह मन की भूख स्वाभावतः गौण रूप में भावना में सम्मिलित हो जाती है । तन की भूख जिसे हम उदर की भूख और लैंगिक भूख में विभाजित कर सकते हैं, भावना का केंद्र बिंदु है । उदर की भूख का आधार मूल वस्तु है उपयोगितावाद । "समाजवाद के अनुसार यह उपयोगितावाद मानवजीवन का एक मात्र सामाजिक सत्य है[3] ।" प्रगतिवाद इस सामाजिक सत्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति है । इसलिए इसमें वैयक्तिक चेतना के स्थान पर सामाजिक चेतना मुख्य है ।

---

1. साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ. 108
2. वही - पृ. 118
3. वही - पृ. 119

प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन के मूल में, वर्माजी रूस की राज्यक्रांति को उत्तरदायी मानते हैं। इस क्रांति का उद्देश था, एक वर्गरहित समाज का सृजन, जिसमें जनता के बीच के आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक भेदभाव को मिटाकर एक नये समाज की स्थापना। इन समाजवादी तत्वों को भावनात्मक रूप से जन में पहुँचाने केलिए साहित्य का सहारा लिया गया। फलत: इस आंदोलन ने साहित्य में एक नई मान्यता की स्थापना की जो बाद में प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई।

"प्रगति" स्वयं में बौद्धिक और सामाजिक मान्यता है। किंतु समाजवादी शासन ने प्राचीन व्यक्तिवादी रूढ़ियों को प्रतिक्रियात्मक करार देकर उन्हें तोड़ की संज्ञा को प्रगति का नाम दे दिया। प्रगतिवाद का सबसे बड़ा बल भावतीचरण वर्मा के अनुसार "उसकी जन कल्याण और समाज केलिए उपयोगितावाद के प्रति आस्था है।"[1] वस्तु विषय को नया प्रतिपादन इस की विशेषता है। उत्पीड़न, शोषण और वर्गभेद के प्रति अपना आक्रोश इसमें अधिक मिलता है। वर्माजी की राय में प्रगतिवाद प्रचारात्मक साहित्य है। प्रचार साहित्य में दोष नहीं। पुराने समय से साहित्य किसी न किसी आदर्शों का प्रचार करता आ रहा है। किंतु "प्रगतिवाद का असली रूप राजनीतिक वाद है जो भावनात्मक न होकर बौद्धिक है और साहित्य के क्षेत्र की चीज नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य साहित्यकार की वैयक्तिक भावना की उपज नहीं है, वह तो सरकार अथवा सत्तारूढ़ दल द्वारा निर्देशित होता रहता है।"[2] यहाँ वर्माजी ने इसकी एक पक्षीयता की ओर इशारा किया है।

---

1. साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ.120
2. वही - पृ.123

प्रगतिवादी साहित्यकार प्रतिबद्ध है । प्रतिबद्धता स्वीकारात्मक है । उनकी विचारों की यह प्रतिबद्धता साम्यवाद से है और इसका निर्धारण सत्ता ही करता है । अत: वर्माजी कहते हैं कि "प्रगतिवादी दर्शन राजनीतिक और सामाजिक है । प्रगतिवाद एक ऐसा भौतिक दर्शन का भाग है जिसमें दया, प्रेम और त्याग की व्यवस्था नहीं है, जो विशुद्ध न्याय और अधिकार की नींव पर कायम है[1]।" वर्माजी का कहना है कि प्रगतिवाद का एक बहुत बड़ा दोष असहिष्णुता है । पीड़ित, शोषित, सर्वहारा वर्ग की जगह दूसरे सब उन्हें वर्ज्य है । दया, प्रेम और त्याग की भावना मात्र उनके प्रति है । इसका कारण भी वे बताते हैं - "समाजवाद आज भी संघर्ष की अवस्था में है[2]।" राजनीतिक मान्यताओं के प्रचार हेतु जनता का भावनात्मक सहयोग प्राप्त करना प्रगतिवाद की एक नवीन मान्यता है । क्योंकि भावनात्मक सहयोग का सशक्त माध्यम है साहित्य, यह उन्हें मालूम था । लेकिन इसके लिए रचित साहित्य इस वर्ग के बाहर की चीज़ बनी । अशिक्षित और अनपढ जनता इसे समझ नहीं सकी । और समझ गई तो ऐसी रचना सिर्फ नारे बाजी के स्तर की हो गई । शाश्वत साहित्य की सृजनात्मक बीज उसमें नहीं है इस साहित्यिक विधा में सबसे निर्बल धारा कविता उतरी, यही भगवतीचरण वर्मा का कहना है । प्रगतिवादी कविता समाजवादी व्यवस्था का प्रचार करते हुए क्रांति और संघर्ष का सहायक सिद्ध हुई ।

वर्माजी के प्रगतिवाद संबंधी विचारों के विवेचन से हमें मालूम होता है कि उन्होंने उसके गुणों और दोषों का सही प्रतिपादन किया है । राजनीतिक रूप से प्रतिबद्ध रहने के कारण यह कविता कालजयी नहीं बनी । जन कल्याण और उपयोगितावाद की भावना इसका बड़ा गुण है । साथ ही एकांगिता और असहिष्णुता इसका बड़ा दोष है ।

1· साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ·125

2· वही - पृ·125

4· प्रयोगवाद

प्रयोगवाद भगवतीचरण वर्मा के अनुसार 'बुद्ध रूप से भावना की अभिव्यक्ति है। 'साहित्यिक क्षेत्र में इस काव्य विधा का आगमन भावना को व्यक्त करनेवाली लयात्मक गति को चुनौती के रूप में हुआ। इसके लिए दो कारण वे बताते हैं - 'मनुष्य के बौद्धिक विकास के क्रम में कुछ लोगों को लयात्मक गति से एक तरह की उबन हो गई। दूसरा, बौद्धिक प्राणी होने के नाते मनुष्य भावना की अभिव्यक्ति केलिए नाते मनुष्य भावना की अभिव्यक्ति केलिए क्रिया-प्रतिक्रियात्मक गति का सहारा लेने लगा क्योंकि प्रकृति के साथ संघर्ष में रत मानव इस संघर्ष की क्रिया-प्रतिक्रियात्मक गति में अपने को खोने लगा[1]।'

हिन्दी में प्रयोगवाद पाश्चात्य प्रभाव से आया है और इसके प्रवर्तक पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। यह पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। यह पाश्चात्य विचारधारा मशीन युग की पूंजीवादी वस्तु जगत की मान्यताओं की उपज है। अमरीका के वाल्ट व्हिटमेन की कविताओं में इसका रूप प्रथमत: उभर आया, यही वर्माजी का विचार है। कविता में छंद, लय, अंत्यानुप्रास आदि में एकरसता [मोनोटणि] देखने की प्रवृत्ति पूंजीवादी सभ्यता की उपज है। व्यक्ति की शौक पूरा करने की भावना इसके मूल में निहित है। वाल्ट व्हिटमेन की कविता शायद इस एकरसता के विरुद्ध विद्रोह की भावना की उपज थी। औद्योगिक क्रांति का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य का समस्त अस्तित्व बौद्धिक और तकनीक प्रधान हो गया। बौद्धिक विचारों से लदी भावना लयात्मक गद्य और आवृत्ति के नियमों से बंधी लयवाले छंदों में भी नहीं हुए। तथा आधुनिक मानव के पास इसकेलिए फुरसत नहीं थी। व्हिटमेन की कविता का ऐतिहासिक महत्व इसलिए है कि उसमें नवीनता है।

1· साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ·129-130

मशीन युग की भौतिक उन्नति मानव का दृष्टिकोण कविता के प्रति विमुख रहे । क्रिया प्रतिक्रियात्मक गति में गद्य साहित्य की रचनाएं होने लगी । तत्व कविता में परिवर्तन अनिवार्य हो गया । व्यंग्य और विद्रूप कविता का केंद्र बन गया । प्रगतिवाद में विचारों की प्रतिबद्धता है । इसके विरुद्ध प्रयोगवाद में विचारों की अराजकता की ओर मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देता है । वैयक्तिक स्वतंत्रता की पुन स्थापना में साहित्यकार अंतर्मुखी हो गया । फलस्वरूप मानव का संत्रास, कुंठा आदि इसमें प्रमुख रूप से प्रतिपादन का विषय बन गया । प्रयोगवाद ने कविता के केंद्र में कला के शिल्प पक्ष को अस्वीकार कर दिया, अपने को परंपरागत कविता से अलग रखने के प्रयत्न में । विषय निर्धारण की अस्वीकृति मिल गई । इसे लक्ष्य करके वर्माजी कहते हैं कि "प्रयोगवाद स्वयं अति-सम्पन्नता की अराजकता की नींव पर खड़ा है[1] ।" इसलिए वे उसे कविता कहने को तैयार नहीं है ।

प्रयोगवाद को नयी कविता कहने के बदले नये प्रकार की कविता कहना भगवतीचरण वर्मा अधिक पसंद करते हैं । अंत में प्रयोगवाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि "उसके ऐतिहासिक विकास को एवं उसके अंतर्निहित प्रवृत्तियों को देखते हुए उसे "रूपहीन अंतर्मुखी कविता" कहना अधिक उचित होगा[2] ।"

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रयोगवादी कविता के विकास की रूपरेखा उन्होंने प्रस्तुत की है ।

निष्कर्ष

भगवती चरण वर्मा की काव्य संबंधी मान्यताओं का विवेचन करने के पश्चात हम कह सकते हैं कि वर्मा जी की मान्यताएं दिनकर और बच्चन की तुलना में व्यापक और स्पष्ट नहीं है । उनका काव्यांग विवेचन सामान्य ही है । काव्य में व्यक्ति तत्व की प्रतिष्ठा में इन्होंने सक्रिय योग दिया है । यथार्थ और आदर्श के बारे में वर्माजी का विचार उपयोगितावाद पर खरे उतरता है । उनकी प्रयोगवादी कविता की आलोचना उस काव्यधारा को सम्पूर्ण रूप से समझने में सहायक नहीं है ।

---

1. साहित्य के सिद्धांत तथा रूप - पृ. 127

2. वही - पृ. 138

निष्कर्ष

छायावाद और प्रगतिवाद के बीच जो काव्यधारा हिन्दी में फूट पड़ी वह अपनी वैयक्तिकता की प्रमुखता के कारण वैयक्तिक कविता के नाम से अभिहित हुई । छायावादी कविता अपनी अतिशय कल्पना और अतिसूक्ष्म सौंदर्यानुभूति के कारण दुरूह तथा बोझिल बन गयी । और पाठक इसका सही आस्वादन करने में असफल हो गये । इस काव्यधारा के प्रवर्तक कवियों के मत में छायावाद में भविष्य केलिए कोई नयी चीज़ नहीं बची । इसके विपरीत प्रगतिवाद अपने वस्तुवादी भौतिक दृष्टिकोण के कारण काव्य क्षेत्र से बहिष्कृत हो गया । इसी परिप्रेक्ष्य में छायावादोत्तर वैयक्तिक काव्य धारा की स्मृति अधिक प्रकट होती है । एकान्तिक वैयक्तिकता इस काव्यधारा की अपनी प्रमुख विशेषता है । अपने वैयक्तिक सुख दुखों का रागात्मक रूप में प्रस्तुत करके ये कवि आनंद पाते थे । पलायनवाद या सुखवाद की संज्ञा देकर आलोचकों ने इसकी खूब भर्त्सना की, परंतु मानव हृदय की कोमल तंत्रियों को झंकृत करने की क्षमता इसमें विद्यमान थी । इस काव्यधारा की प्राण प्रतिष्ठा करने वाले कवियों ने ही बदली हुई काव्य चेतना के अनुकूल नयी काव्य मान्यताओं की खोज की, ताकि आस्वादक अपनी कविताओं का सही आस्वादन कर सकें ।

छायावादोत्तर कवियों की काव्यालोचना पर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम होता है कि इन कवि आलोचकों ने परंपरा सिद्ध काव्य मान्यताओं का विरोध नहीं किया है । उन्हें यथास्थान स्वीकार करते हुए अपने वैयक्तिक चिंतन के आलोक से परिपुष्ट किया । यही उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवि के रूप में ख्याति प्राप्त की है । उनकी काव्य चेतना राष्ट्रीयता से ओत प्रोत है ।

यह चेतना उनकी काव्यालोचना में भी वर्तमान है । दिनकर जी की काव्य मान्यताओं का अध्ययन करने के पश्चात हम कह सकते हैं कि उनका विचार अधिक व्यापक और स्पष्ट है । उन्होंने परंपरा सिद्ध काव्य मान्यताओं को स्वीकार करते समय उनमें मौलिक कवि-दृष्टि को अपनाने का यथोचित ध्यान दिया है । काव्यात्मा काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्यानुवाद इन सबसे संबद्ध उनकी मान्यताओं में चाहे मौलिकता कम हो परंतु नवीनता अवश्य होती है । स्वकाव्य और विचार काव्य की कल्पना इसका दृष्टांत है । छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के संबंध में उनका विचार महत्वपूर्ण है । अपने समसामयिक कवियों में पंत, प्रसाद और मैथलीशरण गुप्त के व्यक्तित्व और कृतित्व का गहन अध्ययन किया है । गुप्त जी को महान मानते हुए उन्होंने कहा है कि " वे ऐसे कवि हैं जिनमें भारत की परंपरा अभी तक सर्वाधिक जीवित और चैतन्य है तथा दूर से देखने पर वे नवीनता नहीं, प्राचीनता के प्रतिनिधि मालूम होते हैं[1] ।" यह विचार भारतीय संस्कृति और काव्य के प्रति उनकी असीम आस्था का द्योतक है । हिन्दी के कई कवि-आलोचकों में उनका शीर्षस्थानीय स्थान है ।

हालावाद के प्रवर्तक बच्चन की आलोचना दृष्टि उनकी कवि दृष्टि के समान स्वस्थ और सम्पन्न है । काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य में छंद और काव्यानुवाद संबंधी बच्चन के विचार नयी काव्य चेतना के अनुकूल है । गीतिकाव्य और रुबाई के बारे में उनका विचार विदेशी साहित्य की अपनी मर्मज्ञता और उदारता का परिचायक है । कवि कर्म का अच्छा विवेचन उन्होंने किया है । इसमें "विश्रांति की स्थिति" और कलात्मक तनाव की स्थिति" की उद्भावना उनकी अपनी है । कवि पंत के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचन पंतजी से उनकी गहन आत्मीयता और काव्य मर्मज्ञता को घोषित करता है और व्यावहारिक आलोचना में उनकी दक्षता व्यक्त करता है ।

---

1. पंत प्रसाद और मैथलीशरण - प्रथम प्रकाशन 1958 उदयाचल

कविवर दिनकर और बच्चन की आलोचना की तुलना में भगवतीचरण वर्मा की आलोचना उतनी व्यापक और स्पष्ट नहीं दीखती । उनका विचार लगभग सामान्य और अपूर्ण है । किंतु काव्य में व्यक्ति तत्व की प्रतिष्ठा के विषय में उनके विचार तर्कसंगत और महत्वपूर्ण है । गीतिकाव्य और काव्य भाषा संबंधी विचारों में उनके अंतर्दृष्टि का पता लगता है । यथार्थवाद और आदर्शवाद के बारे में किये गये विचार उपयोगितावाद पर खरे उतरता है ।

छायावादोत्तर वैयक्तिक कवियों की काव्यालोचना का सम्यक विवेचन करने के पश्चात हम कह सकते हैं कि इन कवि आलोचकों ने पूर्ववर्ती काव्य मान्यताओं से यथास्थान लाभ उठाते हुए उन्हें वैयक्तिक स्पर्श से पुष्ट किया है । "रुबाई छंद का प्रतिपादन हिन्दी के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है । काव्य में व्यक्ति तत्व की प्रतिष्ठा में इनका महत्वपूर्ण योगदान है । इनकी आलोचना में चाहे मौलिकता कम हो, परंतु इसमें संदेह नहीं है कि वे आलोचक की अपेक्षित चिंतन शक्ति से समृद्ध हैं ।

****

अध्याय - चार

प्रगतिवादी कवियों की काव्यालोचना

अध्याय - चार

प्रगतिवादी कवियों की काव्यालोचना

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी काव्यधारा का उद्भव एक वैचारिक आन्दोलन के रूप में हुआ। द्वितीय महायुद्ध के प्रारंभ से विश्वभर में महंगाई दरिद्रता और वर्गवाद का बोलबाला बढ़ गया। उसकी समाप्ति और भी भयावह सिद्ध हुई। महंगाई बेरोजगारी और शोषण सर्वत्र बड़ी निर्ममता से चला और इसके अनिष्ट प्रभाव से भारत जैसे दीन देश का बचना कठिन था। देश की इस दीन दशा की ओर राजनीतिज्ञ तथा साहित्यकार का ध्यान आकृष्ट हुआ।

हिन्दी साहित्यिक क्षेत्र में इस समय छायावाद एक ओर अपने पूर्ण उत्कर्ष पर दिखाई दिया, वहाँ दूसरी ओर उसमें ह्रास की प्रक्रिया शुरू हो गई। व्यक्तिवाद की व्यापक चेतना, लोकसंग्रहात्मकता तथा जीवन की सहज अभिव्यक्ति जो प्रसाद, पंत निराला और महादेवी की रचनाओं में प्राप्त थी, नये कवियों में इसका अभाव सा हो गया। छायावादी नई पीढ़ी के कवि घोर आत्मनिष्ठ निराशावादी और मात्र कल्पना सौंदर्य के लोक में विचरण करने वाले हो गये। वे बदलते हुए युग और उसकी आवश्यकताओं के साथ चल न सके।

इसी बीच सन् 1936 में प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो गई । यह सामाजिक समस्याओं को वाणी देकर समाज की प्रगति में योग देना इस संघ का उद्देश था । आगे इसमें 'मार्क्सवादी विचारधारा का भी योग हो गया । हिन्दी में मार्क्सवादी चिंतन पद्धति के आधार पर लिखी गई रचनाएं प्रगतिवाद के अंतर्गत मानी गयी । प्रगतिवाद के उद्भव के बारे में डा॰ नगेन्द्र का यह कथन ध्यान देने योग्य है - 'प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंटकर ही उठ खड़ा हुआ ।'[1] सामान्यत: किसी नयी काव्यधारा का उद्भव उसकी पूर्ववर्ती काव्यधारा की ह्रासोन्मुख स्थिति से ऊर्जा लेकर होता है । किंतु प्रगतिवाद के संबंध में इसका निर्वाह नहीं हो पाया । क्योंकि छायावाद के कवि पंत और निराला जैसे महान कवियों ने प्रगतिवादी काव्य की भूमिका तैयार की । यह परिवर्तन की मांग और पुकार के कारण सम्पन्न हुआ था । इस परिवर्तन के मूल में मार्क्सवादी दर्शन का स्पष्ट प्रभाव था । इस काव्यधारा के विकास में भारतीय सांस्कृतिक सामाजिक परिस्थितियां भी विद्यमान रही हैं ।

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी काव्यधारा के विकास में 'अनेक कवियों ने योग दिया है, किंतु काव्यालोचना की दृष्टि से रामेश्वर शुक्ल अंचल, नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन, रामविलास शर्मा आदि कवियों के नाम विशेष उल्लेखनीय है । नागार्जुन प्रगतिवादी कवियों में प्रमुख माने जाते हैं । किंतु काव्य-सिद्धांत प्रतिपादन में उनका योगदान संक्षिप्त है । रामविलास शर्मा ने साहित्यिक क्षेत्र में कवि के रूप में पदार्पण किया, परंतु उनकी ख्याति आलोचक के रूप में अधिक हुई है । इसलिए यहाँ हम रामविलास शर्मा को काव्यचिंतक कवि की कोटी में अध्ययन करना अपेक्षणीय नहीं मानते । इनको छोड़कर इस अध्याय में हम नरेंद्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल, अंचल और शिवमंगल सुमन की काव्य संबंधी मान्यताओं का विवेचन करेंगे ।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियां - डॉ॰ नगेन्द्र - पृ॰108

प्रगतिवादी कवियों ने पूर्ववर्ती कवियों की भांति काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का स्वतंत्र और विस्तृत विवेचन नहीं किया है। उनका लक्ष्य मुख्यतः सामाजिक समस्याओं को वाणी देना था, न काव्य सिद्धांतों का विवेचन। इसलिए अपने उद्देश्य की पूर्ति में जो सिद्धांत सहायक सिद्ध हुए उन्हें उन्होंने खुलकर स्वीकार किया। कहने का तात्पर्य यह है कि इन कवियों के काव्यचिंतन में परंपरागत काव्य सिद्धांतों को जैसा का तैसा खोज लेना असंभव है। सोद्देश्य काव्य सृजन उनका प्रमुख ध्येय रहा, एवं काव्य चिंतन इनकेलिए गौण था, मानव की सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति उनका मुख्य लक्ष्य था।

नरेंद्र शर्मा की काव्यालोचना

प्रगतिवादी कवियों के सामने समाज की ज्वलंत समस्याएं मुख्य रही है। अतः इनको वाणी देने में कवि अधिक प्रयत्नशील रहे। अपने काव्य संबंधी दृष्टिकोण के अनुसार उन्होंने काव्य की आलोचना की है। परंपरा से चली आयी आलोचना उन्हें अपने जीवन-दर्शन के अनुकूल प्रतीत नहीं हुई। उन्होंने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में साहित्यिक रचनाओं का विवेचन करना अधिक उपयुक्त समझा। कवि नरेंद्रशर्मा की आलोचनाएं इसका अपवाद नहीं हैं। उन्होंने साहित्यशास्त्र के काव्यांगों का उसी ढंग से विवेचन नहीं किया है जिस तरह उनके पूर्व के कवियों ने किया है। स्वतंत्र रूप में काव्यांग विवेचन का समय और साहस उनके पास नहीं था। फिर यत्र तत्र दूसरी समस्याओं के परिहार में उन्होंने उनपर टिप्पणी की है। कला कला के लिए सिद्धांत के स्थान पर कला जीवन के लिए यही नारा बन गया था। इसी मानदण्ड के आधार पर साहित्यिक समस्याओं का अध्ययन करने का सुप्रयास इन्होंने किया है। आगे हम नरेंद्र शर्मा की आलोचना का विवेचन करेंगे।

सैद्धांतिक आलोचना

काव्य का स्वरूप

कहा जाता है कि प्रगतिवाद साम्यवाद का साहित्यिक रूप है और इसका दृष्टिकोण समाजोन्मुख यथार्थवाद पर आधारित है। इस दृष्टिकोण के आधार पर काव्य की परिभाषा करने का प्रयास इन्होंने किया है। इसी कारण इनकी काव्य की परिभाषा भौतिक जीवन की वास्तविकताओं से अधिक मेल खाती दिखाई देती है। नरेंद्र शर्मा ने इसे लक्ष्य करके "हंस" में संकलित "कला चिरंजीवि" शीर्षक लेख में काव्य की परिभाषा यों दी है - "कला को जीने केलिए, चिरंजीवि बनाने केलिए, ऐसे संदेश का वहन करना होगा जो सामाजिक व्यवस्था को बदलने में समर्थ हो। ..... सामाजिक क्रांति और योजना के अनुसार सामाजिक पुनर्निर्माण के पक्ष में कलाकार को आना चाहिए[1]।" यहाँ काव्य को सामाजिक क्रांति का अग्रदूत और संदेशवाहक के रूप में माना गया है। यह मार्क्सीय दृष्टिकोण के अनुकूल है। मार्क्स सामाजिक समस्याओं का हल करने केलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एकमात्र सहारा मानते हैं और सामाजिक उन्नति क्रांतिकारी परिवर्तनों से संभव मानते हैं। मार्क्स के इस दृष्टिकोण को शिवदान सिंह चौहान व्यक्त करते हैं कि "मार्क्स के दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि वह जगत को और मानव जीवन को शोषण से मुक्त, उसकी संपदा को सर्वजन सुलभ और समाज को समृद्ध और प्रगतिशील बनाने केलिए उसके वर्तमान आर्थिक सामाजिक संबंधों, नैतिक मान्यताओं, सौंदर्य मूल्यों को बदलने का लक्ष्य और मार्ग बताता है[2]।"

काव्य-हेतु

काव्य रचना की प्रेरणा का निदान क्या है, यह काव्यारंभ से ही काव्य चिंतकों के विवेचन का विषय बना है और आज भी होता आ रहा है।

---

1. हंस, मार्च 1941 - पृ.512,513
2. साहित्यानुशीलन - पृ.143

इनमें अनेकों ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को इसका हेतु मान लिया है। प्रगतिवादी कवियों ने भी इसे अपने विवेचन का विषय बनाया है। नरेंद्र शर्मा ने प्रतिभा का विशेष प्रतिपादन नहीं किया है। उन्होंने कवि को लोक दर्शन से सम्पन्न होना अनिवार्य माना है। लौकिक जीवन के अनुभवों से समृद्ध कवि की रचनाएं अधिक सफल होगी, यही उनका मत है। उनका कहना है कि "नियति का यह प्रयोजन है कि कवि को हो विशद अनुभव।"[1] काव्य रचना के मूल में सामाजिक प्रेरणा का महत्व ठुकरा नहीं सकता।

काव्य का प्रयोजन

प्रगतिवादी कवियों ने वर्गहीन समाज की स्थापना के साधन के रूप में काव्य को माना है। समाज सुधार एवं जन कल्याण, विशेषतः सर्वहारा वर्ग का, यही उनके मत में काव्य का प्रयोजन होना चाहिए। आज की सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का परिवर्तन क्रांति से संभव है, अतः उसमें योग देना कवि कर्म है। यह क्रांति सर्वहारा वर्ग की जागृति से संभव है और इसलिए पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था से अप्रभावित कवि ही इस काम में सफल हो सकता है। नरेंद्र शर्मा ने कवि को मानव की समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने का उपदेश दिया है -"इसलिए और भी चिंता है कि सैद्धान्तिक संकीर्णता तथा अहंकार और बुद्धि की सफाई के कारण सामयिक वादों के राग द्वेषात्मक वातावरण में पनपने वाले पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण कहीं आज के कवि को हमारी मूलतः मानवी समस्याओं के प्रति व्यापक सहानुभूति और सच्ची समीक्षा बुद्धि से वंचित न कर दें अथवा कवि का स्वर केवल आगत की अनुगूंज बनकर न रह जाय।"[2] कवि का लक्ष्य वर्गहीन समाज का विधान है। अतः वह यांत्रिक युग के आर्थिक और राजनैतिक आंदोलनों के प्रति सजग रहता है। यहाँ आगत की अनुगूंज न बन जाय का तात्पर्य वर्ग क्रांति से है।

---

1. हंसमाला - पृ.26
2. वही प्रस्तावना - पृ.7

सामाजिक विषमताओं का अंत और लोक जीवन का विकास ही कवि का लक्ष्य होना चाहिए । समविषम का समन्वय काव्य का लक्ष्य होना चाहिए, आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने इस तत्व का समर्थन किया है।[1] " काव्य लोक कल्याण का संवाहक बने । काव्यानंद को इन्होंने सामाजिक कल्याण के रूप में देखा है । यश और अर्थ प्राप्ति को वे काव्य को कमज़ोर बनाने वाले मानते हैं, परंतु इसकी उपेक्षा नहीं की है - पड़े तालियां या कमल कंठमाला ।

नहीं काव्य, जो देन जग को उजाला ।[2] "

काव्य प्रयोजन के संबन्ध में नरेंद्रशर्मा के विचारों का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार काव्य का परम प्रयोजन सामाजिक उपयोगिता है । यह विचार ठीक ही प्रगतिवादी चिंतन पद्धति के अनुकूल दिखाई पड़ता है ।

प्रस्तुत विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नरेंद्र शर्मा सामाजिक उपयोगिता को काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं । आनंद, यश और अर्थ की कामना उसका निम्न प्रयोजन मात्र है । सत्कविता सहज ही इन तीनों गुणों को प्रदान करेगी । इसकी कामना करना कवि का कार्य नहीं है । काव्य प्रयोजनों में इनका प्रतिपादन इनके पूर्व बहुत कवियों ने किया है किंतु उसकी सामाजिक उपयोगिता पर ज़ोर देने के कारण नरेंद्र शर्मा का विवेचन ध्यान देने योग्य है ।

काव्य के तत्व

अनुभूति काव्य का आधारभूत तत्व है । प्रत्येक कवि के जीवन दर्शन और लोक संग्रह की भावना के अनुसार इसमें फरक पड जाता है । प्रगतिवादी कवियों ने भी अनुभूति को काव्य का प्रमुख तत्व माना है । किंतु इन्होंने भौतिक यथार्थ की

---

1. अशोक के फूल, मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है ।
2. हंसमाला - पृ.27

अनुभूति को काव्य का सर्वस्व माना है । कहने का तात्पर्य यह है कि इनका अनुभव क्षेत्र और चिंतन की दिशा का सीधा संबंध वस्तु जगत से है और इसलिए वस्तु जगत के सत्य के प्रति इनके काव्य में अधिक मोह रहा है । कवि नरेंद्र शर्मा के विचार भी इससे भिन्न नहीं है । उनकी यह पंक्ति इसे प्रामाणित करती है कि "नहीं काव्य, वह जो नहीं सत्य का घर ।"[1] सत्य के प्रति उनका यह उत्कट आग्रह किसी आध्यात्मिक रुचि के कारण नहीं हुआ है । बल्कि वैज्ञानिक विश्लेषण से अनुशासित होने के कारण हुआ है । यह कवि चाहता है कि अनुभूति सदैव विचार मंडित हो । वे अनुभूति और विचार को सहभावी मानते हैं । इनके अनुसार कवि को भौतिक जगत का निकट संपर्क रखना अनिवार्य है । नरेंद्रशर्मा तत्संबंधी अपना मत प्रकट करते हुए लिखते हैं - "यदि लेखक अपने अनुभव और विचार को अपने ही समाज से जिससे कि उसके पाठक भी अधिक परिचित है, परिस्थितियाँ और बाह्य उपकरण चुनकर व्यक्त कर सके और पाठकों से परिचित सांचों में ढालकर अपनी कृतियों को सामने रख सके तो निस्संदेह उसके रचनात्मक विचारों में अधिक शक्ति होगी और उसकी कला में अधिक प्रभाव होगा ।"[2] काव्य में अनुभूति सत्यों की अभिव्यक्ति होती है । ये सत्य कवि के अंतर्मन में, उसके ही अंश के रूप में रहकर, अंतत: बाहर निकल जाते हैं । अर्थात् ये सत्य अभिव्यक्ति के क्षण में, हृदय साधना से संबंध रहते हुए, अंत में उसके ही अंतर्मन के विश्लेषण के रूप में प्रकट होते हैं अपने ही अंश को अपने से अलग कर देते हैं । इसलिए नरेंद्र शर्मा को गाना पड़ा - "मैं ने अपने गीत सघन वन अंतराल से खोज निकाले ।"[3] अनुभूति ही काव्य का मर्म है अत: कवि नित्य नयी अनुभूति केलिए प्रयत्नशील है । काव्य में कल्पना के प्रति प्रगतिवादी कवि सतर्क नहीं दिखाई देते हैं । सामाजिक कल्याण उनके काव्य में सर्वत्र दिखाई देता है । अत: हम कह सकते हैं कि नरेंद्र शर्मा अनुभूति को काव्य का प्रमुख तत्व मानते हुए उसमें कल्पना से बढ़कर विचारों से मंडित होना अधिक श्रेयस्कर

1· हंसमाला - पृ·27

2· रूपाभ - सितंबर 1938, पृ·59

3· कदली वन - पृ·7

मानते हैं । यद्यपि प्रगतिवादियों का काव्यादर्श लोक कल्याण की भावना से प्रेरित है तथापि वस्तु जगत के प्रति अति मोह के कारण कभी कभी उनका काव्य शुष्क और नीरस प्रतीत होता है ।

काव्य का वर्ण्य

आज जीवन के समस्त क्रिया कलापोंको काव्य में स्थान दिया जाता है । उस केलिए कोई अस्पर्श्य नहीं है । किंतु प्रगतिवादी कवि शोषित, पीड़ित सर्वहारा वर्ग की जीवन गाथा को अपना विषय बनाते हैं । उनकी दृष्टि में सर्वहारा वर्ग की पीडाओं और दुस्थितियों का वर्णन काव्य का लक्ष्य है । उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करना, संघर्ष का अग्रदूत बनना यही कवि का काम है । यह सारे प्रगतिवादि कवियों को मान्य है, नरेंद्र शर्मा भी इसका अपवाद नहीं है । सांसारिक सुख दुखों का यथातथ वर्णन करना, यही उनकी रचना का उद्देश है । इसलिए उनकी रचनाओं में काम वृत्ति का भी अतियथार्थ वर्णन मिलता है ।

काव्य भाषा

काव्य की भाषा सहज और स्वाभाविक होनी चाहिए । काव्य में, वस्तु पक्ष के विन्यास में, अनुभूति के उन्मेष में सहायक सहज और स्वाभाविक भाषा पर नरेंद्रशर्मा ने ज़ोर दिया है । बौद्धिकता से बोझिल गुरु गंभीर प्रयोग काव्य में अभिव्यक्त अनुभूति के आस्वादन करने में बाधा हो सकता है । अत: शर्माजी ने अपनी कविता में लिखा है - उज्वल बौद्धिक शब्द जाल में, सत्याभासों का भ्रम है [1] ।" साधारण जनों की समस्याओं को उनकी ही वाणी में मुखरित करने के ये कवि पक्षपाति है । सर्व साधारण की भाषा का प्रयोग पर शर्माजी ने बल दिया है ।

1· हंसमाला - पृ·22

काव्य में अलंकार

काव्य में अलंकार मोह की नरेंद्र शर्मा ने कटु आलोचना की है। उनके मन में अलंकार भाव योजना में कृत्रिमता का कारण बन जाता है। उससे काव्य का विचार पक्ष बोझिल और दुरूह बन जाता है। वे कहते हैं -

यह अलंकार बहुभार मोह के
बंधन है, दे तोड़ इन्हें [हंसमाला, पृ.13]
वाणी अलंकार प्रिय बनकर
केवल बोझिल छंद हो गई। [कदलीवन, पृ.86]

यह विचार प्रगतिवादी काव्य के अनुकूल है। किंतु काव्य में अलंकार की प्रधानता को अस्वीकार नहीं कर सकता। भाव प्रकाशन में उसका बड़ा स्थान है। निरे सत्य का साधारण जनों की वाणी प्रस्तुत करने के बजाय अलंकृत भाषा में प्रकट करे तो उसका प्रभाव अधिक होगा। काव्य के छंदों का उन्होंने स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है। फिर भी मुक्त छंद के प्रति जो मोह है, वह उनकी कविताओं में प्रकट होता है। क्योंकि बंधन तो बोझिल है, मुक्त रहना अधिक वांछनीय है। यह सभी कवियों की कामना है। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि नरेंद्र शर्मा काव्य में जन साधारण की भाषा पर अधिक बल देते हैं। अलंकार उन्हें बोझिलता और दुरूहता का कारण लगता है। मुक्त छंद के प्रयोग से कविता शोभित होती है

व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत नरेंद्रशर्मा ने यथार्थ और आदर्श, प्रगतिवाद जैसे काव्य प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। यथार्थ और आदर्श के संबंध में उनका विचार बहुत संक्षिप्त है। प्रगतिवाद के संबंध में उन्होंने विस्तार से प्रतिपादन किया है। प्रगतिवाद की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन करने के साथ उन्होंने उस काव्य प्रवृत्ति के पतन के कारणों की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त

समय समय पर रचित कुछ अन्य निबंध भी उपलब्ध होते हैं जिनमें उन्होंने अपने समसामयिक कवियों तथा उनकी रचनाओं का विवेचन किया है । आगे हम उनकी व्यावहारिक आलोचना की विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे ।

प्रगतिवाद का मेरुदण्ड मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है । उसमें वर्गहीन समाज की स्थापना से सबके समान अधिकार का महत्व दिया गया है । प्रगतिवाद मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप माना जाता है । प्रगतिवाद ने मार्क्स के सिद्धांत के आधार पर वर्ग संघर्ष को सामाजिक और मानवीय मुक्ति का मार्ग अपनाते हुए, नवीन सामाजिक जागरण की भूमिका प्रस्तुत की है । प्रगतिवाद की इस प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए नरेंद्र शर्मा लिखते हैं कि "प्रगतिवाद साहित्य और कला के क्षेत्र में, वह सक्रिय मतवाद विशेष है जो समाज की प्रगति में व्यक्ति की प्रगति तथा व्यक्ति की प्रगति में समाज की प्रगति जानता है ।" प्रगतिवादी कवि सामाजिक उन्नति में व्यक्ति के विकास का दर्शन करता है । समाज निरपेक्ष प्रगति उसके विरुद्ध है । नवीन सामाजिक जागृति के लिए जीर्ण शीर्ण पुरानी मान्यताओं का विरोध करना आवश्यक है । इस केलिए साहित्य ही एकमात्र साधन है । इसलिए साहित्य में, पुरानी परंपरा पोषित साहित्यिक मानदण्डों का खण्डन करके नवीन मानदण्डों की स्थापना प्रगतिवादी कवि का लक्ष्य रहा है ।

साहित्य मनुष्य की व्यापक और नित्य अनित्य सभी प्रकार की भावनाओं का गुम्फन है । उसमें सभी तरह के भावों को स्थान दिया जाना चाहिए । जैसे प्रेम, विरह, तृष्णा, वासना, राग, मोह आध्यात्मिकता आदि । क्या वर्ग हीन समाज के लोग इनसे परे होते हैं । प्रगतिवाद केवल राजनैतिक विचारों का प्रचार करने की उपाधि नहीं है । काव्य में भाव पक्ष और कला पक्ष को समुचित स्थान देना चाहिए । नरेंद्र शर्मा इसका समर्थन करते हुए लिखते हैं कि "वस्तुजगत और भाव जगत परस्पर निरपेक्ष नहीं है । वह तो परस्पर संबंध थे, रहे हैं और रहेंगे

---

1. आलोचना, जुलाई 1952 - पृ.88

दोनों के पक्षपातियों का एकांगी दृष्टिकोण केवल अर्धसत्यों का पोषक करता रहा है।[1]" वस्तु सत्य के प्रति मोह रखना दोष नहीं है किंतु कविता में अपनी रागात्मक अनुभूति सुरक्षित रखना प्रत्येक कवि का धर्म है। नरेंद्र शर्मा के अनुसार सब वाद विवाद सामयिक है, केवल जग जीवन की रागात्मक अनुभूति ही अक्षुण रहेगी।

<u>अतिशय कल्पना का विरोध</u>

छायावाद के अतिसूक्ष्म, वायवीय कल्पना के विरोध में, कलापक्ष में एक आंदोलन के रूप में प्रगतिवाद का जन्म हुआ था। इसलिए प्रगतिवादी कवियों ने अपनी रचनाओं में वस्तु जगत के यथातथा वर्णन करने योग्य सहज स्वाभाविक शैली को अपनाया। नरेंद्र शर्मा इसके बारे में यों लिखते हैं -

"नहीं पनपते आज कल्पना के कोमल अंकुर।
शब्द वही, पर अर्थ नहीं वह, बदली परिभाषा।[2]"

लेकिन इसका कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि नरेंद्र शर्मा काव्य में कल्पना के विरोधी है

<u>वैयक्तिकता का विरोध</u>

प्रगतिवादी कवि साहित्य को व्यक्ति चेतना की उपज नहीं मानते। क्योंकि उनका परम ध्येय सामाजिक सुधार है। व्यक्ति का महत्व उसे अस्वीकार है। नरेंद्र शर्मा का निम्न विचार इस पर प्रकाश डालता है कि "प्रगतिवाद साहित्य और कला के क्षेत्र में वह सक्रिय मतवाद विशेष है जो समाज की प्रगति में व्यक्ति की प्रगति तथा व्यक्ति की प्रगति में समाज की प्रगति जानता है।[3]"

---

1. कदलीवन - पृ.5
2. मिट्टी और फूल - पृ.71
3. आलोचना, जुलाई 1952 - पृ.88

व्यक्ति सत्य के ऊपर समाज सत्य की महत्ता हमें स्वीकार है। परंतु इसका विरोध कई विद्वानों ने किया है। डॉ॰ नगेन्द्र इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि "साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक और सामूहिक चेतना नहीं, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है। मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है।"[1]

प्रगतिवाद के पराभव के कारण

प्रगतिवाद के समर्थक कवियों ने उसके पराभाव के कारणों की चर्चा की है। इनमें पंत, नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि का विचार विशेष ध्यान देने योग्य है। छायावाद की अतिसूक्ष्म सौंदर्य कल्पना और वैयक्तिकता प्रगतिवाद में आकर वस्तु प्रधान [भौतिक] सामाजिकता में परिणत हो गई। स्वानुभूत आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर सामाजिक संघर्ष की रौद्र ध्वनि मुखरित होने लगी। सर्वहारा वर्ग की समस्याओं को अधिक महत्व दिये जाने के कारण प्रगतिवाद एकांगी हो गया। समाज के दूसरे लोगों को वे अनदेखे रहे। कलापक्ष में कल्पना के तिरस्कार के कारण जन जीवन का शुष्क नीरस चित्रण काव्य को रसहीन बना दिया। कवि का दृष्टिकोण एकांगी रहा इसलिए उनकी रचनाएं सर्वांगीण शक्ति से शून्य रहा। सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट करने वाले कवि की अनुभूति की कमी, नरेंद्र शर्मा की राय में, काव्य को मार्मिक नहीं बना सकी - हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति है। अपने वर्ग में उनकेलिए स्थान नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके संस्कार और जीवनचर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नहीं है। जनता केलिए वे दुरूह है। जनता उनके अस्तित्व से भी अनभिज्ञ है। जनता में उनके गुण ग्राहक कहाँ मिलेगा ?"[2]

---

1. काव्य चिंतन - पृ॰66
2. प्रवासी के गीत, वक्तव्य - पृ॰4

निष्कर्ष

श्री॰ नरेंद्र शर्मा की काव्य मान्यताओं का विवेचन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि काव्य सिद्धांतों का स्वतंत्र और विस्तृत विवेचन करना उनका ध्येय नहीं था । एक तरह दूसरी समसामयिक सामाजिक समस्याओं की पर्यालोचना करते वक्त उन्होंने काव्य कला संबंधी अपनी मान्यताएं व्यक्त की हैं । काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन और काव्य भाषा के विवेचन में उनके विचार महत्वपूर्ण है तथा मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्र के अनुकूल है । प्रगतिवाद के प्रतिपादन में उन्होंने उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों पर कई दिशाओं से प्रकाश डाला है । उन्होंने उसके पतन के कारणों पर तटस्थ रहकर अपना मत व्यक्त किया है ।

रामेश्वर शुक्ल अंचल की काव्यालोचना

प्रगतिवादी कवि आलोचकों में श्री॰ रामेश्वर शुक्ल अंचल उल्लेखनीय है । उन्होंने इस काव्य धारा के विकास में अपनी सर्जन शक्ति से भरपूर योग दिया है । ये एक अच्छे कवि भी है, साथ ही अच्छे आलोचक प्रगतिवादी काव्य धारा के स्वरूप के अनुसार काव्यशास्त्र के स ुचित सिद्धांत प्रतिपादन किया है । जिस काव्य धारा के वे प्रतिनिधि रहे हैं, उसके अनुसार साहित्य सिद्धांतों को स्थापित करने का प्रयत्न उन्होंने किया है । अंचल जी की साहित्य संबंधी विचार धारा उनके "काव्यसंग्रह, भाग-2" की भूमिका, "समाज और साहित्य" जैसे ग्रंथों में प्राप्त होती हैं । इसके अतिरिक्त समय समय पर उन्होंने पत्र पत्रिकाओं में अनेक निबंध प्रकाशित किये हैं, जिनमें अंचल जी का आलोचक रूप उभर आया है । आगे हम इनके सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना की परीक्षा करेंगे ।

काव्य का स्वरूप

हिन्दी कविता साहित्य में के विकास की रूपरेखा प्रगतिवाद में आकर एक दम बदल गई । यहाँ आकर काव्य के स्वरूप में परिवर्तन आ गया । कल्पना जटिल जीवन समस्याओं के स्थान पर सर्वहारा, शोषित पीड़ित जनता की जीवन समस्यों को स्थान मिलने लगा । कवि का दृष्टिकोण बदल गया । साम्यवादी सिद्धांतों के आधार पर यथार्थोन्मुख समस्याओं के प्रतिपादन से नयी सामाजिक चेतना तथा क्रांति उत्पन्न करने लायक कविताओं की रचना शुरू हो गयी । इसलिए कवि को पुरानी काव्य की परिभाषाएं अपूर्ण परिलक्षित होने लगी । उन्होंने नये सामाजिक मानदण्डों के अनुकूल काव्य का ढांचा स्थापित करने के लिए उसकी नयी परिभाषा दी । प्रगतिवादी कवि समाज को व्यक्ति के परे मानते हैं । समाज की प्रगति इन्हें अभिलषणीय है । काव्य की परिभाषा देते हुए अंचल जी कहते हैं -

"कविता सामाजिक शक्तियों की अभिव्यक्ति और कवि के सामाजिक अनुभवों की स्वतंत्र रचना है।[1]" यहाँ उन्होंने कवि की व्यक्ति चेतना का निषेध किया है। उनके मत में कविता व्यक्ति चेतना की उपज नहीं, सामाजिक चेतना की उपज है। आगे अंचल ने सामाजिक अनुभूति की व्याख्या मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यों की है कि साहित्य मनुष्य और उसकी परिस्थितियों या वातावरण के पारस्परिक संग्राम का व्यक्तीकरण है[2]। मार्क्स का वस्तुवादी दृष्टिकोण काव्य को जीवन की सम विषम स्थितियों में सामंजस्य स्थापित करनेवाली शक्ति मानता है और उसे उसका सशक्त उपकरण मानता है। अतः उसमें वैयक्तिक अनुभूतियों की अपेक्षा सामाजिक अनुभूतियों को प्रमुखता दी गई है। इसे अंचल ने यों व्यक्त किया है कि साहित्य सदैव मानव समाज की स्वाधीनता केलिए किया गया विचारात्मक और कलात्मक उद्योग है जो व्यक्तिवादी समाज में सम्पूर्ण मानव समाज की सांस्कृतिक स्वाधीनता का प्रवर्तक होता है[3]।"

<u>काव्य की आत्मा</u>

काव्य की आत्मा के विषय में अंचल ने रस का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार रस की सारवत्ता काव्य में असंदिग्ध है। वे लिखते हैं कि "मेरा विश्वास है कि ऊंची से ऊंची सामयिकता, सामाजिकता और प्रगतिशीलता - आदर्शों की बड़ी से बड़ी स्वप्न योजना रस के माध्यम से ही साकार और सप्राण होती है[4]।" आगे वे कहते हैं कि "कविता का लक्ष्य रस की प्राण प्रतिष्ठा है[5]।" "अंचल" ने काव्य में रस की प्रतिष्ठा को असंदिग्ध मानने पर भी उसका मार्क्सीय दृष्टिकोण से परिभाषित करने की चेष्टा की है। प्रगतिवादी कवि सामाजिक विकास

---

1. काव्य संग्रह, भाग-2, भूमिका - पृ.64
2. समाज और साहित्य, आमुख - पृ. 8
3. वही - पृ.3
4. माखनलाल चतुर्वेदी : एक अध्ययन, सं.बख्शी [माखनलाल जी का प्रगतिशील दृष्टिकोण - अंचल, पृ.30]
5. काव्य संग्रह, भाग-2, पृ.69

हेतु काव्य की रचना का लक्ष्य मानते हैं, अतः वैयक्तिक अनुभूतियों को समाज हित हेतु प्रस्तुत करने में रस की परिकल्पना साकार मानते हैं । और वे यह भी मानते हैं कि वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति पूंजीवादी साहित्य की विशेषता है, यह प्रगतिवादी काव्यसीमा से बाहर की वस्तु है । उनके अनुसार काव्य में रस की योजना तभी सार्थक होगी जब वह समाज कल्याण की भावना को स्थान दें । मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा "रस सिद्धांत और आधुनिक साहित्य" शीर्षक लेख में इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखण्डता और रस के स्वयं प्रकाश अलौकिक ब्रह्मानंद सहोदर होने की बातें दोहराता रहेगा, तो वह समाज के विकास में कभी सहायक न हो सकेगा ।[1]" इन पंक्तियों में शर्माजी ने रस की भावात्मक सत्ता का तिरस्कार या बुद्धि से अनुशासित रखने की बात नहीं कही है बल्कि वस्तुवादी दृष्टिकोण के अनुकूल सामाजिक हित के अनुकूल रस की निष्पत्ति की बात कही है ।

काव्य की आत्मा के रूप में अंचल ने दूसरे सम्प्रदायों का निषेध नहीं किया । उनका कहना है कि "हमारे यहाँ जो भिन्न भिन्न काव्य सम्प्रदाय बन गये हैं - रस सम्प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय और ध्वनि सम्प्रदाय ये एक दूसरे के विरोधी नहीं वरन् एक दूसरे के पूरक हैं।[2]" यह दृष्टिकोण अंचल के स्वस्थ विचार का परिचायक है ।

काव्य-हेतु

काव्य रचना की प्रेरणाओं में अंचल ने प्रतिभा को अधिक महत्व दि[...] वे कहते हैं कि "लिखता मैं तभी हूं जब मेरे भीतर कला की वेदना फूटती है [...] की पूर्ति के लिए मैं नहीं लिख पाता ।[3]" प्रतिभा को सभी विद्वान मानते हैं और अभ्यास के संबंध में अंचल कहते हैं कि "पल्लव और वीणा की कविताएं

---

1. प्रगति और परंपरा, पृ॰119
2. काव्य संग्रह-2, भूमिका - पृ॰11
3. मैं इनसे मिला, भाग-2, सं॰ पद्मसिंह शर्मा कमलेश - पृ॰185

मेरे भीतर कामना जागी कि मैं भी कविता लिखूं[1]।" कवि का लोक दर्शन और सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति अंचल के अनुसार कम प्रेरणा नहीं है -"आज की गलत सामाजिक व्यवस्था और उसके शोषण के दुष्परिणामों ने भी मुझे प्रेरणा कम नहीं दी है[2]।" क्रौंच वध से उद्भूत करुणा आदि कवि वाल्मीकि के कंठ से कविता के रूप में फूट पड़ी तो दलित पीड़ित और शोषित सर्वहारा वर्ग की जीवन धारा से कविता बह सकती है। अंचल की इस स्थापना में नवीनता है। तात्पर्य यह है कि सामाजिक प्रेरणाएं काव्य का अजस्र स्रोत हैं, इसमें संदेह नहीं।

काव्य का प्रयोजन

काव्य के प्रयोजन के संबंध में प्रगतिवादियों की व्यक्त धारणा है। काव्य आनंददायक हो परंतु उससे बढ़कर वह सामाजिक उन्नति के विकास का कारण बन यही उनका विचार है। अंचल ने काव्य को समाज के उपकार के साधन के रूप में मानकर लिखा है - "साहित्य यदि वह सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है तो सदैव जीवन को अधिकाधिक निकट से देखेगा और मानवीय उपकरणों के विकास और कल्याण पर ज़ोर देगा[3]।" आगे इस विचार को उन्होंने यों स्पष्ट किया है कि "सारी कला प्रचार है ऐसा न कह कर यदि हम कहें कि साहित्य सदैव एक वस्तुसत्ता से पूर्ण सामाजिक प्रयोजन की उपयोगितापूर्ण परिपूर्ति है तो उचित होगा। साहित्य का दूसरा प्रयोजन है प्रत्येक उस स्थिति को नए तौर पर सृजित करना जो मनुष्य में जीवन के प्रति अनुराग पैदा करती है[4]।"

---

1. अवंतिका, नवंबर-दिसंबर, 1956 - पृ.479
2. मैं इनसे मिला - पृ.171
3. किरण बेला, भूमिका- पृ.ख
4. समाज और साहित्य, आमुख - पृ.10

प्रगतिवाद पर एक आरोप लगाया जाता है कि वह प्रचारवादी साहित्य है। अंचल ने उसका निषेध करने के साथ प्रगतिवादी रचना के मूल उद्देश पर प्रकाश डाला है। साहित्य को सामाजिक प्रगति के साधन होने के साथ जीवन के प्रति अनुराग पैदा करने योग्य भी होना चाहिए। काव्य के दूसरे प्रयोजन आनंद के संबंध में अंचल ने कहा है कि "कविता का लक्ष्य, उसका आधारभूत सत्य आनंद है। आनंद से बड़ा कौन लोक हित होगा - जीवन की कौन सी उपयोगिता, उससे बड़ी कही जायेगी।[1]" काव्य के बाह्य प्रयोजनों में उन्होंने यश और अर्थ का विरोध नहीं किया है, परंतु काव्य रचना का लक्ष्य इनकी प्राप्ति हेतु नहीं होना चाहिए। इनका कहना है कि "कलाकार को जीविका केलिए दूसरा माध्यम चुनना चाहिए। ..... यह अलग है कि जो वह लिखे, उसे वह अधिक से अधिक मूल्य पर बेचे और उस पर ज्यादा से ज्यादा लाभ पाने की चेष्टा करे, लेकिन लिखे वह स्वतंत्र प्रेरणा से ही, पैसे केलिए नहीं।[2]"

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है कि अंचल के काव्य के प्रयोजन संबंधी विचार, भौतिकवादी अधिक हैं।

काव्य के तत्व

यथार्थ सत्य है। सत्य की अनुभूति अभिव्यक्ति पाने केलिए कवि को विवश करती है। तब कवि कल्पना का सहारा लेता है। सत्य की अनुभूति कल्पना के श्रृंगार से, काव्य में सुंदर बन जाती है, इसलिए काव्य सत्यं शिवं सुंदरं का उपासक कहा जाता है। प्रगतिवाद में वस्तु जगत के यथार्थ का मोह अधिक है और कवि उसकी अभिव्यक्ति, अपने काव्य में, करने केलिए अधिक प्रयत्नशील है।

---

1. काव्य संग्रह, भाग - 2 - पृ.9
2. मैं इनसे मिला, भाग - 2 - पृ.187

इसकी गहराई तीव्रता और व्यापकता में कवि कल्पना के प्रति कम ध्यान देते हैं । काव्य के तत्वों में आलोचक "अंचल" अनुभूति की महान्ता यों प्रकट करते हैं कि "काव्यात्मक सृजन में मैं कल्पना को अनुभूति की मुखापेक्षी मानता हूँ । यदि अनुभूति में गहराई, तीव्रता और व्यापकता होगी तो उसका श्रृंगार करनेवाली कल्पना भी उदात्त, विराट, स्पंदनशील और प्राणवान होगी । नहीं तो वह केवल रूढ़िगत और साँचे के त्यक्त केंचुल जैसी निष्प्राण होगी[1] ।" इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि अंचल काव्य में अनुभूति की प्रधानता असंदिग्ध रूप से स्वीकार करते हैं । कल्पना को भी वे अनिवार्य तत्व मानते हैं, किंतु उचित मात्रा में । कल्पना का अतिशय प्रयोग उन्हें अभिकाम्य नहीं । अनुभूति की गहनता, तीव्रता और व्यापकता के अनुसार कल्पना को अनायास ही कवि की सहायता करनी होगी । अतिशय कल्पना काव्य को निष्प्राण बना देगी । अनुभूति और कल्पना का समुचित सामंजस्य काव्य सौंदर्य को प्रकर्ष देगा ।

काव्य के वर्ण्य विषय

जीवन के समस्त क्रिया कलापों को "अंचल" साहित्य के उपजीव्य मानते हैं कोई चीज़ उसकेलिए वर्ज्य नहीं है । समाज के निम्न स्तर के लोगों का शोषित पीड़ित जीवन उन्हें अधिक प्रिय रहा है । उनके प्रति अधिक सहानुभूति उन्होंने दिखाई है । समाज के यथा तथा धर्म के नाम वैयक्तिक कामवासना, कुंठा आदि के प्रति अंचल सतर्क दिखाई देते हैं । उनके अनुसार "यौवन की सुंदर व्याख्या समाज केलिए अहित नहीं ।"

काव्य भाषा

भाषा भावों का स्वाभाविक परिधान हो । कृत्रिमता और कठिनता भावों को दुरूह और बोझिल बना देगी, यही अंचल की धारणा है । वे कहते हैं कि

---

1. "अवंतिका" - आत्मनिवेदन, नवंबर-दिसंबर, 1956 - पृ.482

"अनुभूति की प्रचुरता काव्य भाषा को भी अधिक सरल, वेसाख्ता और यथार्थवाहिनी बना सकती है।[1]" यहाँ उन्होंने अकृत्रिम, सरल और स्वाभाविक भाषा पर बल दिया है। आम आदमी के जीवन साथी कवि इससे भला क्या कह सकते हैं। जीवन का व्यापक दृष्टिकोण उनकी बपौती है, अतः बोलचाल की भाषा ही उस के लिए अधिक उपयुक्त है।

अलंकार मोह उनके मत में काव्य को दुरूह बना देगा। छंद संबंधी उनका विचार, बहुत संक्षिप्त है। बंधन तो बोझिल है, मुक्त रचना वांछनीय है। केवल काव्य में मुक्त छंद का समर्थक है। अलंकार के प्रति अतिमोह अवांछनीय है, किंतु उसकी उपेक्षा भी सराहनीय नहीं है।

व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने मुख्यतः प्रगतिवाद का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त आदर्श और यथार्थ के संबंध में उनका संक्षिप्त विचार उपलब्ध होता है।

आदर्शवाद और यथार्थवाद

जो सब केलिए स्वीकार्य है वही आदर्श है। जीवन में घटित होनेवाली बातों में सद् असद् का विवेचन करके सद् का आदर्श उपस्थित करना, तात्पर्य है कल्याण-कारी बनाना। जो है, उसके बदले जो होना चाहिए, यही आदर्श का मेरुदण्ड है। इसमें व्यक्ति की विकृतियों को, समाज को अहित होने के कारण दमित करने की प्रवृत्ति अधिक है। आदर्श सत्य नहीं है, वह कल्पना मात्र है। यथार्थ सत्य है

---

1. अवन्तिका, 1956, पृ. 482

क्योंकि वह वस्तुजगत की क्रिया प्रतिक्रिया का परिणाम होता है । चाहे उसमें गुण और अवगुण का विकार होता है । वस्तुजगत के प्रति भौतिक दृष्टिकोण रखने के कारण प्रगतिवादी की झुकाव यथार्थ की ओर है । जैसा जीवन है, वैसा ही वर्णन करना साहित्यिक यथार्थवाद है । उसमें सुंदर असुंदर का भेद नहीं होता क्योंकि जीवन में इन दोनों का मिलन होता है । आदर्शवाद जीवन के शाश्वत और कल्याणकारी पक्ष का प्रतिपादन करने के कारण एक तरफ से उसे एकांगी कहना होगा । यथार्थवादी जीवन के यथातथा वर्णन के नाम पर अपनी कुत्सित कुंठाओं और मानसिक कामवृत्तियों को प्रतिपादन करते हैं । यह भी उचित नहीं है । आदर्श अतिशयोक्ति से भरा रहता है । यथार्थ, आज का यथार्थ अतिभौतिक होने के कारण कुत्सित तथा नकारात्मक हो जाता है । इसलिए अंचल कला में इन दोनों का होना आवश्यक मानते हुए कहते हैं कि "आदर्श और यथार्थ दोनों उपलक्ष्य है; लक्ष्य नहीं, साधन है, साध्य नहीं ।

कला दोनों से जीवन के रंग और रूप लेकर, दोनों से प्र ाण स्रोत खींचकर भी दोनों से परे होगी[1] ।" तात्पर्य यह है कि साहित्य में इन दोनों का महत्व है परंतु साहित्य का लक्ष्य आदर्श और यथार्थ का चित्रण नहीं, सौंदर्य की सृष्टि है । जीवन यथार्थ है । उसमें अच्छी और बुरी बातें घटित होती है । उसे हम टाल नहीं सकते । परंतु अनुभव के आधार यथार्थ के अच्छे रूप को स्वीकार कर सकते हैं । उसमें आदर्श को समाहित किया जाय तो विकास, चाहे जीवनमें हो या साहित्य में शाश्वत बनेगा । इसी को लक्ष्य करके अंचल लिखते हैं कि "यथार्थवाद मेरे लिए एक चित्रण शैली है, जीवन दर्शन नहीं और आदर्शवाद मेरे निकट जीवनहीन परंपराओं का दास बनाने वाला मतवाद नहीं, वरन् एक क्रांतिम्मुखी मर्यादा है[2] ।" परंपरा पोषित जीवन मूल्यों का ध्वंस करके नये समाज की सृष्टि में आदर्श की सार्थकता है;

1· काव्य संग्रह, भाग-2, भूमिका - पृ·45
2· मैं ने इन से मिला, भाग-2, पृ·177

यही उनका तात्पर्य है । यथार्थ जीवन को प्रतिबिंबित करनेवाली एक साहित्यिक चित्रण शैली है जिसमें आम आदमी की पीडा प्रतिध्वनि कर दें । अंचल का विचार, आदर्शवाद और यथार्थवाद के संबंध में, अधिक युक्ति संगत लगता है । यथार्थ की धरती पर आदर्श की स्थापना, बाधक न होकर साधक अधिक होती है ।

प्रगतिवाद

सामाजिक विकास के उपलक्ष्य में प्रस्तुत मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आधार बनाकर साहित्य में जिस वैचारिक आंदोलन का आविर्भाव हुआ, वह प्रगतिवाद के नाम से अभिहित है । सामाजिक विकास केलिए पहले भौतिक उन्नति प्राप्त करनी चाहिए । इसकेलिए समाज के निम्न स्तर के,सर्वहारा वर्ग के लोगों की स्थिति में परिवर्तन लाना बहुत आवश्यक है । इस विचारधारा के साहित्यकारों को अनुभव हुआ कि उनके साहित्य में, इसलिए उस उपेक्षित वर्ग की गाथा मुखरित हो । और उन्होंने उनके शोषित पीडित अभावग्रस्त जीवन को अपना प्रतिपाद्य बनाया । जीवनगतिशील है, जब उसमें अग्नि आ जाती है तब वह मृत हो जाता है । इसे सतत जीवंत बनाने केलिए नये मूल्यों का निर्माण आवश्यक है, पुराने मूल्यों को नष्ट भ्रष्ट करने से यह संभव होगा । परंपरा पोषित साहित्यिक मूल्यों का निषेध इसलिए प्रगतिवाद को करना पडा । और नवीन सामाजिक जागृति, राजनैतिक चेतना, अतिशय कल्पना का विरोध और वैयक्तिकता का विरोध इस काव्य धारा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ बन गयी । आगे यहाँ हम प्रगतिवाद विषय में अंचल के विचारों का इन प्रवृत्तियों के आधार पर विवेचन करेंगे ।

नवीन सामाजिक जागृति

प्रगतिवाद ने सैद्धान्तिक रूप में मार्क्सवाद को स्वीकार किया था । वर्गहीन समाज की स्थापना से सबको समान अधिकार प्राप्त हो । यही मार्क्सवाद का लक्ष्य था । इसलिए प्रगतिवाद ने इस सिद्धांत के आधार पर वर्ग संघर्ष को

मानवीय मुक्ति का मार्ग स्वीकार करते हुए, सामाजिक जागरण की नवीन भूमिका प्रस्तुत की । समाज की प्रगति में व्यक्ति की प्रगति और व्यक्ति की प्रगति में समाज की प्रगति देखनेवाले प्रगतिवादी साहित्यकार समाज से प्रतिबद्ध है । यथार्थ जीवन का प्रतिपादन को प्रमुखता देते हुए अंचल कहते हैं कि "प्रगतिवादी कला विलासिता या अलस बौद्धिकता की हिमायती नहीं है । वह दुर्धर्ष मानवता का विकासोन्मुख आदर्श प्रेरित किंतु यथार्थ जीवन दर्शन सामने रखती है।[1]" जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण रखनेवाले कवि मानवता के विकास को लक्ष्य करके उसमें आदर्श का समन्वय भी चाहते हैं । विलासिता के मानवेतर उपकरणों तथा बौद्धिक जड़ता, ये सामाजिक उन्नति में बाधक समझते हैं । सामाजिक विकास का सूत्र पुरानी रूढ़िगत मूल्यों के खण्डन से संभव है । इसलिए सामाजिक असंतुलन को मिटाने केलिए वर्ग क्रांति का संदेश देकर, कवि ने अपने साहित्यिक क्षेत्र में तदनुकूल परिवर्तन किया । काव्य में, अब तक उपेक्षित रहे । सर्वहारा वर्ग की दर्द भरी कहानी वर्णित होने लगी । काव्य कला में कल्पना की अधिकता कम हो गयी, सर्वसाधारण की भाषा में उनकी रचना की जाने लगी । इन सबसे साहित्यिक क्षेत्र में एक क्रांति पैदा हो सकी । परंतु इनका एक दोष भी हुआ कि प्रगतिवादी कला एकांगी बन गयी । इसी पर ध्यान देते हुए अंचल ने लिखा है कि "केवल व्यंग्य और विधायक भावुकता कविता नहीं है । आज नव जागरण और सांस्कृतिक परंपरा का रसमय समन्वय करने की आवश्यकता है । पंत से लेकर छोटे से छोटे प्रगतिवादी कहे जानेवाले कवि ने इस महान सत्य को समझ लिया है।[2]" अंचलजी के कथन से स्पष्ट होता है कि नव जागरण का संदेशवाहक बनना कवि का धर्म है । किंतु उसमें सांस्कृतिक परंपरा के रसमय समन्वय आवश्यक है । केवल विचारों का प्रचार कविता नहीं, आनंद देनेवाली है कविता । प्रस्तुत विचार उनके उच्च काव्यादर्श का परिचय देता है । कविता के सामयिक धर्म की पूर्ति के साथ उसकी महानता पर भी यहाँ प्रकाश डाला गया है ।

---

1. समाज और साहित्य - अंचल - पृ.77
2. हिन्दी साहित्य अनुशीलन - पृ.301-302

राजनैतिक चेतना

प्रगतिवाद के संबंध में कहा जाता है कि वह मार्क्सवादी विचारधारा का साहित्यिक रूपांतरण है । वर्ग संघर्ष के द्वारा सामाजिक क्रांति और उसके फलस्वरूप साम्यवाद की स्थापना चाहनेवाले उपिक्ष कहते हैं - "प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा कहा जाता है तो एक प्रगतिवादी के नाते मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं दीखती[1]।" प्रगतिवाद का लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन है; सुधार के द्वारा नहीं, बल्कि क्रांति के द्वारा । क्रांति मैचाने केलिए आग उगलनेवाली विचारों को मानव के भीतर पैदा करना ज़रूरी है । अंचल कहते हैं कि "प्रगतिवाद के सामने सबसे पहली समस्या है उस समाज को बदलने की - सुधार के द्वारा नहीं वरन् साम्यवादी क्रांति के माध्यम से - जो मनुष्य के मनुष्यत्व को पग पग पर प्रताड़ित करता है[2]।" साधारणत: इसे राष्ट्रीयता का विरोधी माना जाता है । किंतु इसका निषेध करते हुए अंचल ने कहा है कि प्रगतिवाद "जनता की उन्नति के मार्ग में रोड़ा अटकानेवाले सभी वादों का विरोधी होता है, राष्ट्रीयता का नहीं[3]।" इस विवेचन से व्यक्त होता है कि प्रगतिवाद साम्यवादी राजनैतिक विचारधारा का पोषक साहित्यिक आंदोलन है ।

अतिशय कल्पना का विरोध

छायावादी कविता में अतिसूक्ष्म कल्पना और बिंब विधान की भरमार थी । सामान्य जनता इसे विस्मय की दृष्टि से देख रही थी । छायावाद की कल्पना जगत से कविता को धरती पर उतार देने केलिए प्रगतिवादी कवियों ने इसमें वस्तुजगत के सत्यों का प्रतिपादन आम जनता की भाषा में उपस्थित करना शुरू किया ।

---

1. समाज और साहित्य - अंचल - पृ.2
2. वही - पृ.149
3. मैं इनसे मिला, भाग-2 - पृ.182-183

लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि प्रगतिवाद कल्पना के परे है । प्रगतिवाद में कल्पना को समुचित स्थान दिया गया है । प्रगतिवादी कल्पना के स्वरूप के संबंध में अंचलजी का निम्न कथन प्रकाश डालता है - 'प्रगतिवाद को सपनों से आपत्ति नहीं है । परंतु वे स्वप्न एक नूतन, सुंदर परिपूर्ण और आदर्श जीवन के निर्माण के प्रतीक होने चाहिए[1] ।' प्रगतिवादी कल्पना के विरोधी नहीं होता, उनको केवल अतिशय कल्पना से विरोध है, जैसे छायावाद में होता है । कल्पना संयत और समुचित होना चाहिए, तभी वह काव्य के सौंदर्य को बढ़ाने में समर्थ होगी । आदर्श समाज की स्थापना में सहायक सुंदर, यथार्थ दर्शन में गति देने वाली कल्पना का प्रगतिवाद स्वागत करता है ।

वैयक्तिकता का विरोध

समाज की प्रगति में व्यक्ति का कल्याण है । समाज के प्राणी होने के नाते कवि को उसकी उन्नति में अपने को समर्पित करना चाहिए, यही प्रगतिवाद का आदर्श है । काव्य में कवि की व्यक्तिगत अनुभूतियों के स्थान पर समाज हित चीज़ों को, तत्वों को प्रश्रय देना वे चाहते हैं । प्रगतिवादी कवि अपनी अंतर्मुखी दृष्टि को नवीन सामाजिक चेतना उत्पन्न करने में उपयोगी बनाना चाहता है । इसलिए अंचल कहते हैं कि "आज की प्रगतिशील कविता का एक नवीन हृदय धर्म और बुद्धि धर्म बनाकर व्यक्ति के अहं को समष्टि के जागरण का रूप देकर अपनी एक दृष्टि निश्चित कर चुकी है और उसी का विनियोग जीवन के हर प्रसंग में कराके एक नवीन मानवता के निर्माण केलिए संघर्ष कर रही है[2] ।" समाज के विकास में बाधक वैयक्तिक रुचियों की उपेक्षा करके एक नवीन दृष्टि कोण का निर्माण करना, उचित ही है । इसमें नवीनता भी है । किंतु यह न भूलना चाहिए कि कविता कवि की आत्माभिव्यक्ति की उपज है । यहाँ डॉ॰ नगेन्द्र का कथन विशेष ध्यान देने योग्य है - 'साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक और सामूहिक चेतना नहीं, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है । मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई है और उसका पहला रूप ही मौलिक है[3] ।'

1· समाज और साहित्य - पृ॰26
2· किरण वेला, भूमिका - पृ॰ख
3· प्रगतिवाद और हिन्दी साहित्य : काव्यचिंतन - नगेंद्र - पृ॰66

प्रगतिवाद के पराभव के कारण

प्रगतिवाद के समर्थक कवियों ने इसके पराभव के कारणों को भी ढूंढ निकाला है । इन कवियों का विचार इस संदर्भ में उन आलोचकों के विचारों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने ही उसकी प्रतिष्ठा साहित्यिक जगत में की है । जब वह रोगग्रस्त हो गया तब उसके कारणों की तलाश तथा उसके निवारण करना स्वाभाविक रूप से इनका धर्म है । छायावाद जब धरती से अपना संबंध विच्छेद कर आकाश में कल्पना के पंखों पर उड़ने लगा तब उसे धरती की ओर खींच लेने का साहसपूर्ण कार्य लेकर प्रगतिवादी आगे आये । इस कार्य में वे कुछ हद तक सफल भी हुए । यह सच है कि उनका दृष्टिकोण एकांगी था । वे पूर्व धारणा से परिचालित थे । मार्क्सवादी विचारधारा के प्रचार के द्वारा वर्ग संघर्ष की कामना और सामाजिक आर्थिक असंतुलन को मिटाकर साम्यवाद की स्थापना, यही प्रगतिवाद का प्रमुख लक्ष्य था । इसी प्रयास में वे समाज के एक वर्ग के यानी सर्वहारा वर्ग के प्रतिनिधि बन गये । दूसरे वर्ग को वे भूल गये । यदि उनका प्रतिपादन अनजाने ही हुआ तो निन्दा और अवहेलना के रूप में हुआ है । उनकी वर्ग चेतना एक पक्षीय थी । वस्तु जगत का यथार्थ वर्णन प्रगतिवाद में मिलता है; यह अभूतपूर्ण उपलब्धि है; किंतु वास्तविकता के नाम पर यौन संबंधित कुत्सित तथा विकृत काम वासनाओं के वर्णन से प्रगतिवादी साहित्य भर गया । जीवित रह साहित्य को जीवित रखनेवाले शाश्वत मूल्यों के प्रति प्रगतिवादी कवि चिंतित न हुए । सामयिक मूल्यों से ही वे शासित थे । साहित्य के भाव पक्ष और कला पक्ष के समुचित संयोग से ही सफल और मार्मिक लगता है । किंतु प्रगतिवाद में भाव पक्ष जितना प्रतिष्ठित हो गया कला पक्ष उतना उपेक्षित रहा । प्रगतिवाद के इस दोष को हम अंचलजी के कथन में देख सकते हैं - "प्रगतिवादी कविता में काव्य का व्यापक और महान सत्य - आत्मानुभूति का निचोड़ - कम उतरा है । प्रगतिवाद ने नई शैलियाँ और नये प्रयोग तो दिये हैं पर नये प्राणों का निर्माण वह नहीं कर पाया । ये कवि समय की उन शक्तियों को धुंधले रूप में ही पहचान पाये जो भविष्य का निर्माण करती है ।

ये कवि सामाजिक सत्य का अनुभव तो कर पाये, उसे अपने काव्य द्वारा लोक धर्म और विश्व बोध में परिणत न कर सके । कविता नई जीवन भूमि पर जा कर भी अपने लिए अधिकाधिक प्राण पोषक तत्वों का संचय न कर सकी । प्रगतिवाद बहुत जल्द रूढ और गतिहीन हो गया ।[1]"

प्रगतिवाद के ह्रास के कारणों के संबंध में अंचलजी के विचार पूर्ण एवं परिपक्व है ।

निष्कर्ष

श्री रामेश्वर शुक्ल अंचल की काव्य मान्यताएं संक्षिप्त है किंतु महत्वपूर्ण है । काव्य हेतु के अंतर्गत शोषितों की पीडा की गणना नवीन है । काव्य प्रयोजन में सामाजिक क्रांति की उद्भावना कम महत्वपूर्ण नहीं है । वस्तु विषय के अनुकूल सरल भाषा और सार्थक शब्दावली का प्रतिपादन उनके उच्च काव्यादर्श का प्रमाण है । प्रगतिवाद के संबंध में उनके विचार उनके अध्ययन चिंतन के परिचायक है । प्रगतिवाद के पराभव के कारणों में उन्होंने अनुभूति की अपूर्णता और अभिव्यक्ति की असफलता की गणना की है ।

---

1. काव्य संग्रह, भाग-2, भूमिका - पृ.65

शिवमंगल सुमन की काव्यालोचना

प्रगतिवाद के प्रमुख कवि आलोचकों में श्री॰ शिवमंगल सुमन को समुन्नत स्थान है । उन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा इस काव्यधारा के विकास में सचमुच योगदान दिया है । उनकी कविताओं के समान ही उनके काव्य संबंधी विचार प्रगतिवादी कविता को समझने में अधिक सहायक हुए हैं । प्रगतिवाद एक साहित्यिक आंदोलन था, जो सभी प्रकार से पुरानी रूढिगत मान्यताओं का खंडन करते हुए नये की स्थापना में तुला हुआ था । सुमन जी की प्रबल आकांक्षा हम देख सकते हैं । उनकी काव्य मान्यताएं "विश्वास बढ़ता ही गया, हिल्लोल, पर आँखें नहीं भरी, प्रलय सृजन" आदि काव्य कृतियों की भूमिकाओं में और काव्य पंक्तियों में विकीर्ण पडी है । व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने सामान्य रूप से प्रगतिवाद, आदर्श और यथार्थ आदि विषयों पर अपना मत प्रकट किया है ।

सैद्धांतिक आलोचना

काव्य का स्वरूप

शोषण से मुक्त सामाजिक व्यवस्था की कल्पना करनेवाले कवि कविता में जग जीवन का वास्तविक वर्णन करना अधिक उचित समझते हैं । "सुमन" गाते हैं - "मैं ने गाये हैं गान जगत जीवन के ।[1]" जगत जीवन की अभिव्यक्ति से कवि का तात्पर्य शोषित पीड़ित जनता के जीवन की अभिव्यक्ति से है । आज की सामाजिक दुस्थिति को बदलने केलिए, एक नई सामाजिक चेतना की ज़रूरत है । और इसकी न्योता देना कवि अपनी कविताओं के द्वारा करना चाहते हैं । कवि आज की स्थिति से अवश्य असंतुष्ट है । समाज के निम्न स्तर के लोगों को अपनी शक्ति पहुंचाने में सहायता देना और क्रांति का अग्रदूत बनना वे चाहते हैं ।

1• देवनागर, कार्तिक संवत् 2010 - पृ॰34

काव्य हेतु

काव्य प्रेरणाओं में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अध्ययन, काव्यशास्त्रीय को मान्य सिद्धांत है । प्रतिभा के उन्मेष से अनजाने ही कवि के कंठ से कविता फूट पड़ती है । सुमन कहते हैं कि "आज मेरे गान बरबस कंठ में उतर आये[1] ।" पूर्ववर्ती कवियों से, कविताओं से प्रेरणा प्राप्त करना सुमन के अनुसार दोष नहीं है । वे भगवानदास तिवारी के "अभिव्यंजना" शीर्षक ग्रंथ के आमुख में कहते हैं कि "परवर्ती कवि में पूर्ववर्ती कवि की प्रतिध्वनि दोष से अधिक गुण ही मानी जाती है[2] ।" काव्य रचना में दूसरों की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करना अपराध नहीं किंतु उनका अनुकरण करना सराहनीय नहीं । लोक दर्शन और अभावग्रस्त जनता का जीवन ने हमेशा सुमनजी को रचना करने केलिए उकसाया है : यह बात उन्होंने "विश्वास बढ़ता ही गया" शीर्षक कविता में स्पष्ट स्वीकार की है -

1. हाथ अभाव मुझको देता रहा, सदा प्रोत्साहन, इन गीतों केलिए तुम्हारा
   ऋणी रहूँगा मैं आजीवन ।

2. जबकि पक्षि की व्यथा से आदिकवि का व्यथित अंतर,
   प्रेरणा कैसे न दे कवि को मनुज कंकाल जर्जर ।

पीड़ित शोषित जनता की करुण कहानी कवि केलिए प्रेरणा रही है । यह उनके सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण का प्रमाण है । प्रगतिवादी कवि के अनुकूल दृष्टिकोण यहाँ प्रकट होता है ।

---

1. हिल्लोल - सुमन - पृ.69
2. अभिव्यंजना, भगवानदास तिवारी, आमुख - पृ. 2

काव्य का प्रयोजन

काव्य के प्रयोजन का सुमन ने स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है । युग चेतना के अनुकूल कवि को उसकी पूर्ति करने में आनंद प्राप्त होता है । समाज की दुस्थिति का अंत करने केलिए उनकी कविता सफल हो तो वह अपने को धन्य मानता है - "युग की कसौटी पर चढ़ी है - आज मेरी साधना[1] ।" सामाजिक क्रांति के द्वारा सर्वहारा वर्ग की उन्नति और लोक मंगल की कामना युग का सामयिक लक्ष्य था । इसके साक्षात्कार में उन्होंने रचना की है । काव्यानंद की प्राप्ति को भी उन्होंने स्वीकार किया है - छंदों में रो गाकर ही मैं, क्षण भर को कुछ सुख पाता[2] ।" काव्य रचना में कवि कुछ समय केलिए अपने दुखों को भूल जाता है । बाकी समय जगत दुख में लीन रहता है । उसकी अभिव्यक्ति करता है ।

यश प्राप्ति उनकी राय में अनजाने ही होती है । कवि मिट जाता है किंतु उनकी कविता उसे जिंदे दिलाती है "कवि मिट जाता लेकिन उच्छ्वास अमर हो जाता है[3] ।" काव्य प्रयोजन संबंधी सुमन जी की मान्यताएं प्रगतिवादी विचार स्पर्श से परिपुष्ट हैं ।

काव्य का वर्ण्य

काव्य केलिए कोई विषय निषिद्ध नहीं है । अनुभूति की तीव्रता और अभिव्यक्ति कौशल की क्षमता किसी भी विषय को सुंदर बना सकती है, आस्वाद्य बना देती है । इसी में कवि की सफलता है और कविता की चिरंतनता है । किंतु प्रगतिवादी कवियों के वर्ण्य विषय में अभावग्रस्त शोषित पीड़ित जनता के करुण जीवन ने अधिक स्थान पाया है । सर्वहारा वर्ग के लोगों की स्थिति के वर्णन में वे दूसरों की उपेक्षा करते हैं । कवि "सुमन" गाते हैं -

---

1. पर आँखें नहीं भरी - सुमन - पृ.70
2. हिल्लोल - सुमन - पृ.22
3. पर आँखें नहीं भरी - सुमन - पृ.37

"गीतों में पद दलितों की ही,
पीड़ा का मैं ने गान गाया ।"¹

कवि की वाणी मनुज कंकालों की कहानी सुनायें, यही सुमन की आशा है समाज के यथार्थ वर्णन में प्रगतिवादियों ने भूख हड़ताल, दुर्भिक्ष, चोरबाजी आदि विषयों पर भी कविता रची है । सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के प्रति इनकी आँखें सचेत रही है । कविता जीवन के समस्त व्यापारों को अपना विषय बनाती है । किंतु प्रगतिवादी केलिए दलित पीड़ितों का जीवन अधिक अनुभूतिजन्य होता है । यह मेरी राय में एकांगी दृष्टिकोण है क्योंकि समाज में और कई वर्ग के लोग है । उनकी जीवनानुभूतियों की उपेक्षा का उचित है ?

काव्य शिल्प के अंतर्गत प्रगतिवादियों ने काव्य भाषा की सरलता पर अधिक बल दिया है । सुमन के तत्संबंधी विचार अधिकतर अंश: मौखिक के रूप में उपलब्ध होते हैं । अलंकार और छंद के प्रति उनका ध्यान कम आकर्षित दिखाई देता है । यथार्थ, आदर्श और प्रगतिवाद के बारे में नरेन्द्र शर्मा और अंचल ने विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये हैं । किंतु सुमन की वाणी मौन रहती है ।

निष्कर्ष

'सुमन' की काव्यमान्यताओं का विवेचन करने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने प्रगतिवाद के आलोक में काव्य सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है । उनकी कई मान्यताएँ उनकी कविताओं में बिखरी पड़ी हैं । सुदीर्घ गद्यलेखों में इन पर उन्होंने विचार नहीं किया है ।

---

1. प्रलय सृजन - पृ. 3।

नागार्जुन की काव्यालोचना

प्रगतिवाद में नागार्जुन अपनी विचारधारा की नवीनता, जनवादी चेतना की भूमिका निभाने की उत्कट आकांक्षा तथा सर्वहारा जीवन-दृष्टि के कारण लब्ध प्रतिष्ठित हुए है । नागार्जुन स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि जनकवि हैं । "खिचड़ी विप्लव देखा हमने" काव्य संग्रह में उन्होंने अपने बारे में कहा है कि "तरल आवेगोंवाला, अतिभावुक, हृदय धर्मी, जनकवि ।[1]" यहसास उन्हें जनकवि होने का भी है और जनकवि की जिम्मेदारी का भी ।

रचनाकार परिस्थितियों का सह भोक्ता होता है । अत: उसका जीवन बोध प्रासंगिक और गहरा होता है । उसकी प्रखर सामाजिक चेतना यथार्थ का साक्षात्कार करती है और युगानुरूप जीवन मूल्यों को तलाशती हुई मानवीय संभावनाओं को पहचानती है । जिस रचनाकार में वास्तविक जीवन सत्य को उद्घाटित करने की जितनी क्षमता होगी, वह जन-जीवन के उतने ही निकट होगा । सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति रचनाकार को जनवादी संस्कृति के व्यापक धरातल से जोड़ती है, अत: वह पीड़ितों का पक्षधर होता है । मनुष्य को केंद्र में रखकर लिखी जाने वाली रचना जीवन आस्था और सप्राणता का प्रतीक होती है । इसलिए युगीन हलचलों वैषम्यों और जटिलताओं से स्वयं गुजरा हुआ रचनाकार जन मानस को जितना स्पर्श करता है उतना सिद्धांतों बघार लगानेवाला सतही और टम्स-उद्बोधक साहित्यकार नहीं । नागार्जुन ने अपने काव्य में बहुरंगी जीवन की समाजपरक यथार्थ भूमि का उद्घाटन किया है । नागार्जुन के काव्य विचारों की तलाश में रहे पाठक शायद निराश में पड जायेंगे क्योंकि काव्य के सिद्धांतों और तत्वों के प्रतिपादन में वे सतर्क नहीं रहे हैं । गद्य में उनके विचार विरले ही उपलब्ध होते हैं । आगे हम नागार्जुन की उपलब्ध काव्यालोचना का विवेचन करेंगे ।

---

1. खिचड़ी विप्लव देखा हमने - पृ.24

नागार्जुन की सैद्धांतिक आलोचना

नागार्जुन ने काव्यांगों का स्वतंत्र और विस्तृत विवेचन नहीं किया है। उनके उपलब्ध विचारों में, काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों का समर्थन असंभव लगता है। क्योंकि ये सिद्धांत प्रतिपादक कवि नहीं, जनवादी कलाकार हैं। यत्र तत्र उनके सैद्धांतिक विचार उपलब्ध हुए है : वे उनके जीवन-दर्शन और काव्य संसार के उद्घाटन में सहायक सिद्ध हुए है। आगे हम नागार्जुन की सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत चर्चित निम्न विषयों पर प्रकाश डालेंगे -

{1} काव्य का स्वरूप

हाल में निकले आलोचना के नागार्जुन विशेषांक में उन्होंने काव्य के संबंध में कहा है - "अच्छी कविता में शब्दों की फिजूलखर्ची और न शब्दों का दो मुँहापन ही होना चाहिए। कविता एक सार्थक संवाद है। एक कल्पना में घटित होता है, दूसरा अनुभव में। दोनों दर्पण की तरह आमने सामने और बीच की चितवन कविता बन उठती है। असल बात यह है कि कविता रची जाती है पोकेट से प्राप्त नहीं हो जाती।[1]" यहाँ उन्होंने कविता के सार्थक होने पर अ बल दिया है। कवि और पाठक के बीच के सार्थक संवाद होने से कविता स्था हो जाती है। कविता की व्यंजना या द्योतन शक्ति कल्पना की चीज़ है। जो सादे है, अनुभवजन्य है, कविता वही हो, तभी उसे अनुभव की धरती की चीज़ सकती है। नागार्जुन का काव्य संसार सर्वहारा जनता का संसार है। इस र में उनके यह विचार सार्थक और नवीन है।

---

1. आलोचना - नवांक 56-57, जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून 1981 - पृ.23

{2} काव्य के तत्व

काव्य तत्वों के अंतर्गत अनुभूति, कल्पना और बुद्धि का परामर्श युगों से होता आ रहा है । नागार्जुन ने इसके संबंध में स्पष्ट विचार व्यक्त नहीं किया है। अपने को "तरल आवेगों वाला, अतिभावुक, हृदयधर्मी, जनकवि" मानते हुए उन्होंने इस आधारभूत तत्व को रेखांकित किया है कि अनुभूति काव्य का प्रमुख तत्व है । हृदय-सुलभ गुण या भावात्मकता उनकी कविता में उपलब्ध होती है । लेकिन वह भावुक कवि उस अर्थ में नहीं है जिस अर्थ में दूसरे कवि रूमानी हैं । उनकी भावुकता आंतरिक अधिक है । कहने का तात्पर्य यह है कि नागार्जुन की कविता भावात्मक साक्ष्य की कविता है ।

{3} काव्य का कार्य

नागार्जुन स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि जनकवि हैं । उनकी संवेदना का केंद्र गांव है, किंतु गांव से लेकर शहरों तक की सभी चीज़ों को उन्होंने प्रतिपादन का विषय बनाया है । किंतु इस में ध्यान देने की बात यह है कि उनकी पक्षधरता सर्वहारा वर्ग के प्रति है । एक तरफ प्रेम, वात्सल्य, करुणा और सौंदर्य के गंभीर विषय पर उन्होंने लिखा है वहां दूसरी तरफ उन्होंने सामाजिक विषयों कविता की है जैसे, इमर्जेन्सी, जय प्रकाश आदि । इनकी ये सामयिक कविताएं उत्कृष्ट काव्य की कसौटी पर सफल नहीं निकलतीं, इसलिए कुछ आलोचक की ऐसे कविताओं को कविता मानने को तैयार नहीं होते । राजनैतिक और सामाजि विषयों से संबद्ध कविताएं दो तरह की होती हैं - {1} सर्वहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति के कारण लिखी गई, {2} शासक वर्ग की दमनशील प्रवृत्तियों पर लि गई । व्यंग्य उनकी कविताओं की मुख्य मुद्रा है ।

[4] काव्य का प्रयोजन

इस प्रसंग में नागार्जुन का यह कथन विशेष महत्व रखता है - "प्रतिबद्ध हूँ, सम्बद्ध हूँ, आबद्ध हूँ" । प्रतिबद्ध - "अपने आपको भी व्यामोह से बारंबार उबारने की खातीर । सम्बद्ध - सबसे और किसी से नहीं और जाने किस किस से । आबद्ध रूप-रस-गंध और स्पर्श से, शब्द से, नाद से, ध्वनि से, स्वर से, इंगित - आकृति से, सच से, झूठ से, दोनों की मिलावट से, विधि से, निषेध से.... ।"[1] नागार्जुन प्रतिबद्ध है, लेकिन अपने से नहीं है । दूसरों से, समाज से, वर्ग से, संसार से प्रतिबद्ध है । कविता की उपयोगिता पर उनका अटल विश्वास और आस्था यहाँ स्पष्ट की गई है । जनकवि का दायित्व उन्हें स्पष्ट मालूम है, इसलिए वे अभी जनकवि रहते हैं । कवि या आस्वादक को प्राप्त आनंद के संबंध में उनकी वाक् मौन है । काव्य सर्जन से प्राप्त आर्थिक उपलब्धि को उन्होंने झुककर स्वीकार किया वे मसीजीवी है, रायलटी-वसूली के संबंध में कहते हैं - "वहाँ से पैसे वसूलें तो दो बोरा धान अलवा आये गाँव में, फिर मिरिचस मिकल जाये कुमककडी पर ।"[2] आकार में बडी रचनाएं, कीमत में ज्यादा होंगी । इसलिए नागार्जुन व्यक्त करते हैं कि "कहाँ से खरीदेगा विद्यार्थी ।"

काव्य प्रयोजन के संबंध में नागार्जुन का विचार उपयोगितावाद पर आधारित है । कविता से कवि और पाठक दोनों का उपयोग होता है ।

काव्य-भाषा

काव्य भाषा के प्रयोग में वे सचेत दिखाई देते हैं । परंतु इसके बारे उनका विचार विशेष रूप से प्रकट नहीं हुआ है । भाव-प्रसंग के अनुकूल भाषा प्रयोग में वे चितेरे है । भेंट वार्ता के दौरान कृष्णा सोबती ने ऐसे अनेक नये श

---

1. आलोचना, जनवरी-मार्च, अप्रैल-जून, 1981 - पृ.5
2. वही - पृ.8

गठन के बारे में कहा है । उन्होंने उसे "नागार्जुनी शब्द" कहकर सराहना किया है, जैसे अकडकड, सिटिपिटी, बुत्ता, पिलपिल आदि । ये शब्द उनके अपने हैं, जो किसी दूसरे कवि के बस का नहीं है । गंवारू शब्दों का प्रयोग उन्होंने ज्यादा किया है । देखने में शायद ये ऊबाऊ लगेंगे, परंतु ऐसा नहीं । काव्य भाषा के प्रयोग के संबंध में वे कहते हैं - "कवि की काव्य भाषा से कवि के अंतर्मन की, उसके मिज़ाज की पहचान हो जाती है[1] ।"

भाषा और कवि व्यक्तित्व के संबंध की यह धारणा मौलिक तथा गंभीर मालूम पड़ता है ।

<u>काव्य में छंद</u>

छंदों में नागार्जुन ने मुक्त छंद के संबंध में संक्षिप्त रूप में विचार किया है वे कहते हैं - "एक बात याद रख लो, वही मुक्त छंद सही लिख सकते हैं जिन्हें छंद शास्त्र का ज्ञान है । मुक्त कविता अतुकांत होने पर भी अपनी लय में छंदोमयी ही लगती है[2] ।" यहाँ उन्होंने स्पष्ट किया है कि मुक्त छंद अपनी लय के कारण सविशेष होता है । लय ही उसका प्राण है । साथ ही इसका खण्डन किया गया है कि छंद शास्त्र से अनभिज्ञ कवि मुक्त छंद में कविता करता है । प्रगतिवादियों के संबंध में यह आरोप लगाया जाता है कि उनकी रचनाओं में कलात्मक सौंदर्य का अभाव है । किंतु नागार्जुन के संबंध में यह आरोप आधार हीन है । डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन स्तुत्य है - नागार्जुन ने लोक प्रियता और कलात्मक सौंदर्य के संतुलन और सामंजस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया है, उतनी सफलता से बहुत कम कवि - हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी - हल कर पाये हैं[3] ।"

1· आलोचना, जनवरी-मार्च, 1981 - पृ·232
2· वही अप्रैल-जून, 1981 - पृ·231
3· वही " - पृ· 5

नागार्जुन की व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत उन्होंने समय समय पर अपने समकालीन कवियों तथा काव्यवादों पर अपना विचार व्यक्त किया है। अभी तक उनकी आलोचनात्मक कृतियों का प्रकाशन नहीं हुआ है। पत्र-पत्रिकाओं से उपलब्ध सामग्री से पता चलता है कि उन्होंने निराला कबीर, तुलसी विद्यापति जैसे कवियों पर अपने विचार संक्षेप में प्रकट किये है। "एक व्यक्ति एक युग" में नागार्जुन ने निराला पर कुछ बातें कही है। आगे इस प्रकरण में हम उनकी व्यावहारिक आलोचना पर विचार करेंगे -

﴾1﴿ निराला

निराला के जीवन और काव्य में जो संघर्ष उपलब्ध होता है उसकी सही पहचान, नागार्जुन निम्न छोटे वाक्य में करते हैं। वे कहते हैं - "निराला को एकलव्य की तरह संघर्ष करना पड़ा। उनकी तुलना में पंत का रास्ता कहीं सहल था।"[1]

तुलसीदास के संबंध में नागार्जुन ने कहा है कि "निस्संदेह चतुर थे, पर महाकवि पोंगापंथी के आचार्य रहे। अंधविश्वास और भक्ति भावुक आस्था में जजमानों को फंसा गये।[2]" तुलसी के चातुर्य को अपनाने पर भी उनसे अपना विरोध खुलकर व्यक्त किया गया है। उन्हें लोक चित्त का भयंकर शाता बताया गया है।

कबीर को उनकी आदत के फक्कड़पन अक्खड़पन के कारण, नागार्जुन कवियों में अनूठे मानते हैं। कबीर की कविताओं में अन्वेषण की मौलिकता है।

---

1. आलोचना, अप्रैल-जून, 1981 - पृ.232
2. आलोचना, अंक 56-57 - पृ.230
3.

सूरदास के संबंध में नागार्जुन कहते हैं कि "वात्सल्य ही सूर काव्य का मर्म स्थल रहा । उनकी कविता इतनी सरस है कि समस्त के लिए है[1]।"

विद्यापति को वे अतुलनीय कवि मानते हैं कि "विद्यापति ने ठीक भारतीय परंपरा में रीति और रतिरस को जिस कोमलता से प्रस्तुत किया है वह अतुलनीय है[2]।"

हिन्दी के दूसरे कवियों से नागार्जुन इस बात से भिन्न रहते हैं कि उन्हें युवा पीढ़ी के कवियों का अदम्य विश्वास और उनके प्रति गहरा स्नेह है । युवा [illegible] कवियों को समर्पित उनकी अनेक कविताएं उपलब्ध होती हैं । यह उनकी उदारता का परिचायक है ।

निष्कर्ष

नागार्जुन की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना में अभिव्यक्त विचारों का विवेचन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उनके विचार संक्षिप्त किंतु गंभीर है । काव्य के तत्व और काव्य के प्रयोजन विषयी उनकी धारणाएं उपयोगितावादी हैं । काव्य भाषा के प्रयोग से कवि-व्यक्तित्व की पहचान की उद्भावना मौलिक एवं युक्तिसंगत लगती है । कवियों और काव्यों के विषय में उनके विचार संक्षिप्त होते हुए भी निजी और मौलिक हैं ।

1• आलोचना, अंक 56-57 - पृ•232

2• वही - पृ•232

प्रगतिवादी कवियों की काव्यालोचना

निष्कर्ष

हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य एक वैचारिक आंदोलन के रूप में उत्पन्न हुआ था। इसके मूल में प्रमुख रूप से मार्क्सवादी सिद्धांत कार्यरत है। शोषण मुक्त समाज व्यवस्था की कल्पना करनेवाले प्रगतिवादी कवि का जीवन दर्शन पिछले कवियों के जीवन-दर्शन से भिन्न है। जीवन दर्शन की यह भिन्नता काव्य दिशा को नया मोड़ देने में सहायक सिद्ध हुई है। समाजवादी तत्वों को जनता तक पहुँचाने केलिए काव्य भावनात्मक सहयोग का उपकरण बन गया। काव्य का वस्तु पक्ष समृद्ध हो गया। जीवन का समस्त व्यापार काव्य का विषय बन गया, विशेषकर दलित पीड़ित जनता की दर्दभरी कहानी काव्य कथ्य बन गयी। काव्य के वस्तु पक्ष के परिवर्तन ने शिल्प में स्वाभाविक रूप से परिवर्तन की माँग की। काव्य भाषा जन भाषा के निकट आ गई। अलंकारहीन कल्पना मुक्त कविता आम जनता की वाणी में प्रतिष्ठित होने लगी।

काव्य क्षेत्र में इस काव्य विधा के पदार्पण ने क्रांति मचा दी। आलोचकों ने इसका भरसक विरोध किया। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के कारण इसे प्रचारवादी कहने लगे। वर्ग रहित शोषण मुक्त समाज व्यवस्था की कल्पना का सबने स्वागत किया। किंतु केवल गरीबों की आवाज़ मुखरित करने में उन्होंने आपत्ति की। सामाजिक उपयोगिता और लोक संग्रह की भावना में सामाजिक क्रांति की उद्भावना करने में आलोचकों में मतभेद हो गया। पुराने साहित्यिक मूल्यों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया। काव्य के कला पक्ष की उपेक्षा कर विरोध किया गया। इसलिए आरंभ से ही प्रगतिवाद केक उन्नायक कवियों तथा आलोचकों ने मार्क्सीय सौंदर्य शास्त्र के आधार पर काव्य कला की परख करने का स्तुत्य कार्य किया। उन्होंने जिस आलोचना की नींव डाली वह आगे चलकर प्रगतिवादी आलोचना के नाम से प्रसिद्ध हो गया। प्रगतिवाद के उन कवि आलोचकों में सर्वश्री नरेंद्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, शिवमंगल सुमन और नागार्जुन का नाम आदर से लिया जाता है। इन कवियों ने अपनी आलोचनाओं के द्वारा तथाकथित भ्रांतियों का

निराकरण और अपने काव्य का सही आस्वादन करने केलिए अपना विचार व्यक्त किया । आगे इनकी आलोचना की उपलब्धियों का संक्षेप में प्रतिपादन करेंगे ।

नरेंद्र शर्मा जी की काव्यालोचना का मूल्यांकन करने से स्पष्ट होता है कि काव्य सिद्धांतों का स्वतंत्र और विस्तृत विवेचन करना उनका ध्येय नहीं था । वे मार्क्सवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध रहे हैं । काव्य इस विचारधारा को जनता तक पहुँचाने के भावनात्मक सहयोग का सशक्त माध्यम था । इसलिए उन्होंने इसी दृष्टिकोण से काव्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया । काव्य का स्वरूप, काव्य का प्रयोजन और काव्य भाषा के विवेचन में उनके विचार महत्वपूर्ण है । उपयोगितावाद की कसौटी पर काव्य का विवेचन करने की प्रवृत्ति प्रगतिवाद के अनुकूल है । प्रगतिवाद के प्रतिपादन में उन्होंने उसकी प्रवृत्तियों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है । तटस्थ रहकर उसके पतन के कारणों पर भी उन्होंने विचार किया है ।

रामेश्वर शुक्ल अंचल के काव्य संबंधी विचार संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण हैं । काव्य हेतु के अंतर्गत शोषितों की पीड़ा की गणना नवीन है । काव्य प्रयोजन में सामाजिक क्रांति की उद्भावना कम महत्वपूर्ण नहीं है । वस्तु विषय के अनुरूप सरल भाषा और सार्थक शब्दावली का प्रतिपादन उनके उच्च काव्यादर्श का प्रमाण है । प्रगतिवाद के संबंध में उनके विचार उनके अध्ययन-मनन के परिचायक है । प्रगतिवाद के पतन के कारणों में, अनुभूति की अपूर्णता और अभिव्यक्ति की असफलता को उन्होंने मुख्य माना है । यहाँ उनकी काव्य संबंधी मान्यता प्रकट होती है ।

शिवमंगल सिंह सुमन ने प्रगतिवाद के आलोक में अपना विचार व्यक्त करने का प्रयास किया है । उन्होंने आलोचनाएँ अधिक नहीं लिखी है । उन्होंने अपनी कई काव्य पंक्तियों में अपने विचार प्रकट किये हैं जिनमें उनकी काव्यालोचना के बीज लक्षित होते हैं ।

प्रगतिवाद के प्रमुख कवि नागार्जुन की काव्य मान्यताएं संक्षिप्त हैं किंतु गंभीर हैं । काव्य भाषा के प्रयोग से कवि-व्यक्तित्व की पहचान की उद्भावना मौलिक एवं युक्तिसंगत लगती है ।

प्रगतिवादी कवियों की काव्यालोचना का मूल्यांकन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के आधार पर आलोचना के नये मान की नींव डालने में इनका योगदान महत्वपूर्ण है । उनका समाजोन्मुखी दृष्टिकोण उनकी काव्यालोचना के मूल में वर्तमान है । किंतु व्यक्ति चेतना का निषेध बुरा है । सामाजिक क्रांति के लक्ष्य में दलित पीड़ितों की जागृति और उनके प्रति सहानुभूति स्तुत्य है । किंतु समाज के दूसरे वर्गों की उपेक्षा उनके एकांगी दृष्टिकोण का परिचायक है । मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होना दोष नहीं है । लेकिन साहित्य का लक्ष्य समाज के समस्त प्राणियों की उन्नति होनी चाहिए । इस प्रसंग में नंददुलारे वाजपेय का यह कथन ध्यातव्य है - "हम जिस जनवादी राष्ट्र या मानव समूह की कल्पना करते हैं, वह केवल आर्थिक दृष्टि से सुखी नहीं होगा, उसे पूर्णतः सांस्कृतिक और नैतिक मानव भी होना चाहिए ।"[1] काव्य के वस्तु पक्ष का जितना सूक्ष्म विवेचन उन्होंने किया उतना ध्यान उसके शिल्प पक्ष के प्रतिपादन में किया होता तो हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवादी आलोचना अनोखी रही होती । इन अभावों के रहते हुए भी हम निस्संदेह कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी आलोचना का उद्भव ऐतिहासिक महत्व रखता है । आलोचना के मानदण्डों में मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का समावेश करने में इन प्रगतिवादी कवि आलोचकों का योगदान चिरस्मरणीय है ।

---

1. नये साहित्य नये प्रश्न, - पृ. 218

अध्याय - पाँच

प्रयोगवादी नये कवियों की काव्यालोचना

अध्याय - पाँच

प्रयोगवादी नये कवियों की काव्यालोचना

छायावादोत्तर काल में प्रगतिवाद के समानांतर हिन्दी कविता साहित्य में व्यक्तिवाद की परिणति, और अहंवादी स्वार्थ प्रेरित असामाजिक उच्छृंखल और असंतुलित मनोवृत्ति के रूप में बदल गयी । इस मनोवृत्ति के मूल में कई कारण विद्यमान रहे हैं । द्वितीय महायुद्ध से जन्मी मानसिक चिंतना जो पश्चिम में बुद्धजीवियों की खीझ, नाराज़गी, विद्रोह और अस्वीकृति बनकर फूट पड़ी वही भारत में बौद्धिक एवं मानसिक उद्वेलन के रूप में साहित्यिक क्षेत्र में अभिव्यक्त होने लगी । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की आर्थिक विषमता, अनिश्चितता और निराशा का बोध संवेदनशील प्राणी को सताने लगा । इसके अतिरिक्त हमारे साहित्यकार अंग्रेज़ी साहित्य के अधिक निकट से परिचित और प्रभावित हो गये । इसी मानसिक पृष्ठभूमि में हिन्दी कविता में प्रयोगवाद का जन्म हुआ । इस काव्य-धारा की प्रवृत्तियाँ स्थिर होने के पहले इसे कई नाम स्वीकारना और नकारना पड़ा । प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, प्रपद्यवाद, नकेनवाद, नई कविता इनमें से कुछ हैं । जब कवियों का दृष्टिकोण एवं लक्ष्य स्पष्ट नहीं था, तब काव्य में नवीनता के प्रयोग की अपेक्षा के कारण अनजाने ही इस काव्य धारा का नाम प्रयोगवाद रखा गया

आगे विकास के कई मंजिलों को पार करके इसने अपने आप "नई कविता" नाम स्वीकार किया । अतः हम देखते हैं कि प्रयोगवादी कविता का सहज विकास नयी कविता है । प्रयोगवादी कविता के उद्भव के कारणों का उल्लेख करते हुए श्री॰ लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है - "प्रथम तो छायावाद ने अपने शब्दाडंबर में बहुत से शब्दों और बिंबों के गतिशील तत्वों को नष्ट कर दिया था । दूसरे प्रतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव स्तरों और शब्द संस्कारों को अभिधात्मक बना दिया था । ऐसी स्थिति में नये भाव बोध को व्यक्त करने केलिए न तो शब्दों में सामर्थ्य था और न परंपरा से मिली हुई शैली में । परिणाम स्वरूप उन कवियों को जो इनसे पृथक थे सर्वथा नया स्तर और नये माध्यमों का प्रयोग करना पड़ा । ऐसा इसलिए और भी करना पड़ा क्योंकि भाव स्तर की नयी अनुभूतियाँ विषय और संदर्भ में इन दोनों से सर्वथा भिन्न थी ।"[1] इन पंक्तियों में लक्ष्मीकांत वर्मा ने नई कविता के उद्भवों के कारणों तथा उनकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डाली है । नये भाव बोध और नये प्रयोगों से नई कविता पूर्वी कविता से बिलकुल भिन्न थी ।

इस काव्यधारा के विकास में अनेक कवियों ने योग दिया है । इनमें तारसप्तक के सम्पादक और नयी कविता के प्रवर्तक अज्ञेय जी का नाम महत्वपूर्ण है । गजाननमाधव मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त और धर्मवीर भारती का नाम विशेष स्मरणीय है । इनके अतिरिक्त अनेक नये युग प्रतिभाओं ने भी अपनी रचनाओं के द्वारा इस काव्यधारा को समृद्ध किया है जिनका नाम गिना देना असंभव है । प्रयोगवादी कविता के उद्भव के साथ ही उसकी कटु आलोचनाएं की जाने लगी । यह स्वाभाविक भी है । किंतु इसके प्रवर्तक कवियों ने उन आक्षेपों का सही उत्तर दे दिया । ऐसे आलोचक कवियों में अज्ञेय, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकांत वर्मा और धर्मवीर भारती का नाम आदर से लिया जाता है ।

---

1. नयी कविता के प्रतिमान - लक्ष्मीकांत वर्मा

सन् 1943 में "तारसप्तक" के प्रकाशन के द्वारा सैद्धांतिक रूप में नई कविता की स्थापना हो गई । अज्ञेयजी तारसप्तक के सम्पादक की हैसियत से उसके स्वरूप और विशेषता तथा उस संकलन की प्रासंगिकता का बयान किया । इन कवि आलोचकों के विचार प्रमुख रूप से नयी कविता के स्वरूप की पृष्ठभूमि में किये गये हैं । उनका ध्यान सैद्धांतिक कम व्यावहारिक अधिक दिखाई देता है । आगे हम इस काव्यधारा के प्रमुख कवि आलोचकों के विचारों का विवेचन करेंगे । हमारे विचार में प्रयोगवादी नयी कविता के निम्नलिखित कवि आलोचकों की देन सबसे विशेष उल्लेखनीय है ।

॥1॥ <u>अज्ञेय की काव्यालोचना</u>

प्रयोगवादी काव्यालोचन के पुरोधा अज्ञेय जी अपने मौलिक चिंतन और विचारों से सम्पन्न कलाकार हैं । उन्होंने "तारसप्तक" के सम्पादन के द्वारा इस काव्यधारा को हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित किया । ये प्रतिभावान कवि तथा चिंतक आलोचक हैं । उनके विचार मौलिक एवं प्रभावकारी हैं ।

"तार सप्तक" के प्रकाशन के द्वारा हिन्दी में प्रयोगशील नई कविता का स्वर्णयुग आरंभ हुआ । इसके सम्पादक के रूप में अज्ञेयजी ने बड़ा साहसपूर्ण कार्य किया । व्यवस्थित रूप से इस नयी काव्यधारा की विशेषताओं की ओर उन्होंने अपने सम्पादकीय लेख के द्वारा प्रकाश डाला । "तार सप्तक" में नयी पीढ़ी के छः प्रतिभा सम्पन्न कवियों की कविताएं संकलित की गई हैं । ये कवि गजानन माधव मुक्ति बोध, नेमीचंद जैन, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर और रामविलास शर्मा हैं । इन कवियों का एकत्रित होने का कार्य आकस्मिक है । इसके संबंध में अज्ञेय जी स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि "वे किसी एक स्कूल के नहीं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं - राही नहीं, राहों के अन्वेषी हैं ।[1]" जीवन के और साहित्य के महत्वपूर्ण विषयों में इन कवियों का मतभेद अवश्य होता है; किंतु इनमें अवश्य ऐसी एकरूपता होती है कि उनके व्यक्तित्व को पहचानना कठिन हो जाता है ।

1· तार सप्तक परिदृष्टि : प्रतिदृष्टि - अज्ञेय - पृ·12

व्यक्तित्व की यह विशेष अभिव्यक्ति नयी कविता का मेरु दण्ड है जो उसके प्रमुख कवियों की प्रत्येक कविता में झलक उठती है । अज्ञेय जी इस काव्यधारा के प्रवर्तक आचार्य कवि तथा उसके समर्थक चिंतक आलोचक भी हैं । उन्होंने नयी कविता के स्वरूप और उसकी विशेष प्रवृत्तियों का विस्तृत रूप से विवेचन किया है । नयी कविता संबंधी अज्ञेय जी के विचार उनकी काव्य कृतियों की भूमिकाओं में उनके पृथक आलोचनात्मक रचनाओं में बिखरे पड़े हैं । तारसप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक और चौथा सप्तक की सम्पादकीय टिप्पणियाँ इस दिशा में अनमोल निधियाँ हैं । आधुनिक हिन्दी साहित्य, त्रिशंकु, आलवाल, आत्मनेपद, भवंती और अंतरा उनकी स्वतंत्र आलोचनात्मक रचनाएं हैं जिनमें नयी कविता के अतिरिक्त साहित्यिक विषयों में तथा साहित्यकारों के संबंध में अज्ञेय जी ने अपने विचार व्यक्त किये हैं । आगे इस प्रकरण में हम अज्ञेय जी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के विवेचन करके देखेंगे कि हिन्दी आलोचना के विकास में उनका योगदान कहाँ तक हुआ है । संस्कृत काव्यशास्त्र का पूर्ण उन्मेष इस नये कवि के विचारों में पाना असंभव है । उनका व्यावहारिक पक्ष अधिक संपन्न है ।

सैद्धांतिक आलोचना

काव्य का स्वरूप

प्रयोगवादी आंदोलन के पुरोधा कवि और चिंतक अज्ञेय जी ने "प्रयोगशील कविता" परिचर्चा का आरंभ करते हुए "प्रतीक" में यह बात उठाई कि बदले हुए युग के साथ परिवर्तित राग संबंधों की स्थापना अनिवार्य हो गई है । इस कथन में सचाई है । बदली हुई युग चेतना ने हमारे राग संबंधों को भी बदला था । सचमुच वस्तु के प्रति जो दृष्टि थी वह बदल गयी और इसने नये रागसंबंधों की कामना की । इसलिए प्रतीक में अज्ञेय को कहना पड़ा "कविता व्यक्ति चेतना के माध्यम से, जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति है[1]।" इस परिभाषा के द्वारा अज्ञेय जी ने काव्य में वैयक्तिकता के महत्व को रेखांकित किया है ।

---

1. "प्रतीक" - जून 1951, पृ॰26-27

आगे "चिंता" की भूमिका में उन्होंने कहा - "काव्य रचना मूलत: अपने को अपनी अनुभूति से पृथक करने का प्रयास है, अपने ही भावों की निर्वैयक्तीकरण की चेष्टा । बिना इसके काव्य निरा आत्म निवेदन है और सच होकर भी इतना व्यक्तिगत है कि काव्य की अभिधा के योग नहीं है - सार्वजनीनता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है[1]।" काव्य रचना प्रक्रिया में व्यक्तिगत भाव कैसे सार्वजनीनता के स्तर तक उठकर सबका आस्वाद बन सकता है, इसका नाम कविता है । अज्ञेय जी के इस कथन में टी॰एस॰ इलियट के निर्वैयक्तीकरण सिद्धांत का स्पष्ट प्रभाव है । निर्वैयक्तीकरण के वास्तव में दो अर्थ होते हैं - व्यक्तिगत अनुभूतियों को सार्वजनीन रूप प्रदान करना और दूसरे व्यक्ति की रागद्वेषमयी परिधि से उठकर कला की साधना करना । अज्ञेय जी को उपर्युक्त कथन में इसकी ओर संकेत किया गया है ।

काव्य की आत्मा

प्रयोगवादी नये कवियों ने काव्य की वस्तु और शैली को नवीन प्रयोगों से अनुप्राणित रखने पर विशेष बल दिया है, अत: काव्य की आत्मा के विषय में उनके विचार परंपरा से भिन्न है । चमत्कार विशेष को काव्य का आंतरिक गुण मानते हुए अज्ञेय जी ने लिखा है - "काव्य का रस कवि में या कवि के जीवन में, या वर्ण्य विषय अथवा अनुभूति में या किसी शब्द विशेष में नहीं है, वह काव्य रचना की चमत्कारिक तीव्रता में है[2]।" चमत्कार का संबंध भाव की अपेक्षा बुद्धि से अधिक है । इस चमत्कारिक तीव्रता को और भी स्पष्ट करते हुए "दूसरा सप्तक" की

1· चिंता, भूमिका - पृ॰6

2· त्रिशंकु - अज्ञेय - पृ॰41

भूमिका में अज्ञेय लिखते हैं - "कवि के सामने हमेशा चतमकार सृष्टि की समस्या बनी रहती है । वह शब्दों को निरंतर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमश: सार्वजनिक मानस में पैठकर फिर ऐसे हो जाते हैं कि उस रूप में कवि के काम के नहीं रहते ।[1]" यहाँ नवीन अभिव्यंजना शैली के प्रति कवि का अनुराग प्रकट हुआ है । चमत्कारिक तीव्रता से मतलब ध्वनि और वक्रोक्ति से होता है । किंतु "तीसरा सप्तक" में उन्होंने यह स्वीकार किया है कि "वाक्सिद्ध कवि भी बडा होता है, किंतु और बडा कवि रससिद्ध होता है ।[2]" साधारणीकरण की उन्होंने नवीन रागात्मक संबंधों की पृष्ठभूमि में व्याख्या की है - "जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है । उस अर्थ से रागात्मक संबंध स्थापित नहीं होता । कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिससे पुन: रागात्मक संबंध स्थापित हो । साधारणीकरण का अर्थ यही है ।[3]" साधारणीकरण की यह व्याख्या परंपरागत व्याख्या से मेल खाती नहीं । यहाँ शब्दों की अर्थ क्षमता का साधाणीकृत होने की ओर उनका उद्देश है ।

काव्य की आत्मा के विश्लेषण में अज्ञेय जी ने चमत्कारिक तीव्रता पर अधिक ध्यान दिया है ।

काव्य-हेतु

कवव्य - हेतु के अंतर्गत अज्ञेय जी ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का बडे मनोयोग से विवेचन किया है । कवि प्रतिभा के संबंध में वे कहते हैं - कलाकार का मन एक भण्डार है, जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द विचार, चित्र

1· दूसरा सप्तक - पृ·12

2· तीसरा सप्तक - पृ·17

3· दूसरा सप्तक - पृ·12

इकट्ठे होते रहते हैं उस क्षण की प्रतीक्षा में जबकि कवि प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन एक चमत्कारिक योग उत्पन्न हो जायेगा[1]।" व्युत्पत्ति और अभ्यास के विषय में उन्हें स्पष्ट धारणा है। वे कहते हैं - "लेखन शिल्प का उसके लायक अभ्यास और अध्ययन मैं ने किया ही है। किंतु साहित्य शिल्प में आस्था रखते हुए भी यांत्रिक सफलता का उपासक मैं नहीं हुआ हूँ, न कभी होना चाहता हूँ[2]।"

उपर्युक्त कथन से ध्यातव्य है कि काव्य रचना केलिए लोक दर्शन, पूर्ववर्ती कृतियों का अनुशीलन और लेखन शिल्प का अभ्यास की अपेक्षा तो होती है, किंतु इन सबको एकसूत्र में बांधनेवाली शक्ति प्रतिभा ही है।

काव्य का प्रयोजन

काव्य के प्रयोजन के अंतर्गत अज्ञेय जी ने कवि के आनंद का उल्लेख किया है और काव्य रचना को एक हद तक स्वांत सुखाय माना है - "कलाकार का आत्मदान, केवल एक नैतिक मान्यता केलिए नहीं होता, सच्चे अर्थ में स्वांत सुखाय भी होता है[3]।" किंतु आगे वे इसे केवल स्वांत सुखाय मानने को तैयार नहीं होते हैं। उनका कहना है कि "मैं स्वांत सुखाय नहीं लिखता। कोई भी कवि केवल स्वांत सुखाय लिखता है या लिख सकता है यह स्वीकार करने में मैं ने अपने को असमर्थ पाया है[4]।" अहनिष्ट अंतर्मुखी व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के मूल में सर्वजन सुलभ आनंद की कल्पना भी इन्होंने की है। बाह्य प्रयोजनों में धन की कामना से मुक्त रहने की चेतावनी देते हुए उन्होंने लिखा है - "साहित्यकार से हमारा अभिप्राय निरे लेखक से कुछ अधिक है - अर्थात् वह व्यक्ति लेखन कार्य को धन संचय के एक संभाव्य निमित्त से अधिक कुछ मानकर मनोयोग पूर्वक उसकी साधना करता है[5]।"

---

1. त्रिशंकु - अज्ञेय - पृ.38
2. शरणार्थी - पृ.3
3. त्रिशंकु - पृ.29
4. वही - पृ.29
5. वही - पृ.78

काव्य रचना मनोयोगपूर्ण करने की जानेवाली एक आत्मसाधना है जिससे न केवल कवि को आनंद प्राप्त होता है बल्कि प्रमाता को भी आनंद प्राप्त होता है ।

काव्य के तत्व

अनुभूति, कल्पना और बुद्धि का विवेचन काव्य के तत्वों के रूप में होता रहा है । प्रयोग वादियों ने भी अनुभूति को इसका केंद्र बिंदु माना है । अज्ञेय कहते हैं कि "मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपना अनुभूत ही लिखें ।[1]" कवि का यह अनुभूत सत्य जब सार्वजनीन आधार लेता है तब काव्योत्कर्षकारी बन जाता है । अज्ञेय कहते हैं - कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है यह भी कहना ठीक होगा कि वह सत्य व्यक्तिबद्ध नहीं है, व्यापक है, और जितना ही व्यापक है, उतना ही काव्योत्कर्षकारी है ।[2]" व्यक्ति सत्य अपनी परिधि लाँघकर समष्टि सत्य बन जाता है, तभी उत्तम काव्य की रचना होती है, यह सर्वमान्य मत है । आधुनिक कवि कल्पना को बुद्धि का व्यापार मानते हैं । बौद्धिकता का समावेश उनके प्रत्येक प्रयास में दर्शनीय है । उन्होंने यह प्रयोग शिल्प पक्ष के अंतर्गत अधिक सफलता से किया है । भाषा के स्तर पर, शब्दों में नये अर्थ भर देने की कोशिश उनकी कविता को अलग कर देती है ।

काव्य का वर्ण्य

काव्य केलिए कोई निषिद्ध नहीं है । जो संवेदनात्मक स्तर पर उसे प्रभावित कर सकता है वह सब कवि की भावना का विषय बन सकता है । इसके संबंध में अज्ञेय जी का विचार विशेष महत्वपूर्ण है । उनका कहना है - कवि कोई नया विषय लेकर भी वही पुरानी वस्तु दे सकता है, और कोई पुराना विषय लेकर नयी वस्तु भी दे सकता है । इसलिए काव्य कैसा है, यह विचार करने केलिए विषय कैसा है या क्या है या नया है या पुराना है अथवा नहीं है, इसकी परीक्षा

1. शरणार्थी - भूमिका - पृ.2
2. तारसप्तक - पृ.74

उतनी आवश्यक नहीं है जितनी की उसकी वस्तु की परीक्षा[1]।" काव्य-वस्तु की नवीनता अज्ञेय जी के अनुसार कविता के उत्कर्ष का कारण है। काव्य के विषय और काव्य की वस्तु का अंतर स्पष्ट करते हुए अज्ञेय ने लिखा है - "किसी भी कृति की वस्तु अनिवार्यतः मानवीय वस्तु होती है। काव्य रचना पेड़ या पहाड़ पर भी हो सकती है, पर पेड़ और पहाड़ उसके विषय होंगे वस्तु नहीं, वस्तु जो भी होगी मानवीय होगी[2]।" विषय जो भी हो, जब वह संवेदनशील होता है तब मानवीय वस्तु बन जाता है। इसके लिए कवि को नये रागात्मक संबंधों की स्थापना करनी पड़ती है।

अज्ञेय जी के अनुसार काव्य का वर्ण्य मानवीय है। यह उनका मौलिक विचार है। कला साधना में, उसे अकुंठ बनाने योग्य सबको उचित स्थान देना कवि का काम है।

काव्य शिल्प

प्रयोगवादी कवि बदले हुए परिवेश में नये जीवन सत्यों की अभिव्यक्ति पुरानी रूढ़िगत भाषा में सम्पूर्ण रूप से समष्टि तक पहुँचाने में असमर्थ पाये। क्योंकि भाषा की सम्प्रेषणीयता छायावाद की रोमानी शब्दाडम्बरता और प्रगतिवादी सामाजिकता ने पहले ही नष्ट कर दी थी। इसलिए इन कवियों को अभिव्यक्ति की नई दिशाओं की खोज करनी पड़ी। कवि अपने अनुभूत सत्य की सक्षम अभिव्यक्ति के लिए भाषा में नये संस्कार और अर्थ बोध भर देना चाहा। अतः उन्हें काव्य के भाव पक्ष की अपेक्षा शिल्प पक्ष में अधिक प्रयोग करना पड़ा। भाषा, बिंब और छंद उनके प्रयोग के उर्वर क्षेत्र रहे। प्रयोगवादी कवियों के सामने सबसे बड़ी समस्या सम्प्रेषण की रही है जो भाषा से संबद्ध है। इसके संबंध में अज्ञेय जी कहते हैं कि "

---

1. आत्मनेपद, अज्ञेय - पृ.165
2. वही - पृ.165

"कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापकत्व उसमें नहीं है - शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं।[1]"

भाषा

नये कवि अपने अनुभूत सत्य को समष्टि व्यापक बनाने में पुरानी भाषा अक्षम मानते हैं। इसलिए सम्प्रेषण की इस समस्या का हल करने केलिए भाषा में नया अर्थ भर देना का प्रयोग करते हैं। अज्ञेय कहते हैं - जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुँचाया जाय - यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।[2]" सम्प्रेषण की यह समस्या भाषा की समस्या ही है। अत: कवि भाषा में नये संस्कार और अर्थबोध लाना चाहते हैं। अभिधा से बढ़कर उसमें व्यंजित करना चाहते हैं। उसकेलिए अनिवार्य शब्द है। अज्ञेय लिखते हैं कि "काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अंत में यह बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि धर्म इसी परिभाषा से निसृत होते हैं। शब्द का ज्ञान - शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड़ ही कृतिकार को कृति बनाती है।[3]" सभी शब्द सार्थक नहीं हैं। लेकिन उसके प्रयोग से उसमें शब्दातीत कुछ अर्थ भरा सकते हैं। यही नये कवि की प्रयोगशीलता है। अज्ञेय लिखते हैं - "शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ है, पर इसलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है।[4]"

अभिव्यक्ति के नवीन आयामों का अन्वेषण प्रतिभावान्कवि-कार्य है। इसे अज्ञेय जी रेखांकित करते हैं कि "जिसके पास प्रतिभा है, वह कभी अभिव्यंजना के एक ढंग से तृप्त नहीं रह सकता। यह बात नहीं है कि एक ढंग में सफलता न मिलने पर ही वह दूसरी ओर आकृष्ट हो। बल्कि एक ढंग में जितनी सफलता

---

1. तारसप्तक, वक्तव्य - अज्ञेय - पृ.276
2. वही - पृ.75
3. वही, पुनश्च - पृ.309
4. बावरा अहेरी - अज्ञेय - पृ.65

मिलती है उतना ही उसमें उत्साह बढ़ता है कि वह दूसरे ढंग को भी आजमा कर देखे[1]।" आधुनिक युग की जटिलताओं को अभिव्यक्त करने केलिए कवि को विवश होकर अभिव्यक्ति की नवीनता पर बल देते हुए नया प्रयोग करना पड़ा है। अज्ञेय जी का निम्न कथन इसकी यथार्थ को उभर कर देता है - "जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा किसी हद तक गूढ़, अलौकिक अथक दीक्षा द्वारा गम्य हो जाना अनिवार्य है, किन्तु वह उसकी शक्ति नहीं, विवशता है, धर्म नहीं, आपद्धर्म है[2]।"

नयी कविता की भाषा संबंधी अज्ञेय जी के विचार मात्र हैं। उन्होंने इसे आधुनिक युग की जटिलताओं को सम्प्रेषणीय बनानेवाली सहज और स्वाभाविक भाषा स्थापित करने की चेष्टा की है। बोलचाल की भाषा और काव्य भाषा का अंतर "केवल शब्द चयन का नहीं है, वाक्य रचना का है, योजना का है, अन्विति का है[3]।"

बिंब विधान

काव्य की प्रभावात्मकता में बिंबों का विशेष योगदान रहता है। काव्य की वस्तु मानवीय है, यह हमने पहले देखा है। इसे व्यक्त करने केलिए मनुष्य के चिरपरिचित उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग अधिक सफल होता है। अज्ञेय जी कहते हैं कि आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है। .... उसके उपमान सब यौन प्रतीकार्थ रखते हैं[4]।" वैज्ञानिक मानबोध बौद्धिक प्रगति तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन के फलस्वरूप आधुनिक मानव की ज्ञान सीमा बढ़ गई है और तदनुकूल बिंबों का प्रयोग, काव्य केलिए सार्थक है।

---

1. त्रिशंकु - पृ.73-74
2. वही - पृ.116
3. नयी कविता अंक-2, पृ.37-38
4. तार सप्तक - पृ.76

अज्ञेय जी ने छंद का विस्तृत और स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है । छंद के अंतर्गत लय की महत्ता को उन्होंने यों व्यक्त किया है - "आज की कविता बोलचाल की अभिव्यक्ति माँगती है, पर गद्य की लय नहीं माँगती । तुक ताल का बंधन उसने अनावश्यक मान लिया है, पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अंग मानती है ।" [1] लयात्मकता कविता को गद्य से अलग कर देती है । कविता का संबंध भावना और संगीत से है । तुक और ताल को अज्ञेय जी अनावश्यक मानते हैं । किंतु लय को वे कविता का आंतरिक गुण मानते हैं । यह विचार नयी कविता के आचार्य कवि के उचित है ।

अज्ञेय जी की सैद्धांतिक आलोचना के विश्लेषण करने के बाद हम कह सकते हैं कि काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा काव्य का कर्म और काव्य भाषा के संबंध में उनके विचार विशेष पठनीय हैं । काव्य व्यक्ति चेतना के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है - काव्य की यह परिभाषा में व्यक्तिवादी कवि का जीवन दर्शन परिलक्षित होता है । चमत्कारिक तीव्रता में काव्य की आत्मा का दर्शन करना नवीन उद्भावना है । काव्य की वस्तु मानवीय है, यह सबको सर्वाश्लेषित करता है । काव्य भाषा के नवीन प्रयोग से सम्प्रेषण की समस्या को हल करने की तथा उनके कारणों के प्रतिपादन में, अज्ञेयजी ने नई कविता के प्रवर्तक आचार्य का कर्तव्य पूरा किया है ।

व्यावहारिक आलोचना

प्रयोगवादी कविता के प्रवर्तक पुरुष डॉ० अज्ञेय जी की राय में प्रयोग काव्य का साध्य नहीं बल्कि सत्य के सम्प्रेषण का साधन मात्र है । न तो वे शब्दों की मीनाकारी पर जोर देते हैं न उबाऊ कविता पर । वे शब्दों के साधारण अर्थ से

---

1. नयी कविता, अंक 2, पृ॰38

बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहते हैं । आधुनिक जीवन की जटिलताएं सम्पूर्ण रूप से कविता में ही व्यक्त होती है । अत: जीवन की जटिलता को व्यक्त करने केलिए अज्ञेय भाषा की संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहते हैं । काव्य में प्रयोग को प्रतिष्ठित करने के लक्ष्य में उनके द्वारा लिखे गये सप्तक के वक्तव्यों तथा उनके अन्य आलोचनात्मक रचनाओं में उनकी काव्य मान्यताएं उपलब्ध होती हैं । इसके सम्बंध में हमने सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत अध्ययन किया है । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत अज्ञेय जी के काव्य विधाओं, काव्य रचनाओं तथा कवियों सम्बन्धी विचार आते हैं । हिन्दी कविता के इतिहास का संक्षिप्त किंतु सारगर्भित अध्ययन उन्होंने किया है । "आधुनिक हिन्दी साहित्य" में संकलित "खड़ीबोली की कविता : पृष्ठभूमि" शीर्षक लेख इसका उदाहरण है । "नयी कविता" नामक लेख में प्रोफेसर, छायावादी और अध्येता के बातचीत के द्वारा नयी कविता की प्रमुख विशेषताओं पर उन्होंने प्रकाश डाला है । उसमें उन्होंने छायावादी कविता को भी अपना विवेच्य विषय बनाया है । खड़ीबोली के विकास चरणों का प्रतिपादन करते समय भारतेन्दु हरिश्चंद्र से लेकर शिवमंगल सुमन तक के कवियों तथा उनके काव्य की विशेषताओं का विवेचन किया है । आगे इस अध्याय में हम उनकी व्यावहारिक आलोचना का विवेचन करके देखेंगे कि हिन्दी आलोचना के विकास में उनका योगदान कितना महत्वपूर्ण है ।

<u>खड़ीबोली की कविता</u>

साहित्य में ब्रजभाषा को ढकेलकर खड़ीबोली की स्थापना अज्ञेय जी के मत में "लौकिकता की प्रतिष्ठा और स्वीकृति का पर्याय था[1] ।" रीतिकालीन साहित्य में एक प्रकार की लौकिकता विद्यमान थी, किंतु शृंगारिकता से अतिरंजित थी ।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य, अज्ञेय, खड़ीबोली की कविता : पृष्ठभूमि - पृ.45

आश्रित राजा के मनोरंजन के साधन प्रस्तुत करते समय, कवि अपनी पुरानी धार्मिक भावना को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयत्न करते थे। क्योंकि हिन्दी काव्य की परंपरा में उस समय तक धर्मभावना प्रधान रही। खड़ीबोली के अभ्युत्थान का आकलन करते हुए अज्ञेय जी कहते हैं कि जिस समय खड़ीबोली का आरंभ हुआ वह समय राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से विघटन का समय था। पश्चिम के सम्पर्क से जो बहुविध प्रमन्थन आरंभ हुआ, वे इस रुकावट और विघटन को समाप्त करने में बहुत कुछ सहायक हुए। अज्ञेयजी का कहना है कि "विशृंखलित और विभाजित समाज को पुन: संगठित करने की भावना एकाधिक सामाजिक आंदोलनों में प्रकट हुई। आर्यसमाज और ब्रह्म समाज दोनों उभय हेतुिक आंदोलन थे, उनका धार्मिक पक्ष भी नगण्य नहीं था पर विशेष महत्व उनकी सामाजिक भावना का ही था। उनका धार्मिक आग्रह सुधार द्वारा आत्मरक्षा का था, उनका सामाजिक आग्रह एक स्वस्थतर संगठन का।[1]" विदेशीय सम्पर्क और प्रभाव के द्वारा शिक्षा क्षेत्र और चिंतन के क्षेत्र में हमने काफी उन्नति पायी। फ्रांस की औद्योगिक क्रांति के पीछे जो राष्ट्रीयतावाद की भावना निहित थी उसने भी भारतीय कलाकारों को मानव की स्वाधीनता यानी एक लौकिक दृष्टि अपनाने को प्रेरित किया। यह लौकिकता या लौकिक दृष्टि ही अज्ञेय जी की राय में खड़ीबोली की सबसे उल्लेखनीय विशेषता है। खड़ीबोली कविता के उत्थान में भारतेंदु के महत्व का उद्घाटन करते हुए अज्ञेय जी कहते हैं - "भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस प्रवृत्ति [लौकिकता] को एक नया पुंजित, आत्मचेतन और सोद्देश्य रूप दिया। ह्रासशील दरबारों के दूषित वातावरण में क्षय प्राप्त होते हुए हिन्दी साहित्य को वह उबार कर नयी लोक भूमि पर लाये।[2]"

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.46
2. वही - पृ.48

हिन्दी साहित्य में लौकिक दृष्टि का आविर्भाव, और खड़ीबोली में साहित्य रचना के नवयुग का आरंभ, दोनों एक साथ हुए। खड़ीबोली के उत्थान के कारणों की चर्चा करते हुए अज्ञेय जी कहते हैं - "सामन्ती परंपराओं के प्रति उदासीनता खड़ीबोली के उत्थान का प्रति उदासीनता खड़ीबोली के उत्थान का पहला [और नकारात्मक] कारण था। दूसरा कारण और इसका रचनात्मक महत्व स्पष्ट ही है - था व्यापकता की खोज।[1]" इसे और भी स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं - "राष्ट्रीयता की केंद्रोन्मुख भावना के उदय और विकास के साथ साथ एक व्यापक भाषा की या व्यापक भाषा की अनुपस्थिति में सबसे अधिक व्यापक घटक की - खोज स्वाभाविक थी। और यह व्यापक घटक खड़ीबोली ही हो सकती थी ब्रजभाषा का प्रयोग अपने प्रदेश से बाहर केवल साहित्य हेतु तक सीमित था, जबकि खड़ी बोली अपने प्रदेश से बाहर लोक व्यवहार में भी आती थी, भले ही अशुद्ध रूप में।[2]" राष्ट्रीयता का उदय और उससे उत्पन्न नये उत्तरदायित्व के भाव का यह परिणाम था कि साहित्य रचना केलिए खड़ीबोली का उपयोग होने लगे। ब्रजभाषा के अच्छा ज्ञाता भारतेन्दु ने भी खड़ीबोली में काव्य रचना शुरू कर दी। इसका कारण अज्ञेयजी के अनुसार उनका राष्ट्रीय भावना ही है। और वे यह साबित करना चाहते हैंकि राष्ट्रीय चेतना और भाषा परिवर्तन एक साथ हुआ। आगे अज्ञेय जी ने खड़ीबोली के विकास के प्रत्येक चरण का अध्ययन उसके प्रमुख साहित्यकार की विशेषताओं के विवेचन से किया है। शब्द चयन की दृष्टि से भारतेंदु युग का लेखक शुद्धवादी नहीं था। जहाँ से शब्द मिले, उनसे वे हिन्दी के शब्द भंडार भर देते थे। परिमार्जीकरण की प्रवृत्ति द्विवेदी युग का कार्य है। द्विवेदी युग में हिन्दी संज्ञा खड़ीबोली केलिए रूढ हो गई और परिमार्जीकरण के आंदोलन से भाषा के प्रति जागरूकता उत्पन्न की जिसका गहरा रचनात्मक प्रभाव पड़ा। अज्ञेय जी के मत में भाषा के प्रति यह जागरूकता परवर्ती साहित्यिक आंदोलनों में

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.30
2. वही - पृ.30

नहीं देखी जाती है । वे कहते हैं कि "छायावादी काल की भाषा सम्बंधी चेतना का आधार था शब्द-कौतुक अथवा ध्वनि योजना का सार्थक उपयोग और तदाख्य प्रयोगवादी काव्य का मुख्य आग्रह प्रतीक योजना का ही रहा - यद्यपि शब्द कौतुक भी उसमें था, जिसकी दशा छायावाद के शब्द कौतुक से भिन्न थी[1]।" खड़ीबोली के प्रारंभिक काल में वे उसमें दो प्रधान धाराएं मिलती देखते हैं - परंपरागत रूढ़ि की कविताएं और नैतिक उपदेशात्मक कविताएं ।

छायावाद

छायावाद की पूर्ववर्ती काव्यधाराएं अज्ञेय के मत में विषय प्रधान थी । किंतु इनसे छायावाद की पृथकता इसी में है कि "विषयी-प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राणशक्ति है[2]।" अज्ञेय के इस विवेचन में नवीनता है । छायावादी काव्य के उद्भव के संबंध में उनका विचार ध्यातव्य है । प्रत्येक युग में मूल्यों और प्रतिमानों के ह्रास तथा उनके स्थान पर नये मूल्यों और प्रतिमानों की स्थापना होती जा रही है । विदेशी शिक्षा और पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव इस प्रसंग में विशेष ध्यान देने योग्य है । अभी तक काव्य में जो ईश्वरपरक नैतिकता प्रतिष्ठित थी वह मानवपरक नैतिकता में बदल गयीं । नयी नैतिकता की स्थापना धीरे धीरे हो रही थी । अतः एक स्वच्छंदतावादी या कि नास्तिकतावादी अंतराल बढ़ता जा रहा था । महायुद्धोत्तर अव्यवस्था और नैराश्य ने इस अंतराल को और बढ़ा दिया । फलतः संवेदनशील कृतिकार में गहरा अंतर्द्वन्द्व प्रकट हुआ । यह अंतर्द्वन्द्व उसे साधारण जन से दूर ले गया और इस दूरी के बोध ने अंतर्द्वन्द्व को नयी तीव्रता भी दी । इसने नये कवि में एक अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक व्याकुलता उत्पन्न की । और अज्ञेयजी कहते हैं कि "छायावादी काव्य मुख्यतः इस व्याकुलता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्नों का परिणाम था[3]।"

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.52
2. वही - पृ.59
3. वही - पृ.59

यह व्याकुलता नाना रूपों में प्रकट हुई । किंतु उनमें मुख्य बात यह थी कि विषयी की प्रधानता सभी रूपों की मूल प्रेरणा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी । यह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिंतन की, चाहे अनुभूति की, चाहे आध्यात्मिक व्याकुलता की हो । इस वैयक्तिकता के उत्थान में मानसिक और आध्यात्मिक व्याकुलता के अतिरिक्त अज्ञेय जी के अनुसार विदेशी प्रभाव भी कारण बने । अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य से परिचय होना वे एक महत्वपूर्ण कारण मानते हैं । साहित्य से परिचय पाना एक बात है परंतु उससे एक नयी दृष्टि पाना उल्लेखनीय बात है । इसलिए अज्ञेय जी छायावादी काव्य में अपने स्वरों की प्रतिध्वनियाँ ही सुनते हैं । इस नयी दृष्टि का रहस्य बुद्धि के उन्मोचन में नहीं, भावना और कल्पना के उन्मोचन में एक नयी संवेदना में था । अलावा इसके नैतिक उन्मोचन का भी काफी प्रभाव पड़ा । ईश्वर परक नैतिकता प्रकृति परक नैतिकता में बदल गयी । धीरे धीरे प्रकृतिपरक नैतिकता की अवधारणा बदल गई और परिणामतः नैतिक उन्मोचन ने एक अभूतपूर्व स्वच्छंदतावाद का रूप ले लिया । नैतिक उन्मोचन के नये और स्फूर्तिप्रद वातावरण में साहित्यकार की कल्पना स्वच्छंद विचरण करने लगी । छायावाद की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए अज्ञेयजी कहते हैं - "छायावाद मुख्यतया पश्चिम से प्रभावित नयी व्यक्तिपरक दृष्टि का परिणाम था ।"[1] किंतु सम्पूर्ण रूप से वह विदेशी चीज़ नहीं है ।

अज्ञेय जी के मत में "छायावादी [कवि] के सम्मुख पहला प्रश्न अपने कथ्य के अनुकूल भाषा का - नयी संवेदना के नये मुहावरे का - था ।"[2] इस समस्या को उन्होंने धैर्य के साथ सामना किया और सफलता प्राप्त की । जो हम उपहासास्पद समझे जाते थे, हिन्दी के गौरव मानने लगे । हिन्दी काव्य के इतिहास में छायावाद का अपना अलग अस्तित्व है । इस प्रक्रिया में छायावादी कवियों के प्रयास की अज्ञेय जी यों प्रशंसा करते हैं - "छायावादी कवियों ने भाव, भाषा, छंद और

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.63
2. वही - पृ.63

संक्षम शिल्प सभी को नया संस्कार दिया, छंद, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि को गतानुगति ा से उबारा, नयी प्रतीक योजना की स्थापना की । इस प्रकार काव्य की , और रूपाकार दोनों में गहरा परिवर्तन प्रस्तुत हुआ ।"

छायावाद के उद्भव सम्बन्धी पृष्ठभूमि का अज्ञेय ने गहराई से अध्ययन किया है । विषयी प्रधान दृष्टि का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने मौलिक चिंतन का परिचय दिया है । सचमुच अज्ञेय जी के छायावादी संबंधी विचार पठनीय है ।

नयी कविता

अज्ञेय जी को हम "नयी कविता का पताका पुरुष" कहें या "व्यवस्थापक-आयोजक कलाकार" कहें या नयी कविता का पुरोधा या हिन्दी कविता का किरीटी तक" कहें तो ये सारे विशेषण उनकेलिए अनुपयुक्त ठहरेंगे क्योंकि ये ऐसे विरले व्यक्तित्व को अधिकारी हैं जो अपनी सर्जना और प्रतिभा की दम पर विशिष्ट काव्य चेतना का प्रतिनिधित्व कर सकें । काव्य की खोई गई काव्यात्मक गरिमा वापस करानेवाले ये कवि शिल्पगत प्रयोग और गहरे संवेदनात्मक सूत्रों के द्वारा "व्यक्तित्व की खोज" और "आत्मान्वेषण की चेष्टा" करते हैं । नयी काव्य चेतना का संस्कार और मानव मूल्यों की रागात्मक संबंधों की स्थापना में उन्होंने "नयी कविता" को पूर्ववर्ती कविता से एकदम अलग और बेजोड़ बना दिया । अज्ञेय का "काव्य के प्रति एक अन्वेषी दृष्टिकोण है । उनके मत में "रचनाकार" राहों के अन्वेषी हैं । "कविता ही कवि का परम वक्तव्य है - यही अज्ञेय का दावा है । फिर भी अपनी कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने उनकी विशेषताओं पर एक तरह प्रकाश डाला है । "तारसप्तक" की भूमिका में अज्ञेय जी ने इस काव्यधारा की पृष्ठभूमि, उसमें संकलित कवियों और उनकी कविताओं के संबंध में विस्तार से विचार किया है ।

1· आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ·63

अज्ञेय जी की स्थापना यह है कि "नयी कविता सबसे पहले एक नयी मन:स्थिति का प्रतिबिंब है - एक नये मूड का - एक नये राग संबंध का[1]।" छायावाद के आविर्भाव के मूल में वर्णनात्मक नैतिक प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह का आग्रह प्रबल रहा है। नयी कविता में यह आग्रह और भी गहरा और अधिक व्यापक रहा। नयी कविता की मूल विशेषता को अज्ञेय जी यों व्यक्त करते हैं "सृष्टि और मानव जाति के सम्बन्ध के परिपार्श्व में मानव जाति और मानव का नया सम्बंध यही नयी कविता की मूल विशेषता है[2]।" मानव जाति और मानव का नया संबंध, इसका अज्ञेय जी ने आगे विस्तार से विचार किया है। वे कहते हैं - मानव के मानवत्व के आग्रह के दो पहलू हैं। एक में मानव "व्यक्ति" पर आग्रह है। मानव की जैविक परंपरा का अध्ययन कर, व्यक्तित्व के विकास का आधार पहचान कर, मानव के मन को समझना, उसके राग-विकार आदि को जानना और इस पृष्ठभूमि पर मानवी संबंधों का वाहक बनना - यह एक पहलू है। दूसरे में मानव "समष्टि" पर आग्रह है। वह सामाजिक संगठन और विकास का अध्ययन करके सामूहिक आचार के आधार ढूंढता है और आर्थिक संबंधों का वाहक और व्याख्याता बनना चाहता है[3]।" ये दोनों परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां दीखने पर भी अज्ञेय जी इन्हें पूरक प्रवृत्तियां मानते हैं। पहली में विषय पर आग्रह के साथ वह सौंदर्य के - एस्थेटिक के प्रतिमानों को और रूप विधान को स्वीकार करती हुई चलती है। दूसरी का आग्रह विषय पर नहीं, विषय की स्थिति पर है। रूप विधान पर विशेष ध्यान देना इसकी दूसरी विशेषता है। नये कवि का प्रयोग के प्रति प्रबल कामना रूप विधान से संबंध रखती है। प्रयोग केवल प्रयोग के लिए नहीं। क्योंकि अज्ञेय जी के मत में काव्य केवल सफल प्रयोग का नाम है। प्रयोग की सफलता के कारण काव्य का मूल्य बढ़ता है।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ. 156
2. वही - पृ. 157
3. वही - पृ. 158

चमत्कारिक तीव्रता और काव्य भाषा को बोलचाल के निकट लाना नयी कविता की विशेषता है । लोक गीतों या लोक प्रचलित धुनों की ओर उसे विशेष झुकाव है ।

नयी कविता के बारे में अज्ञेय जी के विचार ध्यान देने योग्य हैं । सृष्टि और मानव जाति के परिपार्श्व में मानव जाति और मानव के नये सम्बन्ध के अध्ययन से अज्ञेय जी ने व्यक्ति की वैयक्तिकता पर अधिक ज़ोर दिया है । साहित्यकार पहले व्यक्ति बाद में सामाजिक प्राणी है । नयी कविता की प्रयोगशीलता उसका साध्य नहीं, कविता की सफलता का उपादान है ।

हिन्दी साहित्य की विविध काव्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उनके प्रमुख रचनाकारों के सम्बन्ध में अज्ञेय जी ने अपनी राय व्यक्त की है । उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में उन्होंने गहन अध्ययन किया है । आगे इस प्रकरण में हम उनका विवेचन करेंगे ।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र

बाबू भारतेन्दु हरिश्चंद्र खड़ीबोली कविता के पितामह माने जाते हैं । यह हमने देखा कि अज्ञेय जी के मत में खड़ीबोली कविता की प्रमुख विशेषता कविता को नयी लोकभूमि पर उतार देना है । इस प्रयास में भारतेंदु का महत्वपूर्ण स्थान है । अज्ञेयजी कहते हैं - "भारतेंदु हरिश्चंद्र हिन्दी को नयी लोकभूमि पर लाये और उसके साहित्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त बने ।"[1] भारतेन्दु जी की कविताओं का महत्व उनकी राष्ट्रीय भावना के कारण विद्वानों से प्रशंसित रहा किंतु हिन्दी कविता को नयी लोक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने की पहचान सराहनीय है ।

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.52

मैथिलीशरण

मर्यादा प्रेमी वैष्णव भक्त कवि को भारतीय सम्मान से राष्ट्र कवि के नाम से पुकारे जाते हैं। राष्ट्रीयता उनकी कविताओं का मुख्य स्वर रहा और राष्ट्र प्रीति का संदेश सुनाकर उनका काव्य कृतित्व देश को प्रेरणा और उद्बोधन देता रहा। "भारत भारती और झंकार से लेकर विष्णुप्रिया" और "पृथ्वी पुत्र" तक की उनकी काव्य यात्रा में मानवतावाद का विकास दीख पड़ता है। निरंतर विकासशील विचारावली और आदर्श के कारण गुप्त जी युग के साथ चल सके साथ ही समकालीन समाज को उद्बुद्ध कर सके। गुप्तजी के राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद में आलोचक विरोध पाते हैं। किंतु इसका खण्डन करते हुए अज्ञेय जी लिखते हैं कि जब तक राष्ट्रीयता शोषण से मुक्ति का आन्दोलन है तब तक वह मानववादी है ही, दूसरे इसलिए भी कि गुप्तजी का मानवतावाद निरंतर उनके विश्वासों को संयत या विकसित करता रहा[1]।" "साकेत" उनका प्रबल महाकाव्य है जिसे सब स्तरों के लोग समान रूप से ग्रहण सके। इसका कारण उनके अनुसार गुप्तजी की लोकोन्मुखता ही है। भाषा के परिमार्जन और संस्कार में गुप्तजी की देन का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि "किंतु यह भी उतना ही सत्य है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा संबंधी अवधारणाओं को मैथिलीशरण गुप्त जैसा कुशल और परिलोकदायी उदाहरण न मिलता तो ये संस्कार इतनी सुगमता से इतने गहरे न पैठ पाते[2]।" गुप्तजी के काव्य का अवलोकन करते हुए अज्ञेय जी कहते हैं कि "उसे भारतीयता का काव्य कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें उदारता भी है और मर्यादा प्रेम भी, प्राचीन का गर्व भी है और नये का अभिनंदन भी, विशाल ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित आस्था भी है और भविष्य केलिए एक संयत आशा भी[3]।"

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.57
2. वही - पृ.57
3. वही - पृ.56

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है कि अज्ञेय जी ने गुप्तजी के कृतित्व और व्यक्तित्व का सही अध्ययन किया है ।

जयशंकर प्रसाद

अज्ञेय जी लिखते हैं - स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के काव्य में वह उन्मुक्त स्वच्छंद भाव नहीं है जो अन्य छायावादी कवियों में पाया जाता है, यद्यपि संसार की रूप माधुरी को आकण्ठ पान करने की लालसा उनकी कविताओं में स्पष्ट है ।[1]" इसका एक कारण उनके अनुसार "अतीत के प्रति, और विशेष रूप से बौद्ध उत्कर्ष काल के प्रति, उनका आकर्षण है ।[2]" इस कारण से वे उस काल का मोहक और मादकता पूर्ण चित्रण प्रस्तुत करते हैं और उसमें एकात्म होकर अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रति एक संकोच का अनुभव करते हैं । इस संकोच का दूसरा कारण अज्ञेय जी के मत में भाषा की अपर्याप्तता है । देश काल की सीमाओं से परे किसी कल्पना लोक में विचरण करने की आकांक्षा और प्रकृत आकांक्षाओं की सहज अनुभूति को संकुचित करने की प्रवृत्ति सारे छायावादी कवियों को पलायनवादी और निराशावादी बना देती थी । सौंदर्य उपभोग्य है, इसलिए प्रसादजी को कोई हिचकिचा नहीं थी । पार्थिव सौंदर्य को स्वर्गीय महिमा से मण्डित करनेवाले प्रसाद जी कभी पलायनवादी या निराशावादी न हुए । इसके संबंध में अज्ञेय जी कहते हैं - "अत: वह पलायनवादी, निराशावादी न हुए, पर असामंजस्य के अनुभव ने उन्हें भी अपने भावों को आध्यात्मिकता के आवरण में व्यक्त करने को प्रेरित किया । .... आरंभ में जो केवल एक आवरण था, गंभीर चिंतन और मनन के कारण एक तत्व दर्शन बन गया, निजी अनुभूति से ऊपर उठकर उन्होंने एक परम प्रेममय, परम आनंदमय का आभास पाया और उनका काव्य उसी के प्रति निवेदित हुआ ।[3]" कवि से बढ़कर दार्शनिक प्रसादजी को हम उनके काव्य में पाते हैं । इसके कारणों पर अज्ञेय जी ने प्रकाश डाला है ।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.64
2. वही - पृ.64
3. वही - पृ.64

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

छायावाद का स्वच्छंदतावादी पक्ष अपने पुष्ट और सफल रूप में भी सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के काव्य में व्यक्त होता है । अपना कविता नाम सार्थक करते हुए एक अविराम विद्रोह भावना के कवि रहे । गतानुगतिकता उन्हें असमान्य रही और एक प्रखर व्यक्तित्व की ओज भरी और दुर्दान्त अभिव्यक्ति से उन्होंने पाठक और आलोचक को अभिभूत कर दिया । अज्ञेय जी लिखते हैं कि "अनुभूति की तीव्रता के कारण उनके आवेग प्रायः निरंकुशता की सीमा पर रहते थे, और "छंद के बंध" के प्रति कवि की घोर अनास्था इस खतरे को और भी बढ़ा देती थी । किंतु वास्तव में कवि का मुक्ति का आग्रह बाह्य प्रसाधन के प्रति विद्रोह था, आंतरिक संयम की अवज्ञा नहीं, उनके मुक्त छंद में भी एक संस्कार और ताल विद्यमान था ।[1]" राम की शक्ति पूजा का सराहना करते हुए अज्ञेय जी कहते हैं - "राम की शक्ति पूजा जैसी दूसरी रचनाएं हिन्दी में नहीं है । निष्कम्प संतुलन के साथ आवेगों की ऐसी तीव्रता और भाषा का लयमुक्त प्रवाह दुर्लभ है । घटनाओं की पूर्वापर संगति ने अनिवार्यतः अंकुश का काम किया और इस प्रकार सधी हुई शक्ति का जो आभास उनके कथा काव्य में मिला वह अतुलनीय हुआ ।[2]" निराला जी के स्फुट गीत दुरूह तथा दुर्बोध होने पर भी उनके जो सफल प्रगीत थे वे खड़ी बोली पाठकों के लिए एक नया अनुभव सिद्ध हुए ।

अज्ञेय जी निराला जी के अनोखे व्यक्तित्व और उन्मुक्त काव्य चेतना में उस कवि की शक्ति का दर्शन करते हैं ।

1· आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ·65
2· वही - पृ·65

सुमित्रानंदन पंत

छायावाद की शक्ति का प्रतिरूप जहाँ निराला ने उपस्थित किया, वहाँ उसकी सूक्ष्म संवेदना श्री॰ सुमित्रानंदन में लक्षित हुई। अज्ञेय जी के अनुसार पाश्चात्य रोमांटिकवाद ने किस तरह हिन्दी कविता को प्रभावित किया, इसे समझने केलिए पंत जी का काव्य ही अध्येय है। मानव और प्रकृति के सौंदर्य के प्रति एक मधु कौतूहल पंतजी के काव्य का मूल स्वर है। अज्ञेय जी कहते हैं - "सौंदर्य के प्रति निराला में एक पौरुष दृप्त जयी का भाव था, प्रसाद में पारखी उपभोक्ता का, पंत में उसकी अंतर्निहित शोभा के प्रति एक मुग्ध अकृत्रिम विस्मय का भाव है[1]।" पंतजी को वे मूलतः गीतिकाव्य के कवि मानते हैं और उनकी गीति काव्यात्मकता वर्ड्सवर्थ और शेली से प्रभावित मानते हैं। किंतु यह प्रभाव उनके अनुसार अनुकरण कदापि नहीं है। उस काव्य की विशेषता को आत्मसात करके पंतजी एक नयी दृष्टि को अपना सके। पंतजी के कवि व्यक्तित्व को आलोचकों ने प्रकृति प्रेमी, मानव प्रेमी और आध्यात्मवादी तीन चरणों में विभक्त किया है। अज्ञेय जी ने उसे नये प्रयोग में अभिव्यक्त दिया है - "सौंदर्यबोध पर समाज बोध हावी हुआ, और फिर उस पर आध्यात्म-बोध[2]।" प्रस्तुत प्रतिपादन की नवीनता और सार्थकता प्रशंसनीय है। इसे उन्होंने दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है - "आरंभ के मुग्ध विस्मय का स्थान पहले एक दायित्व भाव ने ले लिया और फिर एक कल्याण भावना ने[3]।" पंतजी के काव्य में जो कुतूहलता दर्शनीय है वह केवल रूप कौतूहल का नहीं, शब्द कौतूहल, ध्वनि कौतूहल, नाद कौतूहल तक व्याप्त रहता है। प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि कम शब्दों में अज्ञेय जी ने पंतजी के व्यक्तित्व और कृतित्व की विशेषताओं का उद्घाटन किया है।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ॰65
2. वही - पृ॰66
3. वही - पृ॰66

रामधारी सिंह दिनकर

छायावदोत्तर काल के कवियों में अज्ञेय जी दिनकरजी को उनकी राष्ट्रीयता वादी या उद्बोधनवादी कविताओं के कारण प्रमुख नहीं मानते हैं, बल्कि अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के बावजूद उसके प्रत्याख्यान में उन्हें सफल कवि मानते हैं। वे मस्ती और तीव्र सामाजिक चेतना के कवि हैं, अत: उन्हें सामाजिक व्यंग की कविता करनी पड़ी। मस्ती और मौज के उपासक, पौरुष के दर्प के कवि होकर भी उन्होंने स्वच्छंदतावाद का दर्शन नहीं अपनाया। प्रवृत्तिगत भेदों के रहते हुए भी अज्ञेय जी दिनकर को मैथिलीशरण गुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं। "कुरुक्षेत्र उस अर्थ में कथा काव्य नहीं है जिस अर्थ में 'साकेत' कथा काव्य है। क्योंकि उसमें घटना वर्णन तो है ही नहीं, न ही वह "यशोधरा" के ढंग का कथा काव्य है जिसमें घटनाओं का वर्णन तो नहीं है, पर विभिन्न पात्रों की विभिन्न समय की मन स्थितियों के वर्णन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से घटना प्रवाह सूचित कर दिया गया है। कुरुक्षेत्र वास्तव में एक नाटकीय संवाद है, उसकी नाटकीय तीव्रता ही उसके मानसिक ऊहापोह और तत्व चिंतन को नीरस होने से बचा लेती है[1]।" कुरुक्षेत्र की यह विशेषता उसे गुप्तजी के काव्यों के निकट लाती है। दिनकर जी के चाहे वृत्त काव्य हो या मुक्त काव्य हो उनमें विचारों का वाहन मिलता है। इसलिए अज्ञेयजी उन्हें समकालीन अथवा नयी प्रवृत्तियों के सहपथिक मानते हैं[2]।" नयी और वैचारिक वस्तु प्रदान करते हुए उनकी रूप परिकल्पना में विद्रोह की भावना नहीं है। अज्ञेय जी ने यहाँ दिनकर जी के कृतित्व का मौलिक विवेचन किया है और यह विवेचन ध्यातव्य है।

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य - पृ.71।
2. वही - पृ.72

इसके अतिरिक्त अज्ञेयजी ने भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेंद्र शर्मा, शिवमंगल सुमन जैसे कवियों के बारे में यत्र तत्र विवेचन किया है ।

निष्कर्ष

अज्ञेय जी की काव्यालोचना का अध्ययन करने के उपरांत हम कह सकते है कि उनकी आलोचना, उनकी अंतर्दृष्टि और गहन अध्ययन की मौलिक परिचायक है । उन्होंने सैद्धांतिक आलोचना के प्रतिपादन में नयी कविता के अनुकूल आवश्यक परिवर्तन और परिवर्धन किया है । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत व्यक्त किये गये विचार, नयी काव्य विधाओं की सही पहचान तथा उनकी प्रमुख विशेषताओं को प्रकाश में लाने में समर्थ हुए है । गुप्तजी, प्रसाद, निराला, पंत, दिनकर जैसे महाकवियों को उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर विवेचन का विषय बनाया है । उनमें अज्ञेयजी के साहित्य मर्मज्ञ और अध्येता का रूप उभर आया है । अंत में उनकी काव्य-आलोचना विचारों से समृद्ध तथा अभिव्यक्ति में सुग्राह्य मालूम होती है । हिन्दी काव्यालोचना में अज्ञेय जी के आलोचक उनके कवि के समकक्ष प्रतिष्ठित है ।

मुक्तिबोध की काव्यालोचना

मनुष्य ही साहित्य का मूलाधार है । मानव जीवन की जटिलताएँ, तनाव, संघर्ष, पीड़ा, आतंक, भय और त्रासदी का सच्चा चित्रण मुक्तिबोध की रचनाओं में मिलता है । इसलिए हम कह सकते हैं कि मुक्तिबोध जीवन के संघर्ष के साहित्यकार हैं । जीवन को उसकी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करनेवाले मुक्तिबोध की रचनाओं में एक प्रकार की तनाव कायम रहती है । यह तनाव व्यक्तिगत तल पर आंतरिक तनाव का रूप धारण करते हुए, सामाजिक तल पर बाह्य तनावों को आत्मसात करते हुए, आगे बढ़ती है । इसलिए मुक्तिबोध अकेले नहीं । उनके साथ सारा समाज चलता है और वे उनके सहचर या राही बन जाते हैं । इस प्रसंग में डॉ॰ सुरेंद्र प्रताप का निम्न कथन तथ्यपूर्ण है - "मुक्तिबोध में निसंगता और संगता का तनाव है जबकि अज्ञेय में कूटस्थ आत्मस्थ भावना । एक अपने में रहकर दूसरों से जुड़ना चाहता है या दूसरों से जुड़कर अपने में भी रहता है दूसरा केवल आत्मलीन है । इस तरह के सोच-विचार से ही उनके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है ।"[1] मुक्तिबोध मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं । किंतु उनकी रचनाओं राजनीतिक विचारों की प्रचारात्मकता नहीं क्योंकि सरलीकरण की प्रवृत्ति उनमें इष्ट नहीं है । जीवन की वास्तविकताओं को व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया से अनुभवजन्य बनाने की उनकी कला बेजोड़ है । इसीलिए वे फैंटसी का सहारा लेते हैं । साहित्यिक क्षेत्र में उनका आविर्भाव एक संक्रमण काल में हुआ । एक ओर छायावाद के ह्रास और दूसरी ओर प्रगतिवाद की शुरुआत के समय वे अवतरित हुए । किंतु इन दोनों को आत्मसात करते दोनों से अलग अपनी निजी व्यक्तित्व को सुरक्षित रखनेवाले इस जनवादी कलाकार के संबंध में शमशेर का कथन ध्यान देने योग्य है - "मुक्तिबोध ने छायावाद की सीमाएँ लाँघकर, प्रगतिवाद से मार्क्सदर्शन ले, प्रयोगवाद के अधिकांश हथियार संभाल, और उसकी स्वतंत्रता महसूस कर, स्वतंत्र कवि रूप से, सब वादों और पार्टियों से ऊपर उठकर निराला की सुथरी और खुली मानवतावादी परंपरा को बहुत आगे बढ़ाया[2] ।"

1· मुक्तिबोध विचारक, कवि और कथाकार - डॉ॰ सुरेंद्र प्रताप - पृ॰5

2· चाँद का मुँह टेढ़ा है - पृ॰26

इसलिए अशोक वाजपेयी उन्हें किसी कटघरे में बांधने को तैयार नहीं है - मार्क्सवादी कवि उनके लिए एक बिल्कुल अधूरी और अपर्याप्त संज्ञा होगी[1]।" मुक्तिबोध की प्राणवान रचनाएं जीवनानुभवों को सजगता के साथ शिल्प में समेट सकी है। हर रचना में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व और उनके जीवन संघर्षों का इतिहास मुखर हुआ है। रचना और कर्म का द्वैत मुक्तिबोध में दिखलाई नहीं देता, कविता और जिन्दगी एक-रूप मालूम होती है। यहाँ श्रीकांत वर्मा का यह कथन तथ्यपूर्ण मालूम होता है - "किसी और कवि की कविताएं उनका इतिहास न हों, मुक्तिबोध की कविताएं अवश्य उनका इतिहास है। जो इन कविताओं को समझेंगे उन्हें मुक्तिबोध को किसी और रूप में समझने की जरूरत नहीं पड़ेगी। जिंदगी के एक-एक स्नायु के तनाव को एक बार जीवन में और दूसरी बार अपनी कविताओं में जीकर मुक्तिबोध ने अपनी स्मृति के लिए सैकड़ों कविताएं छोड़ी हैं और ये कविताएं ही उनका जीवन वृत्तांत है[2]।"

मुक्तिबोध विचारवान कवि है; साथ ही एक प्रबुद्ध चिंतक भी। उनकी समीक्षा-दृष्टि पुष्ट वैचारिकता लिए हुए है। मार्क्सीय विचारधारा को लेकर वे चलते हैं। उनका सौंदर्यशास्त्र सामाजिक चेतना, मानवीय क्रिया व्यापार और वस्तु जगत से संबद्ध हैं। संवेदना ज्ञान से और ज्ञान संवेदना से जुड़ा है। एक प्रबुद्ध चिंतक के नाते मुक्तिबोध के आलोचक बहुत सशक्त एवं सक्रिय है। उनकी काव्यालोचना संबंधी मान्यताएं विशेषतः पठनीय इसलिए हैं कि वे पुष्ट तर्क और आधार लिए हुए हैं। सैद्धांतिक आलोचना में मुक्तिबोध ने, अभी तक विद्वानों से उपेक्षित कवि-कर्म का विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या की है। कवि-कर्म एक जटिल समस्या है, जिसकी व्याख्या किसी ने न की है। भाषा को मुक्तिबोध सामाजिक संपदा मानते हैं। व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत उन्होंने कवि पंत और शमशेर का गहरा अध्ययन किया है। "कामायनी : एक पुनर्विचार" इस दिशा में एक नया कदम है, जो उसके सही मूल्यांकन करने में अधिक सहायक सिद्ध हुआ है।

---

1. फिलहाल - अशोक वाजपेयी - पृ.115
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है - पृ.8

आगे हम मुक्तिबोध की सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का विवेचन करेंगे ।

सैद्धांतिक आलोचना

सृजन प्रक्रिया

हिन्दी में पहले पहल सृजन-प्रक्रिया जैसे गंभीर विषय पर अपना विचार व्यक्त करनेवाले तथा उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करनेवाले कवि-आलोचक मुक्तिबोध ही रहे हैं । 'तार सप्तक' के अपने वक्तव्य में पहली बार मुक्तिबोध ने कलात्मक सृजन की समस्याओं पर अपने आलोचनात्मक विचार व्यक्त किये ।

कवि स्वभाव, कवि-दृष्टि और विषय-वस्तु के अनुसार रचना प्रक्रिया भिन्न भिन्न लगती है और परिवर्तित होती चलती है । भावना, विवेक, कल्पना और संवेदनात्मक उद्देश - रचना प्रक्रिया के ये मूल तत्व सबको स्वीकृत है किंतु इनकी कोई विशिष्ट परिभाषा नहीं होती क्योंकि वे रचनाकार की दृष्टि, विषय वस्तु और स्वभाव के अनुसार बदलती रहती है । इसी कारण रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में भिन्नता मिलती है, जो स्वाभाविक है । रचना प्रक्रिया के भीतर सिर्फ भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश्य ही नहीं होते बल्कि वह जीवनानुभव होता है, जो रचनाकार के अंतर्जगत का अंग है । मुक्तिबोध रचनाकार के स्वानुभूत जीवन को रचनात्मक प्रक्रिया का मूलाधार मानते हैं, "बाह्य से प्राप्त ज्ञान निधि और भाव परंपरा लेखक के अंतर्जगत में स्थान पाकर, उसके व्यक्तित्व की आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दिशा में अपने विभिन्न रूप [उसके हृदय में] गठित करती हुई उसकी अपनी ज्ञान निधि और भाव परंपरा बन जाती है । बाह्य से प्राप्त ज्ञान और भाव लेखक के अंतर्व्यक्तित्व में ऐसे घुल मिल जाते हैं कि वे उसके निजी हो जाते हैं । इसलिए कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता, वह अपने युग का अंग होता है।"[1]

---

1. नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र - पृ.82

मुक्तिबोध के अनुसार रचना एक खोज और ग्रहण का परिणाम है । रचनाकार अकेले एकान्त में रचना करता है किन्तु इसमें उसकी सामाजिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गई हैं । इसलिए एकान्तिक होते हुए भी उसमें एक तरह का सहचारत्व बोध वर्तमान है । रचना प्रक्रिया के प्रत्येक पहलू का विस्तृत विवेचन आपके "तीसरा क्षण" शीर्षक लेख में मिलता है । एक "साहित्यिक की डायरी" में यह लेख संग्रहीत मिलता है । रचना प्रक्रिया के अंतर्गत प्रकारान्तर से तीनों क्षणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है - "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट-तीव्र अनुभव क्षण । दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक फेंटेसी का रूप धारण कर लेना मानों वह फेंटेसी अपनी आंखों के सामने खड़ी हो । तीसरा और अंतिम क्षण है इस फेंटेसी के शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता । शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है । प्रवाह में वह फेंटेसी अनवरत रूप से विकसित परिवर्तित हुई आगे बढ़ती जाती है । इस प्रकार वह फेंटेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है । जिस फेंटेसी को शब्द बद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह फेंटेसी अपने मूल रूप से इतनी अधिक दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फेंटेसी का यह नया रूप अपने मूल रूप की प्रतिकृति है । फेंटेसी को शब्द बद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है - जिसके कारण कृति क्रमशः विकसित होती जाती है - वही कला का तीसरा और अंतिम क्षण है ।"[1]

प्रथम क्षण को वे निस्संदेह अनुभव का क्षण मानते हैं । उसके बगैर आवेग और आगे की गति संभव नहीं होती है । मानसिक प्रक्रिया को आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाने को पहला जबरदस्त धक्का देने का काम प्रथम क्षण ही करता है तथा गति की दिशा भी निर्धारित करता है । वह उसको एक आकार [फार्म] प्रदान करता है । यह अनुभव अन्य मनस्तत्वों से जुड़कर मनःपटल पर स्वयं प्रक्षेपित कर, बदल जाता है । कोई विशिष्ट या गहरा अनुभव कलाकार का आंतरिक बनने, उसके

1. एक साहित्यिक की डायरी - पृ. 18

व्यक्तित्व का अंग बनने की प्रक्रिया में अपने मूल स्वरूप को खो देता है। यह इसलिए होता है कि अंतस्थ अन्यान्य अनुभवों के मध्य उसकी जाँच-परख, उसकी काट-छाँट, उसका संशोधन संपादन होता है। इस प्रक्रिया में एक ऐसा समय आता है जब अनुभव संवेदना का रूप ग्रहण करता है। संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के रूप में मूल भावना का निर्माण करते हैं। मुक्तिबोध निर्वैयक्तिकता या तटस्थता की स्थिति को ही कला का दूसरा क्षण मानते हैं। उनका कहना है कि "जो फैंटेसी अनुभव की व्यक्तिगत पीड़ा से पृथक होकर अर्थात् उनसे तटस्थ होकर अनुभव के भीतर की ही संवेदनाओं द्वारा उत्सर्जित और प्रक्षेपित होगी, वह एक अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ में वैयक्तिक होते हुए भी दूसरे अर्थ में नितांत निर्वैयक्तिक होगी।[1]" उस फैंटेसी में अब एक भावात्मक उद्देश्य की संगति आ जायेगी। इस उद्देश्य के माध्यम से ही फैंटेसी को रूप-रंग मिलेगा। किंतु इसके बावजूद भी वह फैंटेसी यथार्थ में भोगे हुए वास्तविक अनुभव की प्रतिकृति नहीं हो सकती। अर्थात् फैंटेसी अनुभव प्रसूत होती है, उसकी प्रतिकृति नहीं। फैंटेसी में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनाएं निहित रहती हैं जो सृजन का कारण बनती है और रचना प्रक्रिया को आगे बढ़ाती है। इसके संबंध में मुक्तिबोध का कहना है कि "कला के दूसरे क्षण में उपस्थित फैंटेसी की सचाई में संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदन कुछ इस प्रकार समाये रहते हैं कि लेखक उन्हें शब्द-बद्ध करने के लिए तत्पर हो उठते हैं।[2]"

कला का तीसरा क्षण, मुक्तिबोध के अनुसार रचना प्रक्रिया में अत्यंत महत्वपूर्ण क्षण है। यहाँ से एक नये संघर्ष की शुरूआत होने लगती है। लेखक ज्योंही फैंटेसी शब्दों में व्यक्त करने लगता है, उसका रंग बदलने लगता है, वह प्रवाहित होने लगती है। फैंटेसी को शब्द बद्ध करने की प्रक्रिया में अनेक तत्व उसमें मिल जाते हैं जो उसे निरंतर संशोधित करते रहते हैं। फैंटेसी में एक भावनात्मक उद्देश्य निहित रहता है। फैंटेसी के भीतर की दिशा और उद्देश्य उसका मर्म है। फैंटेसी के इस मर्म को शब्द बद्ध करते समय अनेक अनुभव चित्र, भाव और स्वर तैर आते हैं इसलिए फैंटेसी के

1· एक साहित्यिक की डायरी - पृ·19

2· वही - पृ·21

उद्देश और दिशा के निर्वाह के अनुकूल कलाकार को भाव संपादन करना पड़ता है जिससे कि केवल मर्म के अनुकूल और उसको पुष्ट करनेवाले स्वर भाव तथा चित्र ही कविता में आ जायें। और इसी बीच कोई अन्य मार्मिक अनुभव तैर आये तो उसे भी इसके अनुकूल प्रयोग किया जाता है।

कला के तीसरे क्षण में सृजन प्रक्रिया तीव्र हो जाती है। यहीं से फैंटेसी साहित्यिक कला अभिव्यक्ति का रूप धारण करने लगती है। मुक्तिबोध का कहना है कि "कला के तीसरे क्षण में सृजन प्रक्रिया ज़ोरों से गतिमान होती है। कलाकार को शब्द साधना द्वारा नये नये अर्थ-स्वरूप मिलने लगते हैं। पुरानी फैंटेसी अब अधिक सम्पन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता, अभिव्यक्ति प्रयत्न के दौरान शब्दों के अर्थ स्पंदनों के द्वारा पैदा होती है। अर्थ स्पंदनों के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की परंपरा होती है। इसलिए अर्थ परंपराएं न केवल मूल फैंटेसी को काट देती है, तराशती है, रंग उड़ा देती है, वरन् उसके साथ ही वे नया रंग चढ़ा देती है, नये भावों और प्रभावों से उसे संपन्न करती है, उसके अर्थ क्षेत्र का विस्तार कर देती है।[1]" अभिव्यक्ति प्रयत्न के दौरान, कवि को नये साक्षात्कार होने लगते हैं। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व फैंटेसी की अभिव्यक्ति पर केंद्रित रहता है और इसलिए उसके व्यक्तित्व का विस्तार होने लगता है। इस आत्म साक्षात्कार या व्यक्तित्व के विस्तार के फलस्वरूप वह कई नये भाव तत्वों का उद्घाटन कर सकता है। इसे मुक्तिबोध एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मानते हैं जिसके पीछे भाषा की अगाध अनवरत साधना-शक्ति है। क्योंकि भाषा फैंटेसी को काटती छाँटती है और इस प्रक्रिया के विपरीत फैंटेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध भी करती है। "कवि की यह फैंटेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसे नये अर्थ अनुषंग भर देती है, शब्द को नये चिह्न प्रदान करती है। इस प्रकार कवि भाषा का निर्माण करता है[2]।"

1· एक साहित्यिक की डायरी – पृ·27

2· वही – पृ·27

भाषा और भाव के बीच का यह द्वन्द्व तीसरे क्रम की सबसे बड़ी विशेषता है । इन दोनों की परस्पर प्रतिक्रिया और संघर्ष उनसे हुये होते हैं और वे उन दोनों को बदलते रहते हैं । इन दोनों में संशोधन होता जाता है । यह द्वन्द्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सृजनशील है । भाषा एक परंपरा के रूप में, फैंटेसी के मूल रंग को विस्तृत कर देती है, किंतु साथ ही उसे संशोधित भी कर देती है । फैंटेसी अपने मूल रंगों के निर्वाह के लिए, अपने मूल रंगों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा पर दबाव लाती है, उसके शब्दों और मुहावरों में नयी अर्थवत्ता नयी अर्थ-क्षमता नयी अभिव्यक्ति भर देती है ।

काव्य रचना प्रक्रिया के विस्तार से विवेचन करने वाले हिन्दी के पहले कवि मुक्तिबोध हैं । कवि-मन की मीन-मेष के द्वारा, उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा मुक्तिबोध ने युगों से अछूती उसकी इस निगूढ़ समस्या को साधारण पाठकों को अनुभव जन्य बना दिया है । उनके विचार इस दिशा में अद्वितीय बन पड़े हैं । मुक्तिबोध के विचार मौलिक तथा तर्कपूर्ण हैं ।

काव्य का स्वरूप

नये कवियों ने काव्य के स्वरूप को बदले हुए युग के अनुरूप नये रागात्मक संबंधों की तलाश में, व्यक्त किया है । मुक्तिबोध ने काव्य को एक सांस्कृतिक प्रक्रिया मानी है जो अहिंरतर के द्वन्द्व में विकसित होती रहती है । नयी कविता को वे द्वन्द्व जन्य मानते हैं । उनके मत में "आज की नयी कविता में तनाव का वातावरण है .... यह तनाव विविध रूपों में अथवा गहरे या हल्के ढंग से प्रकट होता है । आज जो हमारा व्यक्ति जीवन है - साधारण मध्यवर्गीय लोगों का व्यक्ति जीवन - उनके अच्छे या बुरे गुण या उनके कारणों की झांकी हमें उसमें प्राप्त होती है । मुख्य बात यह है कि आज का कवि अपनी बाह्य स्थिति-परिस्थितियों और अपनी मन-स्थितियों से न केवल परिचित है वरन् अपने भीतर वह उस तनाव का अनुभव करता है जो बाह्य पक्ष आत्म पक्ष के द्वन्द्व की उपज है ।"[1]

---

1. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - पृ०11-12

बाह्येतर के द्वन्द्व की उपज है काव्य । फिर भी वह व्यक्तित्व के विस्तार का कारण है : साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति है । मुक्तिबोध इसे ज्ञानात्मक संवेदना या संवेदनात्मक ज्ञान कहते हैं । इसी को इलियट ने संवेदनात्मक विचार [फेल्ट थॉट] कहा है । मुक्तिबोध के काव्य विचार अधिक संपुष्ट हैं ।

काव्य की आत्मा

मुक्तिबोध ने स्वतंत्र रूप में काव्य की आत्मा की चर्चा नहीं की है । उन्होंने नयी कविता में व्यक्तिवाद और बौद्धिक सतहीपन का विरोध करते हुए, आधुनिक भाव बोध के सम्बन्ध में लिखा है - "नयी कविता की आत्मा है आधुनिक भावबोध । आज का सुशिक्षित मनुष्य अपने परिवेश परिस्थितियों से जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएं करता है, वह संवेदनात्मक प्रतिक्रिया या सामान्यीकरण नयी कविता से प्रकट होता है ।"[1] व्यक्तित्वांतरण की इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध काव्यात्मा का दर्शन करते हैं । जीवन की वास्तविकताओं को पाठकों को आस्वादन योग्य बनाने में कवि की कुशलता निहित है । उनके द्वारा प्रतिपादित आधुनिक भावबोध में अन्याय के खिलाफ आवाज़ बुलंद करना, व्यक्ति स्वातंत्र्य का अनुभव करना आदि जुड़ा रहता है ।

काव्य-हेतु

काव्य रचना के कारणों की चर्चा मुक्तिबोध ने विस्तार से "तीसरा क्षण" लेख में की है । इसका विवेचन हमने सृजन प्रक्रिया के अंतर्गत किया है । अतः यहाँ दुहराना नहीं चाहते हैं । फिर भी इतना कह दें कि मुक्तिबोध के अनुसार जीवनानुभव ही इसका मूल कारण है ।

1· नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र - पृ·40

काव्य का प्रयोजन

मुक्तिबोध ने कवि को प्राप्त आत्मिक आनंद और तद्दारा अनुभावकों के आनंद को यों व्यक्त किया है "संवेदनात्मक उद्देश विद्युत की वह धारा है जो अंतर्व्यक्तित्व से प्रसूत होकर जीवन विधान करती है, कला विधान करती है, अभिव्यक्ति विधान करती है । आत्मपरितात्मक और सृजनशील ये संवेदनात्मक उद्देश हृदय में स्थित जीवन अनुभवों को संकलित कर उन्हें कल्पना के सहयोग से उद्दीप्त और मूर्तिमान करते हुए एक ओर प्रकाशित कर देते हैं । यह कला का प्रथम क्षण है या कहिए सौंदर्य प्रतीति का क्षण है । यह क्षण सामान्य जन को भी प्राप्त होता रहता है ।[1]" मुक्तिबोध ने यहाँ काव्य के उद्देश तथा उसके प्रयोजनों का संक्षिप्त विचार किया है ।

काव्य के तत्व

अनुभूति, कल्पना तथा बुद्धि को काव्य के तत्वों के रूप में मानते हुए मुक्तिबोध ने "तीसरा क्षण" शीर्षक लेख में इसके प्रतिपादन किया है । वे कहते हैं कि "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण ।[2]" दूसरे क्षण में यह अनुभव फैंटेसी का रूप धारण करता है जो कल्पना प्रसूत है । अंतिम या अभिव्यक्ति के तीसरे क्षण में भाषा और भाव के परस्पर द्वन्द्व के बीच बुद्धि तत्व इस फैंटेसी को काटते छांटते दोनों का संशोधन संपादन करता है । फिर भी रचना प्रक्रिया के भीतर सिर्फ भावना, कल्पना, बुद्धि और संवेदनात्मक उद्देश ही नहीं होते, बल्कि वह जीवनानुभव होता है, जो रचनाकार के अंतर्जगत का अंग है । यही मुख्य है । मुक्तिबोध के उपर्युक्त विचार मौलिक है ।

---

1. नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र - पृ॰94
2. एक साहित्यिक की डायरी - पृ॰18

काव्य के वर्ण्य विषय के संबंध में मुक्तिबोध को कोई आग्रह नहीं है। जो कवि के मन को आलोड़ित विलोड़ित कर सके है वह सब कविता का विषय बन सकता है।

काव्य-शिल्प के भीतर मुक्तिबोध ने भाषा, बिंब के संबंध में विस्तार से और छंद के संबंध में संक्षिप्त रूप से अपना मत व्यक्त किया है।

काव्य-भाषा

व्यष्टि सत्य को समष्टि व्यापक सत्य बनाने में प्रचलित अभिव्यक्ति की परिसीमाएं नये कवि को विवश कर देती हैं। इसलिए प्रयोगवादी नये कवि काव्य भाषा, बिंब और प्रतीक विधान के क्षेत्र में सतत प्रयोगशील दिखाई दे रहे हैं।

मुक्तिबोध के भाषा संबंधी विचार "रचना प्रक्रिया", तीसरा क्षण जैसे लेखों में विस्तार से प्रतिपादित मिलते हैं। उनके मन में भाषा एक सामाजिक सम्पदा है। फेंटेसी के अभिव्यक्ति प्रयत्न के दौरान भाषा और भाव के बीच जो द्वन्द्व है, कला का यह तीसरा क्षण अत्यंत महत्वपूर्ण और पूर्ण क्षण है। क्योंकि यहां से शब्द साधना शुरू होती है। शब्द के अपने ध्वनि अनुषंग होते हैं, जिनमें चित्र और ध्वनि दोनों शामिल है। कलाकार अपने हृदय के तत्व के रंग, रूप, आकार के अनुसार, अभिव्यक्ति का रंग रूप और आकार तैयार करना चाहता है। इसलिए उसे अपने हृदय की भाव ध्वनियों की, शब्दों की, अर्थ-ध्वनियों से अनवरत तुलना करनी पड़ती है। भाव ध्वनियों को उपलब्ध शब्द-ध्वनियों के कटघरे में फंसाने के प्रय.त्न में कवि अपने भाव तत्वों को बलिदान करते हैं। दूसरी ओर अभिव्यक्ति साधना के दौरान स्वयं अभिव्यक्ति फेंटेसी को सम्पन्न और परिपूर्ण करती है। फेंटेसी अपने को प्रकट करने केलिए समानार्थ वाचक शब्दों को लाती है।

भाषा एक जीवित परंपरा है । शब्दों में जो अर्थ-स्पंदन है वह फैंटेसी द्वारा उद्बुद्ध होकर नयी भाव धाराएं बहा देता है । कला के अंतिम क्षण में शब्द साधना के द्वारा फैंटेसी अधिक सम्पन्न और पूर्ण हो जाती है, बदले में फैंटेसी भाषा में नयी नयी भाव धाराएं बहा देती हैं । मुक्तिबोध लिखते हैं - "भाषा सामाजिक निधि है । शब्द के पीछे एक अर्थ परंपरा है । ये अर्थ जीवनानुभवों से जुड़े हुए हैं । .... कलाकार को शब्द साधना द्वारा नये नये अर्थ-स्पंदन मिलने लगते हैं । पुरानी फैंटेसी अब अधिक सम्पन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है । यह सार्वजनीनता, अभिव्यक्ति प्रयत्न के दौरान शब्दों के अर्थ स्पंदनों द्वारा पैदा होती है । अर्थ स्पंदनों के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की परंपरा होती है । इसलिए अर्थ परंपराएं न केवल मूल फैंटेसी को काट देती है, तराशती है, रंग उड़ा देती है, वरन् उसके साथ ही वे नया रंग चढ़ा देती है, नये भावों और प्रवाहों से उसे सम्पन्न करती है, उसके अर्थ क्षेत्र का विस्तार कर देती है ।"[1] भाषा का सार्थक प्रयोग फैंटेसी को समृद्ध कर देता है और स्वयं भाषा के अर्थक्षेत्र का विस्तार हो जाता है । इसलिए मुक्तिबोध लिखते हैं - "कवि भाषा का निर्माण करता है । जो कवि भाषा का निर्माण करता है, विकास करता है, वह निस्संदेह महान कवि है ।"[2] भाषा की सफाई और चमक के निर्वाह केलिए भावतत्वों की उपेक्षा मुक्तिबोध को अभीष्ट नहीं है । अर्थात् भावानुकूल अकृत्रिम भाषा पर वे बल देते हैं । नये कवि शब्दों में अधिक अर्थ भरा देना चाहता है । क्योंकि जो उसे अनुभूत है उसे उसकी सम्पूर्णता में पाठकों तक पहुंचाने में उपलब्ध भाषा शैली नाकाफी है । मुक्तिबोध के काव्य भाषा संबंधी विचार अपने जीवनानुभवों से जुड़े हैं, अर्थ परंपराओं से बिछुड़े नहीं है । उनके विचार संतुलित तथा मौलिक मालूम होते हैं ।

काव्य में बिंब, अलंकार और छंद के विषय में मुक्तिबोध का विचार संक्षिप्त एवं विरल है ।

---

1. एक साहित्यिक की डायरी - पृ.27

2. वही - पृ.27

व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत मुक्तिबोध ने शमशेर बहादुरसिंह तथा पंत जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का अच्छा अध्ययन किया है । 'शमशेर' मेरी दृष्टि में, 'सुमित्रानंदन पंत' एक विवेचना और 'कामायनी : एक पुनर्विचार आदि व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत आते हैं । शमशेर, पंत, प्रसाद जैसे कवियों को आलोच्य बनाने में शायद वे अपनी अवधारणाओं का ही अध्ययन कर रहे हैं । शमशेर के प्रति उनका आकर्षण शमशेर के शिल्प तथा काव्य व्यक्तित्व में निहित है, पंत का आकर्षण उनकी ऐतिहासिक अनुभूति में तथा कामायनी का आकर्षण ढहती हुई सामंतीय व्यवस्था तथा पूंजीवादी व्यक्तिवाद के विवेचन विश्लेषण में निहित है । आगे इस प्रकरण में हम मुक्तिबोध की व्यावहारिक आलोचना का विवेचन करेंगे ।

शमशेर बहादुर सिंह

"नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध" शीर्षक पुस्तक में संकलित "शमशेर" मेरी दृष्टि में" शमशेर जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विस्तृत तथा मौलिक विवेचन किया गया है ।

शमशेर पर विचार करते समय सबसे पहले मुक्तिबोध की दृष्टि शिल्प पर जाती है । शिल्प की विशेषता के कारण शमशेर को वे हिन्दी का अद्वितीय कवि मानते हैं । परन्तु शिल्प को वे कविता में चरम साध्य नहीं मानते हैं । शिल्प को वही कवि कुछ विकसित कर सकता है जिसके पास अपना कुछ मौलिक विशेष हो । अत: शमशेर उनकी राय में महान कवि है । वे कहते हैं कि "अपने स्वयं के शिल्प का विकास केवल वही कर सकता है, जिसके पास अपने निज का कोई मौलिक विशेष हो, जो यह चाहता हो कि उसकी अभिव्यक्ति उसी के मनस्तत्वों के आकार की, उन्हीं मनस्तत्वों के रंग की, उन्हीं के स्पर्श और गंध की हो ।

दूसरे शब्दों में अभिव्यक्ति केलिए आतुर हो उठनेवाला मौलिक विशेष आत्मचेतस भी होना चाहिए । यदि यह मौलिक विशेष आत्मचेतस न हुआ तो उसका तो यह आग्रह नहीं रहेगा कि उसके मनस्तत्वों की अभिव्यक्ति उसी के आकार और काट की हो । ऐसा कवि नये शिल्प का विकास नहीं कर सकेगा ।[1]" कहना न होगा कि यह मौलिक विशेष मुक्तिबोध की राय में, काव्य रचना प्रक्रिया में, कवि व्यक्तित्व से बहुत जुड़ा रहता है ।

मुक्तिबोध मौलिक विशेष के दो आयामों का उल्लेख करते हैं । मनोरचना और मनस्तत्व । पहले को वे आत्मा का भूगोल और दूसरे को उसका इतिहास कहते हैं । इस भूगोल और इतिहास से ही कवि व्यक्तित्व का निर्माण होती हैं । संभवत: भूगोल कहकर वे कवि-स्वभाव या उसकी प्राणिशास्त्रीय विशेषताओं का संकेत करते हैं तो इतिहास से उनका अभिप्राय है सामाजिक सांस्कृतिक परिदृश्य । इस परिदृष्ट को सचेत होकर आयत्त करने के बाद ही "मौलिक विशिष्ट" के लिए नये शिल्प की तलाश करनी पड़ती है । शमशेर में वे एक इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार को देखते हैं । उनके कवि व्यक्तित्व में चित्रकार हावी होता है । जहाँ वे पूरी तौर पर कवि और चित्रकार में दूरी स्थापित कर सके हैं वहाँ वे कमालियत हो उठते हैं । उनकी "शीत" कविता को उदाहरण स्वरूप उद्धृत किया गया है । शमशेर बाह्य दृश्यों के भीतर भाव प्रसंग उपस्थित करते हैं । भाव प्रसंग संवेदनाओं से सम्बद्ध होते हैं और संवेदनाएं जीवन प्रसंगों से यानी वास्तविकताओं से । जीवन के इन उलझे हुए वास्तविकताओं की अभिव्यक्ति केलिए नये शिल्प की तलाश करनी पड़ती है । शमशेर मुख्यत: प्रणय चित्रण के कवि ठहरते हैं । वे मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी और आत्मपरक कवि हैं । शमशेर के संबंध में किये गये विचार मुक्तिबोध के संबंध में भी सही ठहरते हैं । तत्वत: शमशेर के अध्ययन के द्वारा मुक्तिबोध ने अपना अध्ययन ही किया है ।

---

1. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - पृ.6।

सुमित्रानंदन पंत

मुक्तिबोध ने पंतजी की प्रशंसा की है । पंत जी की कविताओं में वे न शिल्प की विशेषता पाते हैं, न संवेदनात्मक चित्रण । बल्कि पंतजी की कविताओं में जो ऐतिहासिक अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई, उसके कारण मुक्तिबोध ने इनका सराहना किया है । मुक्तिबोध ने ऐतिहासिक अनुभूति की व्याख्या करने की कोशिश है । उनके आरंभिक प्रयासों में रोमांटिक भावुकता अधिक दिखाई देती है । "नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध" में उन्होंने इसकी व्याख्या यों की है - "ऐतिहासिक अनुभूति बदलते हुए जग के विकास क्रम तथा उसकी दिशा की अनुभूति है, जनता के पक्ष समर्थन की अनुभूति है । पुस्तकों के अध्ययन के कारण पंतजी में यह ऐतिहासिक अनुभूति उत्पन्न नहीं हुई है, वरन् इस ऐतिहासिक अनुभूति के कारण उन्होंने मार्क्सवाद के निकट रहना पसंद किया । उनकी ऐतिहासिक अनुभूति ही का विस्तार है जो विश्वघटनाओं के आकलन और मनन के फलस्वरूप और भी विशद हुई ।[1]" प्रस्तुत व्याख्या में मुक्तिबोध के मार्क्सवादी दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है । जनता के पक्ष समर्थन में की गई सहानुभूति का विस्तार ही उनकी राय में ऐतिहासिक अनुभूति है । पंतजी की इस सहानुभूति का सराहना करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि "पंतजी की सहानुभूति का जिस क्षेत्र में सहज विस्तार है, उस क्षेत्र में पाये जानेवाले विचारों को पंतजी चमकीले मूल्यवान् मणियों की भांति पकड़ कर लेते हैं । वे विचार उनके लिए कांतिमान रंग बिरंगे मनोहर मणि हैं, जिनमें से जीवन की नवोन्मेषमयी किरणें विकसित हो रही हैं[2] ।" पंतजी को वे गहन भाव हृदयों के चित्रकार नहीं मानते । प्रसादजी और पंतजी की तुलना करते हुए वे लिखते हैं - "प्रसादजी जिस अर्थ में अंतर्मुख कवि है उस अर्थ में पंत नहीं । पंतजी अंतर्मुख कवि नहीं हैं, अथवा उनकी अंतर्मुखता बहुत क्षीण है ।

---

1. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - पृ.72
2. वही - पृ.83

पंतजी अपने भावों को न केवल सरल रूप में रखते हैं वरन् उनकी मात्रा भी बहुत कम होती है और साथ ही उनका आवेग भी । पंतजी के काव्य में हमें संयम-असंयम दिखाई ही नहीं देता था, हाँ कहीं कहीं कल्पना का अतिरेकपूर्ण आवेग हमें अवश्य प्राप्त होता है । वे मात्र निवेदन करते हैं । उनका काव्य अधिकतर निवेदनात्मक है । सच तो यह है कि पंतजी गहन भाव दृश्यों के कवि नहीं है ।[1]"

जीवन की वास्तविकताओं का संवेदनात्मक चित्रण करने के कारण मुक्तिबोध पंतजी की प्रशंसा नहीं करते । उनके अनुसार प्रसाद और निराला की तुलना में उनका जीवनानुभव बहुत सीमित है । पंतजी प्रशंसनीय इसलिए होते हैंकि वे मार्क्सवादी विचारधारा के साथ है । इसी विचारधारा से सहानुभूति रखने के कारण मुक्तिबोध लिखते हैं - "एक पंतजी ही हैं जो अपनी विशुद्ध ऐतिहासिक अनुभूति के फलस्वरूप जनता के साथ हैं । आज जबकि नयी प्रयोगवादी कविता के कुछ क्षेत्रों में पूँजीवादी शब्द काव्याभिरुचि के बाहर समझा जाता है, पंतजी दृढ़ता, धैर्य और साहस के साथ नये मार्ग पर अपने कदम बढ़ा रहे हैं । वे भविष्य के स्वप्न दृष्टा है । इसलिए कि वस्तुतः पंतजी तरुण है, अपनी आयु के बावजूद ।[2]"

पंतजी के संबंध में, मुक्तिबोध का विश्लेषण सर्वांगीण और संतुलित नहीं कह सकते । उन्होंने प्रमुख रूप से पंतजी के मार्क्सवादी विचारधारा से प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा की है । इसलिए उनका विचार एकांगी होते हैं । इसी प्रकार डॉ॰ रामविलास शर्मा ने भी पंत जी के मार्क्सीय दृष्टि कोण की भूरी भूरी प्रशंसा की है ।

1• नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध - पृ.73
2• वही - पृ•73

कामायनी

"कामायनी" का विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से विवेचन किया है : जैसे सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से, काव्यशास्त्रीय दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टि से आदि । पर मुक्तिबोध ने इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विवेचित करके विवेचन के एक नये आयाम का उद्‌घाटन किया है । लेकिन मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी मापों का प्रयोग अपनी आविष्कृत पद्धति के भीतर से किया है । इसलिए अपनी असंगतियों और अंतर्विरोधों के बीच भी उनका विवेचन अत्यंत मौलिक बन पड़ा है ।

कामायनी को वे एक फैंटेसी मानते हैं । जिस प्रकार फैंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन समस्याओं का, इच्छित विश्वासों और जीवन स्थितियों का प्रक्षेप होता है उसी प्रकार "कामायनी" में भी हुआ है । उनका कहना है कि "प्रसादजी ने "कामायनी" में, एक विशाल फैंटेसी के अंतर्गत स्वानुभूत जीवन समस्या को एक परिवेश से संलग्न कर उपस्थित किया है, तथा उस जीवन समस्या का स्वचिंतित दार्शनिक निदान प्रस्तुत किया है । यह जीवन समस्या, फैंटेसी रूप में उपस्थित होकर, फैंटेसी के नियमों में बंधकर, अपने मूल वास्तविक जीवन संदर्भ को अर्थात् अपने मूल वास्तविक मानव संबंध क्षेत्र को जिससे कि वह आवयविक संबंध रखती है, धूमिल बना चुकी है, उस क्षेत्र को नेपथ्य में डालकर ही वह समस्या कल्पना चित्रों के रूप में उद्‌घाटित हुई है, और कल्पना के प्रगति नियमों में बंध गई है।[1]" यहाँ मुक्तिबोध के तीसरा क्षण में कहे गये विचारों की याद करना अच्छा है । फैंटेसी में कवि अपनी भावनाओं को विविध रूप में प्रस्तुत करते हैं । मुक्तिबोध के अनुसार कामायनी में पात्र, घटनाएं आदि लेखक की भावना के अधीन है । क्योंकि ये फैंटेसी के द्वारा अभिव्यक्त किये गये हैं । कामायनी की अपनी अध्ययन प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है - "प्रथमत: काव्य का आस्वादन और उस काव्य के अंत:सूत्रों की राह से कवि-व्यक्तित्व के आकलन की चेष्टा और उस व्यक्तित्व के माध्यम से उससे संबंधित समाज और विश्व का अध्ययन ।

---

1. कामायनी : एक पुनर्विचार - पृ.4

दुबारा फिर, समाज और विश्व और उसके प्रति प्रसाद की प्रतिक्रियाएँ और प्रसाद व्यक्तित्व की अंत:प्रवृत्ति के सूत्रों के मार्ग से, कलाकृति का अध्ययन।[1]" मुक्तिबोध का यह विचार अधिक संगत और पुष्ट मालूम होता है।

प्रसादजी के कवि व्यक्तित्व को समझने केलिए मुक्तिबोध मनु श्रद्धा और इडा को विश्लेषित करते हैं। मनु को वे मानव मन का प्रतीक मानने को तैयार नहीं हैं। उनके मनमें, मनु श्रद्धा और इडा प्रसाद प्रदत्त प्रतीकत्व का निर्वाह नहीं करते। वे कहीं अन्य वास्तविकताओं के प्रतीक हैं जिन पर लेखक का कोई, वश नहीं हैं। वे लिखते हैं - ये चरित्र "ऐसी वास्तविकताओं के प्रतीक है जिनकी पूरी वैज्ञानिक नियमानुभूति प्रसादजी के पास न थी[2]।" मनु को वे वेदकालीन मनु नहीं मानते और न मनन का प्रतीक स्वीकार करते हैं। मनु एक वर्ग चरित्र हैं। वह उसी वर्ग का है जिस वर्ग के प्रसादजी स्वयं हैं। "मनु एक टाइप है, उस वर्ग का टाइप जिसकी शासन-सत्ता तथा ऐश्वर्य छीन गया हो। उस वर्ग की समस्त प्रवृत्तियाँ मनु में है। अहंकार, विलासिता, आत्ममोह, निर्बन्ध उच्छृंखलता, व्यक्तिवादी साहस, व्यक्तिवादी निराशा, पाखंड और ऐसे आत्मग्रस्त, निबिड आत्मविश्लेषण, जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयों की ओर ले जाता है, मनु की विशेषता है। मनु पराजय का पुत्र है, जो अपनी पराजय को पलायन से ढंकता है, तथा जबरदस्ती लाये गये सामरस्य से छुपाता है। वस्तुत: मनु की प्रकृति ठीक उस पूँजीवादी व्यक्तिवाद की प्रकृति हैजिसने कभी जनतंत्रात्मकता का व्रत पालना भी नहीं किया, केवल अपने मानसिक खेद अंतर्विग्रह और निराशा से छुटकारा पाने तथा स्वस्थ शांत अनुभव करने केलिए, श्रद्धा और इडा के समान अच्छे साथियों का सहारा लिया, जो उसके सौभाग्य से उसे प्राप्त भी हुई[3]।" मनु एक कमज़ोर पात्र है। वह श्रद्धा का परित्याग करता है। इडा को अपनी इच्छाओं के विरुद्ध अपने बाहुपाश में आबद्ध करना चाहता है और अंततोगत्वा प्रजा से युद्ध करता है।

---

1. कामायनी : एक पुनर्विचार - पृ.12,13
2. वही - पृ.20
3. वही - पृ.21

इन सारे अपराधों के बावजूद श्रद्धा उसे क्षमा कर देती है। इडा को मनु पर क्रोध आता है। उसके मन में प्रतिशोध और क्षमा दोनों भाव एक साथ आते हैं। प्रसाद ने इस द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने के बजाय उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की है। साथ ही वायवीय दार्शनिक विचारों को ऊपर से मढ़का दिया है। जीवन और जगत के संघर्षों से जूझने की क्षमता मनु में नहीं है।

प्रसादजी के सामरस सिद्धांत या आनंदवाद उन्हें पलायन की प्रवृत्ति सक्रिय होती है। मुक्तिबोध प्रसाद के दर्शन को उदार, पूंजीवादी, व्यक्तिवादी दर्शन कहते हैं। उनके मत में, मनु प्रसाद जी के व्यक्तित्व की गहन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। यदि ऐसा न होता तो मनु के चरित्रांकन में वे अधिक कठोर होते। प्रसाद जी की गहन आत्मपरकता के कारण "कामायनी" चरित्र काव्य न होकर मनोवैज्ञानिक छायावादी महाकाव्य बन पड़ा।

मुक्तिबोध श्रद्धा के चरित्र में वह आदर्श शक्ति पाते हैं जो मनु और इडा को आनंदलोक में ले जाती है। श्रद्धा आदर्शवादी है। श्रद्धा के कथनों में गांधीवाद, रवीन्द्रिक भावधारा, प्रथम महायुद्ध के बाद की घटनाओं का प्रभाव देखते हैं। श्रद्धा के चरित्र में भावपरक आवेगपूर्ण उद्‌गार है, वह मौखिक है। इसलिए प्रसाद के अनुसार श्रद्धा में सभी गुण है, यदि नहीं हैं तो कर्म और बुद्धि का। श्रद्धा की क्षमाशीलता में मुक्तिबोध पूंजीवादी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति की आपत्ति उठाते हैं जो सामरस्यता के द्वारा पलायन को दृढ कर देती है।

इडा को वे बुद्धि का प्रतीक न मानकर पूंजीवादी समाज के मूल विचारधारा का प्रतीक मानते हैं। वह बुद्धि प्रधान भी होता है। मुक्तिबोध इडा के व्यक्तित्व को बहिर्मुख, सकर्मक और समर्पित मानते हैं। इडा का व्यक्तित्व गत्यात्मक है। इडा अपने सीमित जीवन में गतिशील है और दूसरों को गति देने में सक्षम है।

मनु के आत्मविस्तार में वह सहायक होती है । श्रद्धा मनु के आत्मविस्तार की बात करती है । किंतु इड़ा उसे कार्योन्मुख करती है । मनु, श्रद्धा और इड़ा के व्यक्तित्व में सबसे सबल और कर्मठ व्यक्तित्व इड़ा का है ।

"कामायनी" के विवेचन में मुक्तिबोध की मौलिकता सराहनीय है । किंतु इसमें एकांगीपन मौजूद है । ऐतिहासिक काव्य न मान कर मनोवैज्ञानिक छायावादी काव्य मानना उसकी प्रतीकात्मकता को अस्वीकार करना है । उसके दार्शनिक पक्ष का खंडन करते हुए मुक्तिबोध ने अपनी निजी मौलिक दृष्टिकोण विवेचन किया है । फिर मुक्तिबोध ने "कामायनी" के वस्तु पक्ष का विवेचन अवश्य किया है, कला पक्ष की उपेक्षा की है । आलोचक केलिए आवश्यक है कि काव्य के भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों की परख । इसलिए उनका दृष्टिकोण सर्वांगीण न होकर एकांगी मालूम होता है । लेकिन परंपरागत तरीकों से भिन्न होकर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कामायनी का विवेचन करने का एक ताजा और नया ढंग अपनाया गया है । कामायनी की परंपरागत विवेचनों में जो एकरसता थी मुक्तिबोध ने उसे तोड़ दी ।

निष्कर्ष

मुक्तिबोध की काव्यालोचना के विवेचन के बाद हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने मौलिक तथा नयी उद्‌भावनाओं से हिन्दी आलोचना साहित्य को समृद्ध कर दिया है । रचना प्रक्रिया के निगूढ़ तथा जटिल समस्याओं को अपने सुचिंतित एवं प्रौढ़ विचारों से अनुवाचकों को अनुभवगम्य बनाने का प्रयास बेजोड़ बन गया है । हिन्दी में पहले पहल कवि मन के व्यापारों को प्रस्फुटित करने का श्रेय मुक्तिबोध को है और इसलिए उनका मत नवीन है । टी॰एस॰ इलियट के मत से समानता दिखाई पड़ती है । किंतु उसका अनुकरण नहीं है । काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्व, काव्य की आत्मा जैसे सैद्धांतिक विचारों में भी उनकी नवीनता अत्यंत आकर्षक है । जीवन के उत्कट तीव्र अनुभव क्षण की अभिव्यक्ति में कवि वास्तविक अधिक है । संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना की परिकल्पना उनकी मर्मज्ञता का परिचायक है ।

भाषा एक सामाजिक सम्पदा है । इस कथन में नवीनता तो कम है किंतु सर्वांगीण दृष्टिकोण तथा पक्व चिंता ध्यान देने योग्य है ।

शमशेर और पंत के कृतित्व और व्यक्तित्व का अध्ययन इन कवियों की कुछ अनदेखी विशेषताओं को बाहर लाने में बहुत सफल हुआ है । मुक्तिबोध शमशेर को शिल्प की विशेषता के कारण अतुलनीय कवि मानते हैं तो पंत को उनकी "ऐतिहासिक अनुभूति" के कारण । "कामायनी" की एक नये दृष्टिकोण से विवेचन करते हुए परंपरागत विवेचनों की एकरसता को तोड़ा गया है । मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उसकी जाँच करने के कारण यद्यपि उसमें एकांगिता है तो भी "कामायनी" की प्रचलित विवेचन पद्धति से विचलित होकर उसके भाव पक्ष के वैज्ञानिक और युक्तियुक्त अध्ययन किया गया है । निस्संदेह आलोचक के रूप में मुक्तिबोध की उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण हैं ।

....

3. गिरिजाकुमार माथुर

गिरिजाकुमार माथुर की काव्ययात्रा उत्तर छायावादी संस्कारों से शुरू होकर "प्रतिबद्ध सामाजिकता और प्रयोगशीलता के दौर से गुजरती हुई नयी कविता की जीवंतता और सामर्थ्य से जुड़कर अपना वैशिष्ट्य निरूपित करती है। वे नयी कविता के उन समर्थ कवियों में से हैं जो निरंतर नयी जमीन की तलाश करते हुए रंग रस और रोमान से उभरकर अन्तर्राष्ट्रीयता और गहरी मानवीयता से जुड़कर चले आये हैं। उनकी रचनाएं छायावाद की अमूर्त वायवी, प्रेम और सौंदर्य चेतना से ऊपर उठकर उत्तर छायावादी काव्य की मांसल और मूर्त अभिव्यक्ति से सरोकार रखती हैं इसलिए उन्हें डॉ. कांतिकुमार ने छायावाद के "उत्तरी सीमांत का कवि"[1] कहा है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं में प्रणय और प्रकृति संबंधी कविताओं की प्रधानता है किंतु उनमें पर्याप्त विविधता है। आगे उनका "अभिनव स्वच्छंदतावादी कवि" व्यक्तित्व स्वस्थ सामाजिक जीवन के नव निर्माण की आस्था से संयुक्त दिखाई देता है। वे महानगरीय जीवन की व्यस्तता, यांत्रिकता, असंतोष, नैराश्य और घुटन से परिचय होते हुए मध्यवर्गीय जीवन की विषमताओं को अपना विषय बना लेते हैं।

माथुर ने विषय से अधिक टेकनिक पर ध्यान दिया है अतः उनका ध्यान रंगों, ध्वनियों और नये प्रयोगों की ओर अधिक रहा है। भाषा, छंद, बिम्ब और ध्वनिविधान की नवीनता उनकी रचनाओं को विशेष बनाती हैं। इस संबंध में आचार्य वाजपेयीजी ने कहा है - "इंग्लैंड में शैली और कीट्स के पश्चात् जिस प्रकार स्विनबर्न और रोजेटी आदि कवियों ने भाव की अपेक्षा काव्य कौशल के क्षेत्र में अधिक बारीक काम किया, भाषा में अधिक मार्दव लाये, प्रायः उसी का कार्य गिरिजाकुमार माथुर का कहा जा सकता है[2]।" वैज्ञानिक आविष्कारों और संभावनाओं से परिचित माथुर इसी पृष्ठभूमि में मनुष्य की असलियत की तलाश करतेहैं

---

1. नयी कविता - डॉ. कांतिकुमार - पृ.55
2. नयी कविता - नन्द दुलारे वाजपेयी - पृ.52

वे समय के साथ देनेवाले कवि हैं और आलोचकों ने उन्हें आधुनिक युग के बाद मुक्त कवि कहा है । नयी कविता के अग्रणी कवि मानते हुए डॉ॰ नगेंद्र उनके बारे में कहते हैं कि "गिरिजाकुमार नये कवियों में अग्रणी है, इसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता - नयी कविता में जो स्थाई काव्य तत्व हैं उसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता । ऐतिहासिकता तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से उनका स्थान अज्ञेय के समकक्ष है[1] ।"

"तार सप्तक" "धूप के धान", "शिला पंख चमकीले" कृतियों में जो वक्तव्य और भूमिकाएं दी गई हैं, उनके आधार पर माथुर की काव्य कला विषयक मान्यताएं और धारणाएं उजागर होती हैं । इन सूत्रों को नयी कविता की समस्याएं और समाधान दिशाएं कहा जा सकती है । कवि संवेदन के सीमित और वर्गीकृत आधारों के स्थान पर सर्वथा अंतरंग और आत्मानुभूत प्रतिक्रियाओं को अधिक मूल्यवान मानते हुए उनके कलात्मक विकासपर अधिक ज़ोर देते हैं । मनुष्य को केंद्र में रखकर समाज के व्यापक संदर्भों की भूमिका में मानवीयता, सामाजिक न्याय और भविष्य की आस्था की तलाश करने केलिए वे कला का इस्तेमाल करते हैं । माथुर अनुभूति की प्रामाणिकता और बौद्धिक साक्षात्कार को कवि-कर्म केलिए ज़रूरी मानते हैं । उनका कहना है कि "स्वयं परीक्षित अनुभव बौद्धिक ईमानदारी का आधार कवि को है, होना चाहिए, यह कवि कर्म केलिए अनिवार्य तत्व है । यदि लेखक किन्हीं साहित्येतर दबावों में आकर स्वानुभव साक्ष्य विहीन सत्य को स्वीकार करता है तो वह कविता नहीं, एक गैर ईमानदार 'पद्य वस्तु' की रचना ही करेगा । काव्य के लिए यही सबसे बड़ा और अभिव्यक्ति निकष मैं ने माना है[2] ।" कवि माथुर ने अपने वक्तव्यों और भूमिकाओं के ज़रिए अपनी भावयित्री प्रतिभा का उन्मेष दिखाया है । आगे हम उनकी आलोचना का अध्ययन करके देखेंगे कि उनका महत्व क्या है ?

1· आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ - डॉ॰ नगेंद्र - पृ॰140

2· तारसप्तक - द्वि॰सं॰ - पृ॰191

सैद्धांतिक आलोचना

काव्य का स्वरूप

गिरिजाकुमार माथुर ने "शिल्प: नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक" शीर्षक लेख में काव्यगत भावों को अनुभूत सहज और सर्वग्राह्य रखने पर बल दिया है। उनका कहना है कि "हम नहीं समझते कि दुरूहता ही श्रेष्ठता की कसौटी है और जो श्रेष्ठ साहित्य है वह दुरूह भी होता है। .... श्रेष्ठ साहित्य का लक्षण ही यह है कि वह अत्यंत जटिल अनुभवों को अत्यंत सहज और सर्वग्राह्य रूप में व्यक्त करता है, जटिलताओं को पचाकर उसमें से सार्वजनीन सत्य का अलग डोरा निकाल लाता है[1]।" जीवन की जटिल अनुभूतियों को सहज और स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त करके कवि सुलभ आनंद पाठक को भी देना श्रेष्ठ काव्य का कार्य है। आत्मानुभूत सत्य को समष्टिपरक बनाने की प्रक्रिया में काव्य का योगदान महत्वपूर्ण है। इसे लक्ष्मीकांत वर्मा ने यों व्यक्त किया है – "कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति है[2]।"

काव्य की आत्मा

माथुर जी ने काव्य की आत्मा का स्वतंत्र विवेचन नहीं किया है। माथुर ने काव्य में विषय से अधिक टेक्नीक पर ध्यान दिया है। अत: उनका ध्यान रंगों ध्वनियों और नये प्रयोगों की ओर अधिक रहा है। भाषा की मधुरता और सुकुमारता उजागर करने में ध्वनियों का महत्वपूर्ण स्थान है – "ध्वनि विधान में मेरे प्रयोग मुख्यत: स्वर ध्वनियों के हैं। व्यंजन ध्वनियों से उत्पादित संगीत को मैं कविता में संगीत नहीं मानता। प्रत्युत: रीतिकालीन रूढ़ि समझता हूँ। शब्द की आत्मा स्वर ध्वनि है। इसी कारण उस पर

---

1. आलोचना, जनवरी 1956 – पृ.138
2. नयी कविता के प्रतिमान – डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा – पृ.194

अलक्षित संगीत आंतरिक, गंभीर और स्थाई है[1]।" यहाँ माथुर ने स्वर ध्वनियों की संगीतात्मकता का उल्लेख करते हुए उसकी प्रभावात्मकता तथा काव्यात्मा का होना व्यक्त किया है।

काव्य का प्रयोजन

काव्य प्रयोजन के विषय में माथुर बड़े सतर्क हैं। "प्रयोगशील कविता का भविष्य" लेख में उन्होंने कहा है - "जीवन के समस्त कल्याणकारी तत्वों और नैतिक मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव सामाजिक अराजकता का लक्षण है जिसे प्रयत्नपूर्वक दूर किया जाना चाहिए। यदि जीवन के मंगलमय भविष्य में हम विश्वास करते हैं तो आज के कवि को भविष्य काव्य का निर्माण करना होगा और आगम पर नज़र जमाना होगा[2]।" लोक मंगल की भावना और समाज सुधार की भावना कविता में होना चाहिए। वह आशावादी हैं।

काव्य के वर्ण्य

माथुर जी के अनुसार काव्य के लिए कोई विषय वर्ज्य नहीं है। जीवन छोटी सी घटनाओं से लेकर साधारण सी साधारण ~~घटनाओं से लेकर असाधारण~~ घटनाएं काव्य की गरिमा बढ़ाती हैं। किंतु इसके प्रतिपादन की प्रौढ़ता भी वांछ्य नहीं है। उनका कहना है - "काव्य साहित्य की सीमाओं का इन नवीन प्रयत्नों से बड़ा प्रसार हुआ है, उसके द्वारा नयी दिशाएं खुली हैं। जीवन का छोटे से छोटा पक्ष, साधारण से साधारण विषय अब काव्य की गरिमा के अयोग्य नहीं रहा[3]।" प्रयोगवादी नये कवि जीवन के समस्त विषयों को अपनी लेखनी से रंग डालते हैं।

---

1. तारसप्तक - पृ.41
2. अवंतिका, जनवरी 1954 - पृ.250
3. धूप के धान, भूमिका - पृ. 13

काव्य के शिल्प

प्रयोगवादी कविता में विषय से अधिक टेक्नीक पर बल दिया गया है। किंतु प्रयोग साध्य नहीं साधन मात्र है। तत्संबंधी माथुर का विचार ध्यान देने योग्य है - "कविता में विषय से अधिक टेक्नीक पर ध्यान दिया है। विषय की मौलिकता का पक्षपाती होते हुए भी मेरा विश्वास है कि टेक्नीक के अभाव में कविता अधूरी रह जाती है।[1]" यहाँ उन्होंने कथ्य की अपेक्षा शिल्प पर अधिक बल देना काव्य के नये मूल्यों की सम्प्रेषणीयता में उपयोगी माना है। किंतु कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि कथ्य की उपेक्षा की जाये।

काव्य-भाषा

सम्प्रेषण की समस्या प्रयोगवादी कवियों को अधिक विवश करती है। जो उन्हें अनुभूत है उसे उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने में कवि प्रचलित भाषा को असमर्थ समझते हैं, नयी भाषा की गठन अनिवार्य मालूम पड़ता है। इस महाप्रयास में, नयी कविता के भीतर जो दुरूहता, मौलिकता तथा कथन भंगिमा की विलक्षणता दिखाई देती है, उन्हें अपरिहार्य मानते हुए माथुर ने लिखा है - "जब कवि के विचार जगत् में एक गंभीर उलझाव और अस्थिरता होता है तो उसकी अभिव्यंजना के जो उपकरण है अर्थात् भाषा, प्रतीक, उपमान और छंद अपने आप अस्वाभाविक अधूरे खंडित और रूप व्यक्तित्वहीन होंगे। भाषा जान बूझकर किताबी या गढ़ी हुई होगी जिसका व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बंध न होगा, चेष्टापूर्ण लाये हुए निरर्थ बोध शून्य प्रतीक होंगे, उपमानों में कोई तारतम्य नहीं होगा और छंद के नाम पर भ्रष्ट गद्य ही मिलेगा।[2]" उपर्युक्त उद्धरण में माथुर जी ने नयी कविता की शिल्पगत सभी विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

---

1. तार सप्तक - पृ.40
2. धूप के धान - पृ.11-12

प्रयोगवादी कवियों में भाषा के अंतर्गत सबसे अधिक प्रयोग माथुर ने किया है काव्य के वातावरण के अनुकूल भाव तीव्रता केलिए नयी ध्वनियों की उद्भावना उनकी मौलिक देन है । इसमें उन्हें पूरी सफलता मिली है । इसके सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि रोमानी कविताओं में मैं ने छोटी और मीठी ध्वनिवाले बोलचाल के शब्द प्रयुक्त किये हैं । क्लासिकल कविताओं में आर्य गुण लाने केलिए बडी लंबी और गंभीर ध्वनिवाले शब्द रखे हैं । अभिव्यंजनात्मक शब्द विन्यास वातावरण के रूप भाव के अनुकूल नये बनाये हैं - जैसे पतला मन, सिमटी किरन, आदिम छाहिँ, झुकते स्वर आदि । .... कहीं कहीं नये शब्द वातावरण का ध्वनि भाव लेकर बनाये हैं, जैसे सुनसान, खंडेर आदि ।[1]"

माथुर जी काव्य भाषा के प्रति अधिक सतर्क दिखाई देते हैं । रोमानी और क्लासिकल कविता की भंगिमा उसमें प्रयुक्त ध्वनियों पर केंद्रित है । यह विचार संगीत तत्व के अधिक निकट है । वातावरण के रूप-भाव अथवा ध्वनि विन्यास पर शब्द विन्यास में मौलिकता है । काव्य भाषा की समृद्धि केलिए प्रतीक विधान और बोलचाल की भाषा पर बल दिया गया है - "[नयी कविता ने] दैनिक जीवन की सैकडों छोटी छोटी घटनाओं के वातावरण और प्रतीकों से काव्य शिल्प को समृद्धशाली किया है । जीवन व्यवहार की भाषा अपनाकर काव्य की भाषा को ताज़गी और नवीन शक्ति प्रदान की है[2] ।" वातावरण निर्माण में व्यंजन ध्वनियों की अपेक्षा स्वर ध्वनियाँ सक्षम है । उनका कहना है कि "शब्द की आत्मा स्वर ध्वनि है, इसी कारण उस पर अवलम्बित संगीत आंतरिक स्थाई और गंभीर है । यह आकाश तत्व का संगीत है । वातावरण निर्माण में मैं ने इसी की सबसे अधिक सहायता ली है[3] ।"

---

1. तार सप्तक - पृ.40
2. धूप के धान - पृ.13
3. तार सप्तक - पृ.126

माथुर जी की भाषा संबंधी नयी उद्भावनाएं उन्हें भाषा के मर्मज्ञ बना दी है । उनका यह सजग और तर्कयुक्त भाषागत प्रयोग नये कवियों में माथुर का स्थान अद्वितीय बना देता है ।

बिंब

नये कवि ने अप्रत्याशित और अपरिचित बिंब विधान के द्वारा नयी कविता में एक क्रांति मचा दी । पुराने परिचित उपमानों में बदले गये भौतिक जगत के अतिसूक्ष्म अमूर्त भावों की अभिव्यक्ति असंभव देखकर कवि नये प्रतिमान जुटाने लगे । माथुर कहते हैं - "वह अपने माध्यमों में तेज़ी से उद्‌दोबदल करने लगा । छंद और उपमानों को उलट पुलट कर नयी ज़मीन खोदने लगा, अपने गहरे और सूक्ष्म मनोवेगों की अभिव्यंजना के लिए अपरिचित प्रतीक जुटाने लगा । अमूर्त का मूर्त से चित्रण करने लगा । ...... मध्ये उसने और एक परिचित दायरे में घूमनेवाले प्रतीक उपमानों के स्थान पर वस्तु जगत के समस्त क्रिया कलापों को उसने अपनी वर्तमान उंगलियों से छूकर उन्हें ग्रहण किया है । मानसिक जगत की अनेक सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं के पर्दे उठाये हैं[1] ।"

ताजे और सशक्त उपमानों के प्रयोग की सलक्ती इच्छा यहाँ माथुर ने प्रकट की है ।

छंद
--

गिरिजाकुमार माथुर ने मुक्त छंद के प्रति विशेष आग्रह रखा है । वे कहते हैं - कविता मुक्त छंद ही पसंद करता हूँ । मुक्त छंद में अधिकतर मैं ने विरामांत पंक्तियाँ नहीं रखी । धारावाहिक ही रखी है । आगत पंक्ति के आरंभ में

---

1. धूप के धान - पृ.7, 13

विगत पंक्ति की ध्वनि सम संगीत उत्पन्न करने केलिए वर्तमान रहने दी है। क्योंकि बिना इसके ध्वनि सामंजस्य उत्पन्न नहीं हो पाता। इसी कारण मैं मुक्त छंद में संगीत प्रधान गीत संभव कर सका हूँ जिन्हें गाते समय तुक की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती।"[1]

माथुर जी के विचार, निराला, बच्चन आदि के विचारों से भिन्न हैं। मुक्त छंद में यति, ध्वनि-सामंजस्य और तुक की स्थिति का उल्लेख करते हुए उन्होंने नवीन आयामों को उद्घाटित किया है। प्रत्येक पंक्ति में पूर्ण विराम अनिवार्य नहीं है। लय और ध्वनिसामंजस्य काव्य पंक्तियों के पारस्परिक आत्मसंगठन में सहयोग देते हैं। मुक्त छंद के स्वरूप का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि "मुक्त छंद का मैं ने सम्पूर्ण विधान रचा है। मुक्त छंद को दो भागों में विभक्त किया है, वर्णिक और मात्रिक तथा उनके रूपांतर। एक कविता में एक ही प्रकार का मुक्त छंद प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हूँ। यह विचार मौलिक एवं वैज्ञानिक है। क्योंकि एक ही कविता में अनेक छंदों का प्रयोग गतिरोध (लय भंग) हो सकता है। कविता में लय की अनिवार्यता असंदिग्ध है। वे कहते हैं "कविता का गुण लय है और मात्र गति गद्य का। जब तक कविता में लय न हो उसे गद्य से पृथक करना कठिन है।"[2] कविता में प्रवाह छंद की लयात्मकता के कारण होता है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का कहना हैकि "छंद के भीतर की गति ही उसे प्रसादक और मोहक बनाती है।"[3] लय की अखण्डता मुक्त छंद का प्राण है। माथुर लिखते हैं - विकसित लय पट ही छंद है, पर मात्र लय पट से भी काम चल सकता है अथवा वह एक नये छंद का निर्माण बिंदु बन सकता है। माथुर जी को स्पष्टतः मालूम है कि लय की लालिमा कविता की लालिमा है। अतः लय की अखण्डता पर वे अधिक ध्यान देते हैं। प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है कि मुक्त छंद का, बारीकियों से अध्ययन करके उसकी महत्ता को उद्घाटित की गई है।

---

1. तार सप्तक - पृ.41
2. आलोचना, जनवरी 1956 - पृ.132
3. साहित्य का मर्म - पृ.17

निष्कर्ष

गिरिजाकुमार माथुर की काव्यालोचना मुख्यतः काव्य के शिल्प और टेक्नीक पर केंद्रित रही है । नयी कविता के प्रतिपादक प्रमुख कवियों में माथुर जी इसी कारण सबसे विशिष्ट मालूम होते हैं । उनके इस प्रयास की प्रशंसा करते हुए वाजपेयजी ने कहा है - "इंग्लैंड में शेली और कीट्स के पश्चात् जिस प्रकार स्विनबर्न और रोजेटी आदि कवियों ने भाव की अपेक्षा काव्य कौशल के क्षेत्र में अधिक बारीक काम किया, भाषा में अधिक मार्दव लाये, प्रायः उसी का कार्य गिरिजाकुमार माथुर का कहा जा सकता है[1] ।"

काव्य शिल्प के अंतर्गत भाषा, बिंब और छंद के प्रतिपादन में उनकी मौलिकता दर्शनीय है । काव्य की आत्मा उसकी आंतरिक लय है । यह लय व्यंजन ध्वनि की अपेक्षा स्वर ध्वनि पर अधिक निर्भर रहती है । स्वर-ध्वनि का प्रयोग विशेष रूप काव्य की प्रवाहमयता और संगीतात्मकता को पुष्ट करती है । मुक्त छंद का प्रतिपादन इनके पूर्व हिन्दी के कवियों ने किया है, किंतु इसमें स्वर-ध्वनि के योग से जो आंतरिक क्षमता उत्पन्न करती है, इस पर इन्होंने ज़ोर दिया है । प्रतीक और बिंब विधान की नवीनता अन्य कवियों से उनकी महत्ता उद्घाटित करती है ।

सचमुच माथुर जी की काव्यालोचना गंभीर तथा प्रौढ आधार पर अवस्थित है ।

---

1. नयी कविता - नंददुलारे वाजपेयी - पृ.52

4. धर्मवीर भारती की काव्यालोचना

धर्मवीर भारती नयी कविता के प्रमुख कवियों में हैं। सृजनशील आस्था तथा गहन अनुभूति से सम्पन्न भारती काव्य में किसी विषय को निषिद्ध नहीं मानता। जीवन और अनुभूति की आंतरिक लय से युक्त भारती की रचनाओं में वास्तविक जीवन की धड़कन मुखर उठती है। बदलती जीवन परिस्थितियों के अनुरूप काव्य की अभिव्यंजना शैली में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। इसलिए भारती परंपरागत शैलियों को नकारते हैं और नये संवेदन की क्षमताओं की खोज करते हैं। भारती की प्रारंभिक रचनाओं में उन्मुक्त रूपोपासना और उद्दाम यौवन के मांसल गीत उपलब्ध होते हैं। इसका कारण यह है कि भारती का कवि व्यक्तित्व असाधारणता का जामा" नहीं ओढ़ता। भारती कविता के प्रति पूरी तरह समर्पित हैं याने सांसों की तरह स्वाभाविक समर्पण। भारती का कहना है कि कविता के से माध्यम से ही भारती आज की बेहद पिसती हुई संघर्षपूर्ण, कटु और कीचड़ में बिलबिलाती हुई ज़िंदगी के भी सुंदरतम अर्थ खोज पाने में समर्थ रहे हैं। कविता ने उन्हें आध्यात्मिक पीड़ा के क्षणों में विश्वास और दृढ़ता दी है। कविता भारती के लिए शांति की छाया और विश्वास की आवाज़ रही है।[1]" ज़िंदगी के संघर्षों को झेलता हुआ, उसके दुख दर्द में एक गंभीर अर्थ ढूंढता हुआ और उस अर्थ के सहारे अपने को जनव्यापी सच्चाई के प्रति अर्पित करने का प्रयास कवि भारती में मौजूद है। भारती के काव्य में आंतरिक संघर्ष का एक दूसरा सोपान भी उपलब्ध होता है। जनवादी भूमिका निभाता हुआ व्यापक मानवतावादी चेतना का परिचय देनेवाले कवि भी भारती में है। इसी तरह रोमानी मांसलता से लेकर आत्मसंघर्ष की दुख दर्द भरी पगडंडियों से गुज़रते हुए भारती के कवि व्यक्तित्व मानवीय मूल्यों की तलाश करते हुए दिखाई देता है। यों ही उनका वैचारिक स्तर और चिंतन सही रूप में नयी कविता का प्रतिनिधित्व करने लगता है। कवि कर्म के प्रति भारती अतीव जागरूक है। "ठंडा लोहा", "सात गीत वर्ष", "कनुप्रिया", "अंधायुग" आदि उनकी प्रमुख रचनाएं हैं और नयी कविता की श्रेष्ठ उपलब्धियां।

---

1. दूसरा सप्तक - पृ. 165

भारती के आलोचक रूप उनके वक्तव्यों और काव्य भूमिकाओं में उजागर आता है । "दूसरा सप्तक" के वक्तव्य में उनकी काव्य मान्यताएं विशेष रूप से प्रकाश में आयी हैं । कवि कर्म तथा काव्यांगों के प्रति उनके विचार इनमें उपलब्ध होते हैं । "ठंडा लोहा", "सात गीत वर्ष" की भूमिकाएं इस दिशा में बेजोड़ हैं । "मानव मूल्य और साहित्य" उनके आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है जो आलोचना क्षेत्र में एक नयी देन है । इसमें उन्होंने विघटनकारी मानव मूल्यों की जाँच और नये मूल्यों की आवश्यकता की स्थापना विविध संदर्भों में की है । सचमुच भारती एक अच्छे कवि हैं साथ ही एक विचारवान प्रबुद्ध आलोचक भी हैं । आगे हम भारती की काव्यालोचना की परख करके देखेंगे कि उनका यह प्रयास काव्य विवेचन की दिशा में कितना सफल हुआ है ।

काव्य की आत्मा

प्रयोगवादी कवियों ने काव्य वस्तु और शैली को नवीन प्रयोगों से अनुप्राणित रखने के प्रति विशेष आग्रह प्रकट किया है, अतः काव्य की आत्मा के विषय में उनके विचार परंपरा से भिन्न है । नये कवि प्रयोग धर्मी है । उनकी कविताओं में शिल्पगत का चमत्कार देखने लायक है । डॉ॰ धर्मवीर भारती अभिव्यंजना के तरीकों पर बल देते हुए कहते हैं कि "जब कवि जीवन का आस्वादन करता है तो उसे ऐसे कितने ही स्पंदन संवेदन मिल जाते हैं, जिनके लिए उसे एक नयी अभिव्यंजना की खोज करनी पड़ती है[1] ।" प्रयोगवादी कवि नये तथ्यों को नये रागात्मक संबंध में प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं । इसलिए उनका यह प्रयोग अभिव्यक्ति पक्ष को लेकर अधिक हुआ है । व्यक्ति की अनुभूत सत्य को समष्टि व्यापक बनाने के प्रयास में कवि अर्थ अभिव्यक्ति और लय के नवीन रूपों की खोज करते हैं । उन्हें प्रतिष्ठित करना चाहते हैं । भारती ने प्रस्तुत कथन से यह व्यक्त किया है कि जीवन के आस्वादन करनेवाले कवि उसे काव्य में उतारते समय नयी अभिव्यंजना के तरीकों को अपनाते हैं । काव्य के आंतरिक गुणों में अभिव्यंजना कौशल प्रमुख स्थान रखता है । यह विचार ध्यान देने योग्य है ।

---

1. दूसरा सप्तक - पृ॰178-179

काव्य-हेतु

प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य रचना की प्रेरणा के रूप में मान्य है । डॉ॰ धर्मवीर भारती ने प्रतिभा या अंत प्रेरणा को उनमें मुख्य मानते हुए कहा है कि "जब तक कलाकार में अंत प्रेरणा नहीं जागती तब तक वह सजीव कलाकृति प्रस्तुत नहीं कर पाता[1] ।" प्रतिभा वह नैसर्गिक गुण है जो व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्रशोभित होता है । आंतरिक प्रेरणा से आलोड़ित कवि मन सृजन के उत्कट क्षण में सांसारिक वास्तविकताओं से विमुख होकर आत्म केंद्रित हो जाता है । इसके संबंध में धर्मवीर भारती ने लिखा है कि "कला सृजन का जो वास्तविक उत्स अपने अंदर है, उस तक पहुंचने केलिए अगर कलाकार कभी निरर्थक और अनुपयोगी बाह्य औपचारिक यथार्थ से पलायन कर आत्मलीन होता है, तो वह उच्च स्तर की कला सृजन की प्रथम और अनिवार्य शर्त है[2] ।" यहाँ कवि व्यक्तित्व के विलयन की ओर इशारा किया गया है ।

काव्य का प्रयोजन

काव्य का मुख्य प्रयोजन आनंदोपलब्धि है । आनंदोपलब्धि के अतिरिक्त भारती ने काव्य के प्रभाव को भी प्रयोजन के रूप में व्यक्त किया है । उनका कहना है कि "काव्य का मुख्य कार्य आज के युग में रूढ अर्थों में रसोद्रेक मात्र न रहकर प्रभाव डालना हो गया है । ········· प्रभाव की परिधि में भाव और ज्ञान दोनों ही आ जाते हैं । ····· कभी अभाव और अज्ञान भी उसकी परिधि में आ जाते हैं[3] ।" रसोद्रेक के अभाव में कला सृष्टि सिर्फ चमत्कार का कार्य होगा, यह कहे बिना रह नहीं सकता । अभाव और अज्ञान में जीवन मूल्यों का अस्पष्ट निर्धारण करके उन्होंने

1· आधार, मार्च 1956 – पृ॰69

2· वही – पृ॰74

3· दूसरा सप्तक – पृ॰178

एक अधूरे नवीन दर्शन का परिचय दिया है । जीवन की विश्रृंखलताओं और विद्रूपों की अभिव्यक्ति के द्वारा भारती की राय में आत्मविश्लेषण का अवसर मिलता है । वे कहते हैं कि "भारती केवल परंपरा तोड़ने मात्र के लिए परंपरा नहीं तोड़ते और न मात्र प्रयोग के लिए प्रयोग करते हैं । एक स्वस्थ आत्म विश्लेषण कम से कम अभी तक तो भारती में है, आगे देखा जायगा[1] ।"

जन व्यापी जीवन सत्यों का सामना करते हुए उसमें सहभागी रहकर उसके प्रति अपने को समर्पित करना और एक उदार मंगलकारी दृष्टिकोण बनाना कवि का कर्तव्य है । भारती कहते हैं कि "मैं अपना पथ बना रहा हूं, जिंदगी से अलग रहकर नहीं, जिंदगी के संघर्षों को झेलता हुआ, उसके दुख दर्द में एक गंभीर अर्थ ढूंढता हुआ और उस अर्थ के सहारे अपने को जन व्यापि सच्चाई के प्रति अर्पित करने का प्रयास करते हुए[2] ।" यश प्राप्ति और धन की कामना भारती के अनुसार सर्जना का घातक होगी ।

काव्य के तत्व

साहित्य का मूलाधार व्यक्ति है । भारती का कहना है कि "साहित्य का आधार व्यक्ति ही है । जीवन और मौत, दुख और सुख, अंधेरा और उजाला अतीत और वर्तमान सभी की अभिव्यक्ति साहित्य में, व्यक्ति के माध्यम से होती आयी है और होती रहेगी[3] ।" जीवन की वास्तविक अनुभूतियों की जो महत्ता साहित्य में होती है वह कलाकार और पाठक को एक सूत्र में बांध देती है । वे कहते हैं कि "किसी भी युग का महान प्रतिभाशाली कलाकार अपने युग की ज्वलंत समस्याओं की उपेक्षा कर ही नहीं सकता । महान काव्य की अनुभूति की डोरे कलाकार और साधारण मानव के प्राणों को कभी भी विच्छिन्न नहीं होने देते[4] ।"

---

1. दूसरा सप्तक - पृ.179
2. ठंडा लोहा तथा अन्य कविताएं, भूमिका - पृ.8
3. प्रगतिवाद : एक समीक्षा, पृ.136
4. वही - पृ.189

काव्य में कल्पना के स्थान को निर्धारित करते हुए भारती ने लिखा है कि 'कल्पना और यथार्थ दोनों ही मानव जीवन के अंग हैं । साहित्य में भी केवल यथार्थवादी शैली से मनुष्य कभी संतुष्ट नहीं रह सकता और घूम फिर कर छायावादी शैली का आना आवश्यक है[1] ।' काव्य के तत्वों में भारती ने अनुभूति और कल्पना की चर्चा की है ।

काव्य के वर्ण्य

काव्य के वर्ण्य की कोई विषय सीमा नहीं होती । इसे डॉ॰ धर्मवीर भारती ने यों प्रकट किया है कि 'सीधी सादी बात यह है कि भारती कविता में किसी भी विषय को उठाए बिना नहीं रह पाता, बशर्ते वह जीवन और अनुभूति की आंतरिक लय से मेल खाता हो[2] ।' लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति भारती के मन में काव्य को गौरव प्रदान करती है । उनका कहना है कि 'प्रेम की दिशा सृष्टि के प्रथम दिवस से कविता की अनिवार्य दिशा रही है और सृष्टि के अंतिम दिवस तक रहेगी[1] ।' प्रेम की अभिव्यक्ति अवांछनीय नहीं है । किंतु भद्दी मांसल शृंगारिकता निन्दनीय है । परंतु भारती की प्रारंभिक रचनाओं में उद्दाम यौवन के मांसल गीतों तथा उन्मुक्त वासनात्मक भावनाओं की भरमार है । इसके संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'भारती ने आदम की संतानों के साथ दैहिक आँख-मिचौनी खेली है, वासनाओं - कामनाओं को उन्हीं की बोली में बोला है[2] ।' इसका कारण यह है कि भारती का कवि व्यक्तित्व साधारणता का दामन नहीं छोड़ता । भारती के काव्य व्यक्तित्व के विकास के पहले चरण में रूपासक्ति और उद्दाम यौवन के मांसल गीतों की भरमार है । दूसरा सोपान उस आंतरिक संघर्ष का है जहाँ कवि विराट जीवन के बीच दुख-दर्दों में गंभीर अर्थ ढूंढता है । तीसरे सोपान में

1॰ प्रगतिवाद : एक समीक्षा - पृ॰131-132

2॰ दूसरा सप्तक - पृ॰180

3॰ प्रगतिवाद एक समीक्षा - पृ॰108

4॰ दूसरा सप्तक - पृ॰165

कवि जनवादी भूमिका निभाता हुआ व्यापक मानवतावादी चेतना का परिचय देता है । कवि के निर्माण और विकास का चौथा चरण उनके जीवन दर्शन और चिंतन के अनुरूप कनुप्रिया और अंधा युग में दिखाई देता है । ये दोनों गीत नाट्यात्मक प्रबंध नयी कविता की श्रेष्ठ उपलब्धियाँ है । डॉ॰ कांतिकुमार कहते हैं - "यह भारती के काव्य व्यक्तित्व की अत्यंत सराहनीय उपलब्धि मानी जायगी कि वे निरंतर अनुभूति के और आत्माभिव्यक्ति के स्तर पर विकसित होते गये हैं और "अंधा युग" तथा "कनुप्रिया" के रूप में उन्होंने नयी कविता की चरम उपलब्धियाँ प्रस्तुत की है[1] ।"

<u>रचना - प्रक्रिया</u>

भारती ने काव्य सृजन के महत्वपूर्ण क्षणों को जाने अनजाने स्वादों का सम्मिलित स्वाद निरूपित किया है । जाहिर है कि वे जीवन के विविध अनुभवों के संश्लेषण को स्वीकार करते हैं । मनुष्य यातनाओं और अकेलेपन के बीच भी अ को पुन: रचने और संबंध सूत्रों को नये स्तर पर जोड़ने की कोशिश करता है । भारती के शब्दों में जीना चाहते हैं और अस्तित्व में से अस्तित्व पाने के लिए अभिव्यक्त करना चाहते हैं अपने को, और बिना संसार के हम अपने को अभि कैसे करेंगे । अत: हम किसी एक स्तर पर मूल्य और अर्थ देते हैं हर चीज़ । हर चीज़ के माध्यम से अपने को । पाये हुए और पाकर खोये हुए संसार । एक स्तर पर रचते हैं । ऐसे स्तर पर जहाँ कुछ भी फिर कभी छूटना और न पड़े[2] ।" इससे स्पष्ट होता है कि अपनी चरम निजी अनुभूति और । संसार को स्थायित्व तथा सार्थकता देने की चेष्टा रहता है । इसलिए और रचना प्रक्रिया एक रूपी होती है, उसमें सघन सम्बद्धता होती है स्वयं लिखा है कि "अब समूची जीवन प्रक्रिया किसी न किसी रूप में ।

---

1. नयी कविता - डॉ॰ कांतिकुमार - पृ॰87
2. सात गीत वर्ष- भारती - पृ॰13

सम्बद्ध होती है तो वे लोग जो अक्सर आरोप लगाते हैं कि अमुक कविता है तो मर्मस्पर्शी लेकिन जीवन से दूर है, वे कविता के बारे में क्या और कितना जानते हैं, यह कहना कठिन है । जो खरा काव्य है, उसकी रचना प्रक्रिया में, कितने ही अप्रत्यक्ष रूप से हो, किंतु जीवन प्रक्रिया अनिवार्यता उलझी रहती है ।[1] यहाँ जाहिर है कि रचना प्रक्रिया जटिल और उलझी हुई है । बदलती जीवन परिस्थितियों ने नये स्पंदन-संवेदन दिये हैं जिनके अनुरूप नयी अभिव्यंजना शैली आवश्यक है, आंतरिक लय और अनुभूति जरूरी है । भारती ने परंपरा तोड़ने के लिए परंपरा नहीं तोड़ी नयापन लाने के लिए कविता को विकृत नहीं किया । भारती की रचनात्मक चेतना में युगबोध के साथ परंपरागत पूर्वापर प्रसंगों की विवेक सम्मत खोज है और इसलिए वे बदलते परिवेश के अनुसार नया रूपांतरण प्रस्तुत कर सके हैं । रचनात्मक चेतना खंड चेतना नहीं समग्र और संपूर्ण की चेतना है । इसलिए भारती के काव्य में अनास्था और विघटन के बीच से सृजन का स्वर उभरा है ।

रचना प्रक्रिया संबंधी डॉ॰ धर्मवीर भारती का विवेचन उतना गंभीर न बन पड़े हो तो भी उनकी रचनात्मक चेतना और जीवन-प्रक्रिया का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं ।

व्यावहारिक आलोचना

प्रगतिवाद

'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' ग्रन्थ में डॉ॰ भारती के विचार उपलब्ध होते हैं । इस पुस्तक की भूमिका से भारती की दृष्टि होती है । वे किसी भी प्रवृत्ति विशेष को किसी 'वाद' की सीमा में आबद्ध करने को पक्षपाती नहीं । मार्क्सवाद के प्रति अंध-आस्था एवं पूर्वाग्रही विरोध दोनों का वे विरोध करते हैं । वे कहते हैं -

---

1॰ सात गीत वर्ष - भारती - पृ॰13

मैं प्रगतिवाद के उन निन्दकों का विरोधी हूँ जो मार्क्सवाद के व्यापक संदेश को समझे बिना, रूसी साहित्य के अध्ययन किये बिना, प्रगतिवाद के खिलाफ गुबार मचाते हैं। मैं प्रगतिवाद के उन समर्थकों का विरोधी हूँ जो भारतीय परिस्थितियों, भारतीय परंपराओं, और भारतीय साहित्य की आत्मा को पहचाने बिना अपने पूर्व निर्धारित सिद्धांत साहित्य पर लादना चाहते हैं। ऐसे समर्थक न प्रगतिवाद का नुकसान करते हैं वरन् हिन्दी के मार्ग में भी कांटे बिछा देते हैं।"[1] उनका यह संतुलित विचार परिपक्व आलोचना दृष्टि का परिचायक है। मार्क्सवादी चिंतन की उपादेयता भारतीय परिवेश और आवश्यकताओं के अनुरूप स्वीकारने में है। मात्र सैद्धांतिक विवेचन या किसी कृति पर उसका आरोपण कृति की मूल संवेदना में क्षति पहुँचायेगा।

भारतीजी ने अपनी रचना के अधिकांश पृष्ठ रूसी साहित्य के विवेचन करने में व्यतीत किये हैं। इसके बाद भारतीय प्रगतिवाद की तुलना की कोशिश की गई है। प्रगतिवाद और रोमांटिक प्रेम भावनाओं से युक्त कविताओं का आधार बनाकर वे रूसी साहित्य के साथ-साथ हिन्दी आलोचना का भी विवेचन करते हैं। नरेन्द्र शर्मा तथा डॉ॰ रामविलास शर्मा की तत्संबंधी प्रतिबद्धता तथा अंचल और "सुमन" के प्रेमगीतों का उल्लेख किया गया है। शिवमंगल सुमन को वे इसी कारण प्रगतिवाद कहते हैं। प्रगतिवाद परिप्रेक्ष्य में भारती ने राहुल जी और यशपाल का उल्लेख किया है। प्रसादजी की संस्कृति निष्ठ सामन्तवादी राष्ट्रीयता का निरूपण, संस्कृति की महानता उद्घोषित करने केलिए की गई है।

प्रगतिवादी साहित्य में काव्य सौंदर्य का अभाव है : राजनैतिक विचारों के कारण ऊपरी प्रभाव है। भारती ने भारतीय प्रगतिवादी लेखकों की चर्चा करते हुए अधिकतर लेखकों को जन आंदोलन से दूर माना है, सूक्ष्म अनुभूतियों का अभाव स्वीकार किया है। भारती लिखते हैं - "साहित्यिक होने केलिए साहित्य की

1· प्रगतिवाद : एक समीक्षा - सन् 1949 - पृ·3

कोटि में आने केलिए किसी भी रचना का केवल प्रगतिवादी होना काफी नहीं। उसे साहित्यिक होना चाहिए, उसे साहित्य के अपने नियमों से निर्देशित होना चाहिए।"[1]

मार्क्सवाद में व्यक्ति का नहीं, समाज का महत्व है। इस धारणा का खंडन करते हुए भारती ने राल्फ फॉक्स के उपन्यास "नावेल एण्ड द पीपुल" में से अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों को उद्घाटित किया है। यहाँ तक कहा गया है कि "वास्तव में मार्क्सवाद व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता। यह सच है कि कुछ "प्रोलेटेरियन" उपन्यासकारों ने इस तरह की गलत धारणा लोगों के मन में पैदा कर दी है, लेकिन यह मार्क्सवाद की नहीं, उपन्यासकारों की कमज़ोरी है।"[2] भारती ने प्रगतिवाद पर गन्दी अश्लीलता का आरोप लगाया है। मानवोचित कल्याणकारी भावना के स्थान पर अस्वस्थ एवं विकृत मनोवृत्ति को पाया है, इसकी पुष्टि हेतु हिन्दी के मार्क्सवादी कथाकारों का उल्लेख भी किया है। अंचल और नागार्जुन इनकी तीक्ष्ण आलोचना के पात्र बने हैं।

प्रगतिवाद संबंधी भारती की अपनी धारणाएं है। उनकी दृष्टि अपने देश, राष्ट्र, जन जीवन तथा संस्कृति पर केंद्रित रही है। इसमें तर्क नहीं है कि मार्क्सीय जीवन दर्शन अत्यंत व्यापक एवं महत्वपूर्ण है पर प्रत्येक देश और समाज की अपनी समस्याएं हुआ करती है।

नयी कविता

"नयी कविता और दायित्व की आंतरिकता" में प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी काव्यधाराओं के साथ नयी कविता की पृथक भाव भूमि की ओर संकेत किया गया है। नयी कविता पर किये गये व्यक्तिवादी आग्रह और सामाजिक आग्रह उनके मत में आलोचकों का पूर्वाग्रह तथा भ्रामक दृष्टिकोण है। भारती का अभिमत है कि "वास्तव में नयी कविता प्रथम बार समस्त जीवन का व्यक्ति या समाज, इस प्रकार के

---

1. प्रगतिवाद : एक समीक्षा - पृ.140
2. वही - पृ.140

लेग विभाजनों के आधार पर न माप कर मूल्यों की सापेक्ष्य स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों को मापने का प्रयास कर रही है। यदि हम उन गहन आंतरिक मूल्यों को समझने की चेष्टा नहीं करते तो हम नयी कविता की प्रवृत्ति को समझने में भूल कर सकते हैं।[1] उनकी दृष्टि में नयी कविता उन मूल्यों के पुनरान्वेषण एवं पुनः स्थापना केलिए अग्रसर होती है। साथ ही उसमें मनुष्य की आंतरिकता को प्रतिष्ठित करने की क्षमता का बोध होता है। अतः वे नयी कविता का मुख्य स्वर मानव मुक्ति मानते हैं, पर वे इस मुक्ति में दायित्वहीनता नहीं स्वीकार करते।

नयी कविता के विषय में भारती के विचार संक्षिप्त हैं किंतु मानवीय मूल्यों का आधार लिये हुए हैं।

निष्कर्ष

धर्मवीर भारती की काव्यालोचना का विवेचन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उनकी आलोचना दृष्टि सृजनशील आस्था तथा गहन अनुभूति से सम्पन्न है। उन्होंने परंपरा को तोड़ने केलिए परंपरा नहीं तोड़ी या नयेपन की इच्छा में परंपरा नहीं तोड़ी वरन् बदलती परिवेश के अनुरूप नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा केलिए, काव्य सिद्धांतों को अनुकूल बना दिया। काव्य की आत्मा, काव्य के तत्व और काव्य के हेतु के प्रतिपादन में नवीनता शायद कम ही हो, परंतु साहित्य के मर्म का उद्घाटन उनमें हुआ है। काव्य के कार्य के प्रतिपादन में भारती की काव्य यात्रा के विकास का प्रत्येक आयाम अंकित किया गया है। रचना प्रक्रिया का विवेचन जीवन प्रक्रिया से संबद्ध बनाकर उसके विषय में अपनी निजी राय प्रकट की गई है। प्रगतिवाद के अध्ययन में उनकी संतुलित जीवन दृष्टि उभर आयी है। देश की समस्याओं के अनुकूल मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्रतिपादन करने का आग्रह मौलिक है। मार्क्सवाद में व्यक्ति की श्रेष्ठता दिखाने में भारती की मौलिकता

---

1. धर्मवीर भारती, साहित्य के विविध आयाम - डॉ. हुकुमचंद राजपाल - पृ.

लक्षित होती है । नयी कविता में मानवीय आंतरिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना में, सभी धाराओं का खंडन करने का प्रयास किया गया है । संक्षेप में हिन्दी आलोचना में भारती की काव्यालोचना का अपना स्थान है ।

५• लक्ष्मीकांत वर्मा की आलोचना

नयी कविता के प्रमुख कवियों में श्री• लक्ष्मीकांत वर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है । नयी कविता में प्रवर्तित नयी कथ्य और तथ्य को प्रतिष्ठित करने केलिए, नये प्रतिमानों की उद्भावना करनेवाले नये कवियों में लक्ष्मीकांत वर्मा का कार्य महत्वपूर्ण रहा है । परंपरागत काव्य सिद्धांत नयी कविता को परखने में असमर्थ पाकर इन्होंने नयी मान्यताएं प्रस्तुत की है । काव्य में "लघु मानव" की प्रतिष्ठा का उल्लेख उनका अपना मौलिक विचार है । ताजी कविता संबंधी विचारों में नवीनता अवश्य मिलती हैकिंतु इसमें स्पष्टता का अभाव है । लक्ष्मीकांत वर्मा के विचार उनके पुस्तक "नयी कविता के प्रतिमान" और "नये प्रतिमान : पुराने निकष" में उपलब्ध मिलते हैं । इसके अतिरिक्त अनेक निबंध समय समय पर निकले हैजिनमें उनके विचार प्रकट हुए हैं । आगे हम उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना का विवेचन करेंगे ।

लक्ष्मीकांत वर्मा की सैद्धांतिक आलोचना

लक्ष्मीकांत वर्मा के विचार वास्तव में नयी कविता की पृष्ठभूमि में व्यक्त किये विचार हैं । अत: ये विचार पुराने साहित्य शास्त्र या काव्यालोचना की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते हैं । और यदि उनकी मान्यताओं को पुराने सिद्धांतों के आधार पर परीक्षा की जाये तो वह उनके प्रति पूरा अन्याय होगा । फिर भी व्यवस्था केलिए हम उनके विचारों को काव्य का स्वरूप, काव्य के तत्व काव्य-रस और काव्य के प्रयोजन, काव्य भाषा और छंद के अंतर्गत विचार करेंगे । उन्होंने पुरानी आलोचना पद्धति की अपर्याप्तता पर अपना विचार व्यक्त किया है ।

काव्यालोचना

आलोचना के संबंध में लक्ष्मीकांत वर्मा की स्पष्ट धारणाएं है । वे लिखते हैं - "मैं नहीं कहता हूं कि एक पुस्तक की समीक्षा केलिए शास्त्रार्थ किया जाये, किंतु मैं जब कभी भी किसी पुस्तक की समीक्षा पढ़ता हूं, तो उसकी अच्छाई और बुराई जानने की चेष्टा अवश्य करता हूं । मैं आशा करता हूं कि कुछ ऐसी सहायता मिले जिससे

हम उसके वास्तविक सत्य को कुछ कुछ जान सकें [1]।" पुस्तक मुख्यत: विचार प्रधान कृति है और प्रत्येक लेखक विचारक से कुछ नैतिक साहस की माँग करता है। आलोचना का दायित्व आधुनिक युग में बढ गया है। पुराने वर्गीकरण पद्धति पर आधुनिक नयी कविता की परख करना असंभव है। लक्ष्मीकांत वर्मा कहते हैंकि "आलोचना का दायित्व इस युग में अधिक महत्व पूर्ण है क्योंकि बिना उचित आलोचना के साहित्य की उचित रुचि का होना भी कठिन हो जायेगा और वर्तमान काल में जो बौद्धिक जिज्ञासा और आत्म परिक्रमा की प्रवृत्तियाँ, नये मूल्य और नये मोड विकसित हो रहे हैं, उनको प्रतिष्ठापित करना भी कठिन हो जायेगा [2]।" बदलने की प्रक्रिया स्वस्थ गतिशील जीवंत एवं जागरूक चेतना का परिचायक है। आलोचना के संबंध में लक्ष्मीकांत वर्मा का विचार वैज्ञानिक और संपुष्ट है।

काव्य का स्वरूप

नयी कविता के रूप का विवेचन वर्मा ने नयी परिस्थितियों के आधार पर किया है। नयी कविता में जो काव्य दृष्टि अपनायी गयी है वह पूर्ववर्ती काव्य दृष्टि से बिलकुल भिन्न है। इसके संबंध में लक्ष्मीकांत वर्मा ने कहा है - "यह भिन्नता आकार की नहीं, और न रूप विधान की है। यह भिन्नता मनस्थिति की है, संस्कारों की है और इन सबसे बढ़कर परिवेश की है [3]।" आगे उन्होंने स्पष्ट किया है कि "आज के परिवेश और संदर्भ में बड़ा अंतराल है। हमारा परिवेश भिन्न है, हमारे मूल्य भिन्न है [4]।" सत्य युग सापेक्ष है। इसलिए साहित्य में नयी विधाओं और अभिव्यक्ति के नये माध्यमों को ढूँढना पड़ता है। "व्यक्तित्व का अंतर ही काव्य के रूप और सौंदर्य के साथ मूल्यों के स्तर में परिवर्तन पैदा कर देता है

---

1. नये प्रतिमान : पुराने निकष - लक्ष्मीकांत वर्मा - पृ.199
2. वही - पृ.182
3. वही - पृ. 4
4. वही - पृ. 6
5. वही - पृ. 11

आज का युग संघर्षपूर्ण है । विघटित, विषम-विपर्ययों और विडंबनाओं के बीच आधुनिक मानव अपने अस्तित्व की तलाश में छटपटाता है । इसकी प्रत्येक अनुभूति खंडित और अपूर्ण है । इसके संबंध में वे कहते हैं कि "सम्पूर्ण नया साहित्य या तो उस व्यक्ति के अन्वेषण की प्रक्रिया है या उसके खंड खंड रूपों की अभिव्यक्ति है ।[1]" आधुनिक कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों में अर्थहीनता का बोध, उनके मत में सबसे प्रमुख है । किंतु यह अर्थहीनता निरर्थकता नहीं, नैराश्य से प्रभावित भी नहीं है । वे कहते हैं - "यह शायद अधिक जागरूक और भिन्न स्तर पर संपूर्ण परिवेश के संबंध में सापेक्ष उपजी हुई दृष्टि है इसलिए यह मूल्यवान भी है ।[2]"

"निहिलिज़्म" इस की दूसरी प्रवृत्ति है । "उसमें समस्त प्रतिष्ठित मूल्यों के प्रति मात्र असंतोष ही नहीं है, उसमें अपनी जीवन दृष्टि के अनुसार जीने की प्रबल शक्ति है । वह एक दुर्बल का विद्रोह या असंतोष नहीं है वरन् वह एक क्रियाशीलता है जो प्रतिष्ठित के विरुद्ध अपने अस्तित्व को रक्षित करने केलिए अपने जीवन दृष्टि के अनुसार जीने की क्षमता भी प्रदान करता है ।[3]"

आधुनिक परिवेश और बदले हुए जीवन मूल्यों के अनुरूप काव्य के स्वरूप की नई व्याख्या उन्होंने की है ।

काव्य के तत्व

नयी कविता में वैयक्तिक तत्वों की प्रतिष्ठा की प्रबल कामना है । काव्य के तत्वों में अनुभूति का अद्वितीय स्थान है । उनके अनुसार कवि के भोगे हुए क्षण की अभिव्यक्ति कविता में होती है । वे कहते हैं कि "उसे अनुभूत सत्य आत्म सत्य और उपलब्ध सत्य को निस्संकोच भाव से प्रतिष्ठित करना है ।[4]" लेखक या कवि खंडित और अपूर्ण सत्य को उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति देना चाहता है । साहित्य वास्तव में लेखक या कवि की अनुभूति प्रधान कृति है ।

1. नये प्रतिमान : पुराने निकष - पृ.30
2. वही - पृ.25
3. वही - पृ.27
4. वही - पृ.66

काव्य में "लघुमानव" की प्रतिष्ठा को लेकर अनेक भ्रांतियाँ फैल गयी है। किसी आलोचक ने उसे छोटा मानव समझ लिया। किसी ने कहा कि धीर ललित धीरोदात्त जैसे मानव की प्रतिष्ठा भी नयी कविता में संभव है। लेकिन लघु मानव के विचार सूत्र के संबंध में लक्ष्मीकांत वर्मा कहते हैं कि "लघुमानव प्रत्येक क्षण के यथार्थ को जागरूक चेता प्राणी के रूप में पूर्ण रूप से भोगता है। .... वह जो जीता है, जो भोगता है, जो क्षण क्षण उसके व्यक्तित्व में परिव्याप्त है उसी को अभिव्यक्त देता है चाहे वह स्थिति अर्थहीनता की हो या उद्देश्यहीनता की हो, चाहे वह निरर्थकता की वह सीमा हो जहाँ हम केवल होते हैं और केवल अपनी संकल्प शक्ति से उस "होते हैं" को अनिवार्य मानते हैं।[1]" आगे वे कहते हैं - "लघुमानव एक संज्ञा थी जिसे समस्त व्यापक मानव आत्मा का लघुतम आत्मबोध कहा जा सकता है।[2]" लघुमानव का अस्तित्व आत्महीनता से नहीं, आत्मनिष्ठा से उद्भूत होता है। यह लघुता लघुतम का पोटेन्शल (इकाई) है। "लघु मानव अपने विवेक और आत्मनिर्णय को, नितांत क्षण भोगी जीव होते हुए भी, स्वच्छंद (आर्बिटरी) सीमा तक ले जाने का साहस रखता है।[3]" इसके समक्ष निराशा का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि वह जिस मरुस्थल में जन्मा और जिस दुख की सापेक्षता में उसका विकास हुआ है, वह स्व विकल्पित सत्य है, स्वयं वरी हुई स्थिति है। लघुमानव क्षण भोगे, अपूर्ण जीवन के प्रत्येक क्षण के प्रति सचेत एवं जागरूक है।

"लघुमानव" की यह कल्पना नवीन सौंदर्यात्मक दृष्टि का परिचायक है। यह लक्ष्मीकांत वर्मा की निजी उद्भावना है। काव्य की आत्मा के अंतर्गत वर्मा ने "रस" के वज़न पर सह-अनुभूति का समर्थन किया है जिसका प्रतिपादन इनसे पूर्व जगदीश गुप्त ने किया है।

काव्य का प्रयोजन

काव्य प्रयोजन के अंतर्गत उन्होंने कवि और पाठक दोनों के आनंद का उल्लेख किया है। "वह अपने लिये हैं, केवल अपने लिए है अपनी व्याख्या के लिए, अपने निरखेपन के लिए, अपने साक्षात्कार के लिए है और शायद इससे भी आगे,

---

1. नये प्रतिमान : पुराने निकष - पृ॰104
2. वही - पृ॰83
3. वही - पृ॰102

आत्मोपलब्धि केलिए है[1]।" आत्मोपलब्धि के संबंध में वे कहते हैं कि "आत्मोपलब्धि ही उस सुख की उपलब्धि है जो रचनाकार के सहज आत्मबोध से विकसित होकर हम तक पहुंचती है[2]।" रचनाकार केलिए साहित्य आत्मोपलब्धि है, श्रोता या पाठक केलिए वह कवितानुभूति के माध्यम से भावांतरित अनुभूति है। कवि का आत्म सत्य सह अनुभूति से पाठक का सत्य बन जाता है। और यही नहीं उसका सत्य बन जाता है। और यही नहीं उसका सत्य मानव सत्य भी है। इस अवस्था में, स्वांत सुखाय रचे जाने वाली कृति बहुजन-हिताय बन जाती है। आनंद की सृष्टि ही काव्य का परम प्रयोजन है।

काव्य भाषा के संबंध में उनका विचार सामान्य है। जटिल संवेदना के वाहन में, अभिव्यक्ति में सम्पूर्ण भाव बोध केलिए नये स्तर की मांग करता है। नये स्तर की परिकल्पना भाषा के पक्ष में भी लागू है। कथ्य की भिन्नता और संवेदन की जटिलता अनुरूप भाषा की मांग करती है।

लक्ष्मीकांत वर्मा की व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत लक्ष्मीकांत वर्मा ने नयी काव्य प्रवृत्तियों और कवियों पर प्रकाश डाला है। छायावाद,प्रगतिवाद जैसी काव्य प्रवृत्तियों के संबंध में उनका विचार साधारण है। इसलिए इसका प्रतिपादन आवश्यक नहीं लगता। "नयी कविता" की विशेषताओं पर उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है। उनमें उनकी मौलिक उद्भावना "लघुमानव" की प्रतिष्ठा है, जिसका विवेचन हमने काव्य के तत्व के अंतर्गत किया है। इसलिए इस प्रकरण में उनके "ताजी कविता" संबंधी विचार की परीक्षा और कवियों संबंधी विचार की परख की जायेगी।

ताजी कविता

लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार कविता में नयेपन या ताज़गी की मांग के पीछे "नयी कविता" के रूढ़िगत हो जाना ही प्रमुख कारण है। "नयी कविता" में अनेक न्यूनताएं आ गयी हैं। नयी कविता के नाम पर लिखी जानेवाली कविताओं के

1· नये प्रतिमान : पुराने निकष - पृ·61

2· वही - पृ·64

संबंध में वे कहते हैं - "वह केवल एक शिल्पगत अभ्यास और रोमानी, अर्द्धरोमानी भावोन्मेष की रूढ़िगत अभिव्यक्ति बनता जा रहा है । संवेदनाएं मुद्राएं बन जाती हैं । अनुभूति की अद्वितीयता नष्ट हो जाती है । अभिव्यक्ति केवल खोखले और अर्थहीन शब्दों में जकड़कर मर जाती है । दृष्टि में विवेक का संतुलन क्षीण से क्षीणतर होता जाता है । सम्प्रेषणीयता के नाम पर केवल शब्दों के आकार शेष बचते हैं, उनके संदर्भों और अर्थों की मौलिकता नष्ट हो जाती है । अभिव्यक्ति के सभी प्रयास आरोपित और कृत्रिम लगने लगते हैं ।[1]" "नयी कविता" की इन न्यूनताओं के परिहार केलिए वे ताजी कविता की कल्पना करते हैं । वे कहते हैं - "ताजी कविता उस ताजगी की खोज में है जो भावों की अद्वितीयता को व्यक्त करने केलिए नयी भाषा का सृजन करके नये स्तर और नये संदर्भों को सार्थक अभिव्यक्ति दे सकें । वस्तुतः जिस अभिव्यक्ति के संकटों से हम गुज़र रहे हैं, उसका मूल कारण है नितांत सार्वजनिक भाषा के माध्यम से अत्यंत व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति ।[2]"

ताजी कविता के उद्भव और उसकी विशेषताओं का उन्होंने उल्लेख किया है । ताजी कविता आज के यथार्थ और अनयुक्त सत्यों के प्रति प्रतिक्रिया रूप में नहीं चलती । वह उन्हें ग्रहण करके तटस्थ अभिव्यक्ति देती है, और उसकी समस्त महिमा मंडित रागात्मकता के ऐश्वर्य में निहित अब्सर्डिटी, अर्थहीनता, मस्टम-पस्टमपन और उलूलजलूलपन को आभिजात्य "कोरिलेशन" के साथ व्यक्त करती चलती है ।[3]" ताजी कविता इस निरर्थकता या "अब्सर्डिटी" को भलीभांति पहचानती है, किंतु उससे टकराती नहीं । तमाम भड़कीले, सजीले, रसीले शब्दों के समक्ष एक सर्वथा नयी भाषा और मुहावरे को पैदा करने की कोशिश करती है । आज के संदर्भ में शब्द और अर्थ दोनों का लोप हो गया है ।

प्रत्येक युग की कविता में, नवीनता की मांग स्वाभाविक है । लक्ष्मीकांत वर्मा के विचारों में नवीनता अवश्य वर्तमान है किंतु स्पष्टता का अभाव है ।

---

1. नये प्रतिमान : पुराने निकष - पृ.289-290

2. वही - पृ.300

3. वही - पृ.304

अपने समकालीन कवियों में प्रसाद, पंत, निराला, अज्ञेय जैसे प्रमुख कवियों तथा उनकी कविताओं का वर्मा ने विवेचन किया है ।

आधुनिक पीढ़ी के कवियों में "मलयज" की कविताओं का परिचय देते हुए उन्होंने लिखा है - जीने की यह प्रबल आकांक्षा और उससे सम्बद्ध यथार्थ के मर्यादित भावों को भोगने की आत्मनिष्ठ आस्था मलयज की अधिकांश कविताओं में एक विचित्र तड़प के साथ मिलती है । शायद जीवन के प्रति यह अटूट आस्था ही इस कवि को दृष्टि और बोध दोनों के अनछुये आयामों को उद्घाटित करने की प्रेरणा भी देती है ।[1]" कवि की आत्मवेदना या दर्दभरी दृष्टि उसके यथार्थ अनुभूति को प्रामाणित करती है । मलयज की कविताओं का परिचय देते हुए उनकी विशेषताओं पर उन्होंने प्रकाश डाला है ।

<u>निष्कर्ष</u>

लक्ष्मीकांत वर्मा के आलोचनात्मक विचारों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पुरानी काव्य मान्यताओं की अपर्याप्तता के प्रति वे सजग हैं । नयी कविता के अनुरूप नये प्रतिमानों की स्थापना में वे अधिक प्रयत्नशील है । "लघुमानव" की प्रतिष्ठा में उनकी मौलिकता परिलक्षित होती है । ताजी कविता में नवीनता का अदम्य आग्रह प्रकट होता है ।

---

1. नयी कविता, अंक 4, 1959 - पृ.43 परिचय : मलयज की कविताएं

6. जगदीश गुप्त की काव्यालोचना

काव्य सृजन और काव्यांग विवेचन, दोनों दृष्टियों में नयी कविता को समृद्ध तथा समर्थ बनानेवाले कवियों में श्री. जगदीश गुप्त अग्रणी है । उनकी कविता कभी कभी अतिशय बौद्धिकता के कारण दुरूह और बोझिल महसूस होगी परंतु उनके विचार और व्यवस्थित विवेचन से उनकी काव्यालोचना आकर्षक और विचारोत्तेजक हुई है । नयी कविता की जिह्वा "नयी कविता" के सम्पादक की हैसियत से डॉ. जगदीश गुप्त ने साहित्यिक क्षेत्र में एक वैचारिक आंदोलन ही उपस्थित किया है । नयी कविता काव्य क्षेत्र में नये मानव की प्रतिष्ठा में उद्यत दिखाई देती है । आधुनिक जीवन की जटिलताओं को उसकी समग्रता में अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति नयी कविता में लक्षित होती है । इसके भीतर अवसाद ग्रस्त अंतर्मुखी व्यक्ति का अहं, आस्था-अनास्था, आशा-निराशा व्यंग्य विद्रूप, रोष, कापुरुषता, लघुतम अनुभूतियों का अंकन, लघुमानव की प्रतिष्ठा परंपरागत रोमानियत विशेषताओं से मुक्त होकर नयी टेकनीकी कौशल से अभिव्यक्त की गई है । भाषा, छंद बिंब और प्रतीक विधान की परिकल्पना में नये कवियों की कुशलता और प्रयोगशीलता इस काव्यधारा को समृद्ध एवं सम्पन्न बनाती है ।

लयात्मकता नयी कविता की एक प्रमुख विशेषता है । छंद मुक्त नवीन कविता में ताल मेल की संगति से जो प्रभाव उत्पन्न किया जाता है वह बिलकुल आनंददायक है । डॉ. गुप्त ने "नयी कविता" में "अर्थ की लय" की कल्पना से उसे और भी प्रदीप्त कर दिया । लय यानी स्वर लय, ध्वनि लय आदि के संबंध में पहले ही सुन चुके हैं । बल्कि "अर्थ की लय" की उद्भावना गुप्तजी की मौलिक देन है जिसने बहुत विवाद उपस्थित किया है । इसी प्रकार रसानुभूति के स्थान पर सह-अनुभूति की स्थापना भी उनकी अपनी है । यह युगों से स्वीकृत काव्य तत्व के विरुद्ध एक ललकार बन गया । इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ. जगदीश गुप्त ने आलोचना क्षेत्र में नयी कविता संबंधी अपनी उद्भावनाओं से विवाद उपस्थित किया है ।

"नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं" गुप्तजी की नयी कविता संबंधी मान्यताओं का संकलन है । इसके अतिरिक्त समय समय पर अनेक पत्र पत्रिकाओं में उनके विचार प्रकाशित होते मिलते हैं । आगे हम नयी कविता संबंधी गुप्तजी के विचारों के मूल में आलोचनात्मक उपलब्धि का विचार करेंगे ।

सैद्धांतिक आलोचना

प्रयोगवादी नयी कविता के कवियों की काव्य मान्यताएं काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की कसौटी पर खरे नहीं उतरती तो यह उनकी असंगति नहीं । क्योंकि मानव जीवन और वह युग एवं परिवेश बदलते रहते हैं । इसलिए स्वाभाविक: काव्य मान्यताओं को भी बदलना ज़रूरी है । डॉ॰ जगदीश गुप्त की काव्य मान्यताएं, बदलती काव्य रुचि और आवेश की उपज है जो हम इस युग की देन कह सकते हैं । जगदीश गुप्त ने पुरानी काव्य मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए नयी कविता की अपने ढंग से व्याख्या की है ।

काव्य का स्वरूप

डॉ॰ जगदीश गुप्त काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि "कविता सहज आंतरिक अनुशासन से युक्त वह अनुभूतिजन्य सहज लयात्मक शब्दार्थ है जिसमें सह-अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है[1] ।" गुप्तजी के स्पष्टीकरण में अनुभूति को प्रमुख स्थान दिया गया है । इसके अतिरिक्त उन्होंने "अर्थ की लय" और "सह-अनुभूति" की बात उठायी है । सह-अनुभूति से तात्पर्य काव्य में कवि और भावक के व्यक्तित्वों को पूर्ण विलयन नहीं होता, साथ हो जाता है और इससे कवि की अनुभूति सम्प्रेषणीय होती है । नये कवि अनुभूति को प्रधान मानते हैं, किंतु इससे भी बढ़कर अनुभूति के परिवर्तित संदर्भ पर बल देते हैं । डॉ॰ नामवरसिंह अपनी कृति "कविता के नये प्रतिमान में कहते हैं - "नये कवि अनुभूति से अधिक अनुभूति के परिवर्तित संदर्भ पर विशेष बल देते हैं[2] ।"

---

1. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं - डॉ॰ जगदीश गुप्त - पृ॰116

2. कविता के नये प्रतिमान - डॉ॰ नामवर सिंह - पृ॰24

काव्य की आत्मा

डॉ॰ जगदीश गुप्त ने नयी कविता में रसशास्त्र के "रसानुभूति" शब्द के वजन पर "सह-अनुभूति" को स्थापित करने का प्रयास किया है। उनकी पुस्तक "नयी कविता स्वरूप और समस्याएं" में इस विषय का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसका संक्षिप्त रूप यहाँ दिया जायेगा। सह-अनुभूति व्यक्तिनिष्ठ अनुभूति है, इससे आत्मीयता और संवेदना का विस्तार होता है। इसमें व्यक्तित्व और विवेक का परिहार नहीं होता बल्कि कवि और भावक के व्यक्तित्वों में सह अस्तित्व स्थापित होता है तथा अनुभूति भी प्रेषणीय होती है। उनका अंतिम निष्कर्ष यह है कि सह अनुभूति के स्तर पर काव्यास्वादन संभव होता है। उन्होंने "आच्छन्न" तथा "अभिभूत" जैसे पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से "तादात्म्य" स्थापित करने की कोशिश की है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि भावक कवि के उन्हीं भावों को प्रकारांतर से निर्मित कर कवि तक पहुँचता है : इसमें समानता का आधार होता है। यह बात नयी कविता में चरितार्थ होती है। कवि और भावक के भावों में जहाँ समानता हो उसी से वह अभिभूत होता है। वस्तुत: नये कवि अपनी कविता में रस निष्पत्ति का दावा नहीं करते। वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण और बौद्धिक भावुकता से सम्पन्न कलाकार हैं। अत: अपने चिंतन और अध्ययन के फल स्वरूप नयी उद्भावनाएं कर देते हैं। असल में यह विचार नयी कविता के सम्बंध में किया गया है। जगदीश गुप्त के इस "सह-अनुभूति" के सिद्धांत में हम बौद्धिक चिंतन प्रणाली और आधुनिक सौंदर्यशास्त्र का सामंजस्य देते हैं। वस्तुत: जगदीश गुप्त का प्रस्तुत विचार मौलिक एवं नवीन है। चाहे, यह सर्वकालीन प्रतिमान के रूप में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते, फिर भी नयी कविता के संदर्भ में यह उपयुक्त है।

काव्य के तत्व

अनुभूति, कल्पना और बुद्धि को काव्य के प्रमुख तत्वों के रूप में प्रत्येक युग में स्वीकृति मिली है । नयी कविता के प्रत्येक कवि ने आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति ही अपनी रचनाओं में की है । डॉ० जगदीश गुप्त ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि "कविता सहज आंतरिक अनुशासन से युक्त वह अनुभूति जन्य सहज लयात्मक शब्दार्थ है जिसमें सह अनुभूति उत्पन्न करने की यथेष्ट क्षमता निहित रहती है ।"[1] इस उद्धरण में उन्होंने काव्य में अनुभूति की महत्ता को असंदिग्ध रूप में व्यक्त किया बौद्धिक और यांत्रिक युग में हमारा विचार बहुधा बौद्धिक होता है भावुक और कल्पनाजन्य कम है । अत: नयी कविता में कल्पना से अधिक बौद्धिकता की प्रधानता दीखती है । यही नहीं कवि कल्पना को बुद्धि जन्य मानता है । कल्पना के संबंध में, निकटता से अध्ययन करें तो मालूम होगा वह बौद्धिक क्रिया कलाप की उपज है । नयी कविता के प्रति यह आरोप है कि वह दुरूह जटिल तथा बौद्धिक अधिक है । इसके कारणों को स्पष्ट करते हुए जगदीश गुप्त ने लिखा है कि "नयी कविता बहुधा विचारों को छोड नहीं पाती क्योंकि बुद्धि को असंतुष्ट और स्वत्वहीन रखकर वह भावों तक जाना नहीं चाहती ।"[2] नयी कविता में विचारों की बोझिलता है किंतु यह सहज ही है । भावों की सहज अभिव्यक्ति में बुद्धि-कुशलता का अद्वितीय स्थान है ।

काव्य शिल्प के अंतर्गत जगदीश गुप्त ने भाषा के संबंध में अपना सुचिंतित मत प्रकट किया है । अर्थ-लय की परिकल्पना इसी सिलसिले में नवीन तथा मौलिक है

भाषा

जगदीश गुप्त द्वारा प्रतिपादित अर्थ-लय का प्रश्न नयी कविता के रूप विधान से सम्बन्ध रखता है । शब्दार्थमयी कविता का इस लय तत्व से जन्मजात सम्बन्ध है,

---

1. नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं - पृ० 116
2. वही - पृ० 104

जो मूलत: इतना घनीभूत एवं व्यापक है कि लय को कविता का एक अनिवार्य अंग स्वीकार किये बिना उसके स्वरूप की व्याख्या असंभव है । अर्थ लय का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है - कविता में भावनाओं की लय प्रकारांतर से, अभिव्यक्त होकर अर्थ की लय का रूप धारण कर लेती है । शब्द लिपि के बिना भी सम्पूर्ण, समग्र और स्वायत्त है, पर अर्थ के अभाव में शब्द, शब्द नहीं रह जायगा, ध्वनि हो तो हो । संगीत का उपकरण स्वर है, शब्द नहीं । कविता में शब्द और अर्थ की अभिन्न स्थिति है । लय तत्व काव्य का अंतर्निहित अनिवार्य तत्व है, इस अर्थ में कि लय कवि मानस में भावावेग के रूप में स्फूर्त होती है और कवि उसके माध्यम से जीवनानुभव की पुन: सर्जना करता है । काव्य में लय तत्व केवल अर्थाश्रित नहीं है, वह शब्दार्थ समवेत की लय है । लय तत्व काव्य का आंतरिक गुण है । यह केवल अर्थ की लय से नहीं, शब्द या ध्वनि लय से संयुक्त संभव होता है । इसलिए गुप्त की अर्थ लय की उद्भावना ने बड़ी हलचल मचा दी है । फिर भी इससे मौलिक दृष्टिकोण का निसंदेह परिचय मिलता है । तात्विक आधार पर उन्होंने काव्य बिंब की चर्चा की है ।

नयी कविता

जगदीश गुप्त ने अपनी काव्य संबंधी मान्यताएं नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की है । इसलिए नयी कविता संबंधी अलग अध्ययन मेरे ख्याल में आवश्यक नहीं है ।

नयी कविता "लघु मानव" की प्रतिष्ठा का काव्य है । नयी कविता संघर्षशील नये मनुष्य की कल्पना से ज्योतित एक प्रकाश स्तंभ है । नये मानव के संबंध में वे लिखते हैं - "नया मनुष्य रूढि ग्रस्त चेतना से मुक्त, मानव मूल्य के रूप में स्वातंत्र्य के प्रति सजग, अपने भीतर अनारोपित सामाजिक दायित्व का स्वयं अनुभव करनेवाला, समाज को समस्त मानवता के हित में परिवर्तित करके नया रूप देने केलिए कृत संकल्प, कुटिल स्वार्थ भावना से विरत, मानव मात्र के प्रति स्वाभाविक सह

अनुभूति से युक्त, संकीर्णताओं एवं कृत्रिम विभाजनों के प्रति क्षोभ का अनुभव करनेवाला, हर मनुष्य को जन्मत: समान मानने वाला, मानव व्यक्तित्व को उपेक्षित, निरर्थक और नगण्य सिद्ध करनेवाली किसी भी दैविक शक्ति या राजनैतिक सत्ता के आगे अनवनत, मनुष्य की अंतरंग सद्वृत्ति के प्रति आस्थावान्, प्रत्येक व्यक्ति स्वाभिमान के प्रति सजग, दृढ एवं संगठित अंत:करण संयुक्त, सक्रिय किंतु अपीडक, सत्यनिष्ठ तथा विवेक सम्पन्न होगा । अगर कवि के आत्मरंजन, भावाभिव्यक्ति एवं संवेदना सम्प्रेषण के अतिरिक्त कविता का कोई इतर उद्देश हो सकता है, और मैं समझता हूँ कि हो सकता है, तो कहना होगा कि ऐसे मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही नयी कविता का उद्देश्य है[1] ।"

प्रस्तुत उद्धरण में जगदीश गुप्त ने नयी कविता में प्रतिपादित विषय का सही निर्धारण किया है । मानव मूल्य के विघटनकारी आज के युग में प्रत्येक सचेत व्यक्ति अपने आप आत्मकेंद्रित रहता है और उसकी अभिव्यक्ति नयी कविता में अधिकतर होती है । इसलिए गुप्त कहते हैं - "कविता मानव हृदय की गहराई और भाव लहरों की विशिष्ट कणों में आंतरिक रूप से परिचालित गीत का प्रतिरूप है[2] ।" आगे वे कहते हैं कि "नयी कविता भावना को बिना किसी आडंबर के सीधे शुद्ध रूप में व्यक्त करने पर आग्रह करती है[3] ।"

आज के ठहराव के प्रति नये कवियों में एक गहरा आक्रोश है और यह आक्रोश ही इनकी सम्पूर्ण सृजनशीलता का केंद्र है । नयी कविता ने भावाभिव्यक्ति के नयी तरीकों की तलाश में अनेक द्वार खोल दिये हैं । जगदीश गुप्त की अर्थ लय की कल्पना और लय अनुभूति इस दिशा में चिर स्मरणीय है । जगदीश गुप्त जी के विचार प्रौढ तथा तर्कसंपुष्ट हैं ।

1· नयी कविता अंक - 4 - जगदीश गुप्त - पृ·12-13

2· डॉ. - द्र· नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं - पृ·86

3· वही - पृ·190

निष्कर्ष

जगदीश गुप्त की काव्यालोचना की नयी मान्यताएं तार्किक दृष्टिकोण तथा प्रयोग धर्मिता के कारण आलोचना क्षेत्र में आकर्षक बनी है । उनकी काव्य मान्यताएं नयी कविता के उपलक्ष्य में प्रस्तुत की गई है । नयी कविता को काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में उनके विचार अधिक सफल हुए हैं । उनकी आलोचना नयी कविता को प्रतिष्ठित करने में सहायक हुई है ।

निष्कर्ष

प्रयोगशील नयी काव्यधारा को प्रतिष्ठित करने में, अज्ञेय, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा जैसे प्रतिनिधि कवियों का योगदान महत्वपूर्ण है । ये, भावयित्री तथा कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार है । इन्होंने अपनी काव्य रचनाओं के द्वारा इस काव्य धारा को समृद्ध किया, साथ ही अपनी विचारोत्तेजक आलोचनाओं से हिन्दी काव्यालोचना को सम्पन्न किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रयोगवादी नये कवियों के आलोचक बनने के पीछे प्रमुख रूप से दो तीन कारण दिखाई देते हैं । एक अपनी रचनाओं के प्रति उठाये गये आरोपों का उत्तर देना दूसरा, नयी काव्य धारा भाव क्षेत्र और कला क्षेत्र में नवीनता लेकर आयी है, उसके विवेचन और विश्लेषण के द्वारा इस काव्यधारा के आस्वादन में सहायता देते हुए उसके सही मूल्यांकन में मार्गदर्शन देना, तीसरा, इसके प्रत्येक कवि अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से दूसरे से बिलकुल भिन्न थे । इस भिन्नता में भी एकता थी और इनके कारणों को व्यक्त करना, तीसरा कारण रहा । इसके संबंध में अज्ञेय जी लिखते है कि "वे किसी एक स्कूल के नहीं, किसी मंजिल पर

पहुँचे हुए नहीं है, अभी राही है - राही नहीं, राहों के अन्वेषी है[1]।" जीवन के और साहित्य के महत्वपूर्ण विषयों में इन कवियों का मतभेद अवश्य होता है, किंतु इनमें अवश्य ऐसी एक रूपता होती है कि उनके व्यक्तित्व को पहचानना कठिन हो जाता है।

प्रयोगवादी नयी कविता के पुरोधा कवि और चिंतक अज्ञेय जी ने काव्य के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों को अपने विचारों से पुष्ट किया है। सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा, काव्य के तत्व, काव्य का प्रयोजन आदि तत्वों का विवेचन किया है। काव्य को उन्होंने व्यक्ति चेतना के माध्यम से जीवन सत्य की अभिव्यक्ति कही है। यह विचार नवीन तथा मौलिक और नयी कविता के अनुरूप है। काव्य की आत्मा के अंतर्गत उन्होंने रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि का उल्लेख किया है। काव्य के तत्वों में अनुभूति को अधिक महत्व दिया है। कवि का कथ्य उसकी आत्मा का सत्य है। यहाँ उन्होंने व्यक्तित्व पर अधिक ज़ोर दिया है। सम्प्रेषण की समस्या नये कवियों को अधिक कठिन मालूम होती है। क्योंकि भाषा की सम्प्रेषणीयता छायावाद की रोमानी शब्दाडंबरता और प्रगतिवादी सामाजिकता ने पहले ही नष्ट कर दी थी। इसलिए कवि अपने अनुभूत सत्य की सफल अभिव्यक्ति केलिए भाषा में नये संस्कार और अर्थ बोध भरना चाहते हैं। भाषा के स्तर पर किये गये प्रयोग को वे यों व्यक्त करते हैं - "शब्दों के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ हम उसमें भरना चाहते हैं[2]।" काव्य शब्द है, उसमें शब्दातीत कुछ अर्थ भरने का प्रयोग नये कवि करते हैं। छंद के विवेचन में लय की स्थापना विशेष ध्यान देने योग्य है। व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत अज्ञेय जी ने हिन्दी काव्य के विकास का अध्ययन किया है। खड़ी बोली कविता छायावादी कविता और नयी कविता पर उनके

---

1. तारसप्तक - अज्ञेय - पृ.12
2. वही - पृ.276

विचार उपलब्ध है । छायावाद को वे पश्चिम से प्रभावित व्यक्तिपरक दृष्टि का परिणाम मानते हैं । नयी कविता में "नयी काव्य चेतना का संस्कार और मानव मूल्यों की रागात्मक संबंधों की स्थापना में पूर्ववर्ती काव्य धारा से भिन्नता देखते हैं । अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियों में उन्होंने, हरिश्चंद्र, मैथिली-शरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला और दिनकर के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला है ।

मुक्तिबोध ने सैद्धांतिक आलोचना में रचना प्रक्रिया के जटिल और निगूढ़ प्रश्नों का विशद विवेचन किया है । हिन्दी में पहले पहल कवि-कर्म की व्याख्या करनेवाले कवि हैं मुक्तिबोध । व्यावहारिक आलोचना में उन्होंने शमशेर और पंत के व्यक्तित्व और कृतित्व का सही मूल्यांकन करते हुए अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है । कामायनी के पुनर्विचार में परंपरागत आलोचना प्रणालियों से भिन्न मार्क्सवादी दृष्टिकोण से उसकी आलोचना करते हुए, एक नयी दिशा को उद्घाटित किया है ।

गिरिजाकुमार माथुर की आलोचना ने नयी कविता के कथ्य की अपेक्षा टेक्नीक पर अधिक बल दिया । काव्य भाषा में स्वर ध्वनि की उद्भावना ने उसकी प्रवाहमयता और संगीतात्मकता को सम्पन्न किया है । लय की अनेकता कविता की सम्प्रेषण की समग्रता का द्योतक है । यह उनकी अपना मत है, मौलिक और नवीन है ।

जगदीश गुप्त ने सह-अनुभूति और अर्थ की लय की परिकल्पना से नये सिद्धांतों की स्थापना की है । किंतु ये विवाद का कारण बने हैं । किंतु इसके प्रतिपादन में तार्किकता और वैज्ञानिकता का समावेश हुआ है ।

धर्मवीर भारती ने काव्य की आत्मा, काव्य के तत्व, काव्य के कार्य आदि का विवेचन किया है । भारती जीवन प्रक्रिया और रचना प्रक्रिया को अलग नहीं मानते हैं । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत उन्होंने प्रगतिवाद की

चर्चा की है । देश और संस्कृति के अनुरूप मार्क्सवादी सिद्धांतों को अपनाने पर उन्होंने जोर दिया है । यह उनके संतुलित दृष्टिकोण का परिचायक है । मार्क्सवाद में व्यक्ति के महत्व की स्वीकृति है । ऐसा भारती का मत है ।

प्रयोगवादी कवि वस्तुत: आलोचक नहीं है । उन्हें आलोचक का जामा ओढ़ना पड़ा । इसके कारणों को हमने ऊपर बताया है ।

अपने वक्तव्यों और काव्य भूमिकाओं तथा आलोचनात्मक रचनाओं में प्रयोगशील नये कवियों ने नयी काव्य मान्यताओं का प्रतिपादन किया । नयी कविता को हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित करके एक नये काव्य संस्कार को जन्म देने में उनका प्रयास महत्वपूर्ण है । पुरानी मान्यताओं के स्थान पर नयी कविता के अनुकूल नयी मान्यताएं उन्होंने प्रस्तुत की । काव्य सृजन में व्यक्ति चेतना का महत्व, अभिव्यंजना पक्ष में भाषागत नवीन उद्भावनाएं, रचना प्रक्रिया का विश्लेषण समसामयिक कवियों का अध्ययन आदि उनकी आलोचनात्मक उपलब्धियां हैं । हिन्दी आलोचना के विकास में इन सर्जक कवियों का योगदान इसलिए महत्वपूर्ण है कि वे अपनी मौलिकता और नवीनता के कारण बेजोड़ हैं ।

अध्याय - छः

उ प सं हा र

अध्याय - छ:

उपसंहार

आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधि कवियों की काव्यालोचना का विवेचन करने के पश्चात् यह देखना आवश्यक है कि उनकी काव्यालोचना में मौलिकता कितनी है और उनके काव्य चिंतन ने आधुनिक आलोचना के विकास में कितना योगदान दिया है तथा उनकी उपलब्धियाँ क्या है ? आधुनिक युग के ये कवि-आलोचक मूलत: कवि ही हैं । काव्य सृजन ही उनका मुख्य कार्य रहा है । परिस्थिति के दबाव, युगीन माँग और साहित्यिक मूल्यों के परिवर्तित स्थिति में इन कवियों को आलोचक का बाना ओढना पडा । कहने का तात्पर्य यह है कि आलोचना-क्षेत्र में इनका पदार्पण अनजाने ही हो गया । इसके मूल में कई कारण विद्यमान हैं । अपनी सृजन प्रक्रिया के प्रारंभ में इन्होंने अनुभव किया कि बदली हुई नयी परिस्थिति में आत्माभिव्यक्ति केलिए परंपरागत शैली असमर्थ है । इसीलिए उन्हें अपनी अनुभूति की सक्षम अभिव्यक्ति केलिए नये मार्ग खोजने पडे । उनके इस अनुभव के मूल में एक ओर परिस्थितिका दबाव था, दूसरी ओर वैयक्तिक चिंतन का । अलावा इसके आलोचकों द्वारा अपनी रचनाओं के प्रति उठाए गये आक्षेपों का खण्डन करना भी आवश्यक हो गया । अत: उन्हें अपनी रचना-प्रक्रिया के अंगों का स्पष्टीकरण और उनकी विशेषताओं का उद्घाटन करना स्वाभाविक रूप से अनिवार्य हो उठा ताकि अपनी सृजन प्रक्रिया के अमूर्त अंगों के स्पष्टीकरण के द्वारा पाठक उनके काव्य का सही पहचान और आस्वादन कर सकें । भ्रामक धारणाओं को दूर करके काव्यास्वादन और काव्य के मूल्यांकन में सहायता दें । कवियों के आलोचक बनने का मूल कारण यही है । उन्हें द्विविधात्मक कार्य करना पडा ।

एक ही समय कविता करना तथा कवि कर्म एवं कविता की विशेषताओं का विवेचन भी करना पड़ा । हिन्दी काव्य के इतिहास में यह प्रवृत्ति पहली बार आधुनिक काल में, विशेषतः छायावादी युग में पायी जाती है । कवियों का यह कृत्य हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में एक नयी दिशा का मोड़ है । उन्होंने अपनी काव्य मान्यताओं से उसे एक नया आयाम प्रदान किया है । कवियों की आलोचना दृष्टि से उनके काव्य सृजन को समृद्ध और आलोचना को नयी विकास दिशाएं प्रदान की है । इसी कारण से उनके काव्य संबंधी विचार अद्वितीय बन पड़े हैं ।

कवियों के आलोचक बनने के प्रति यह आपत्ति उठाई गई है कि उनका विचार पक्षपातपूर्ण होगा । किंतु यह तर्क आधारहीन है । क्योंकि अच्छे कवि ही अच्छे आलोचक बन सकते हैं । किसी "नयी मशीन के संबंध में उसके उपज्ञाता ही अच्छा ज्ञान रखता है, उसी प्रकार कविता के संबंध में कवि ही अच्छा ज्ञान रखता है ।

छायावादी कवि काव्य चिंतन के प्रति अत्यंत सजग दिखाई देते हैं । स सैद्धांतिक आलोचना के अंतर्गत उन्होंने काव्य का स्वरूप, काव्य की आत्मा काव्य के तत्व, काव्य के भेद, काव्य का प्रयोजन, काव्य का वर्ण्य, भाषा, छंद और बिंब का प्रतिपादन किया है । उनके अध्ययन के पीछे गहन चिंतन और सौंदर्य वादी दृष्टि विद्यमान होती है । इन कवियों ने द्विवेदी युगीन काव्य मान्यताओं का निराकरण कर नयी काव्य दृष्टि प्रदान की । काव्य सर्जना के साथ ही अपनी सूक्ष्म अन्वेषण दृष्टि से, सौंदर्यवादी मौलिक विचारों से हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया ।

छायावादी कवियों की आलोचना पर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम होगा कि ये आलोचक कवि परंपरागत शास्त्रीय आलोचना के पूर्णतः विरोधी नहीं है ।

फिर इनकी आलोचना में परंपरा की गंध के होते हुए भी मौलिकता परिलक्षित होती है। उदाहरण स्वरूप प्रसादजी ने रस, अनुभूति और आनंद का प्रतिपादन किया है। यह परंपरागत काव्य तत्व हैं। वे साहित्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानते हैं। व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत छायावाद, रहस्यवाद, यथार्थवाद और आदर्शवाद का मौलिक और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। रस को उन्होंने शैवाद्वैतवाद से संबद्ध माना है, इसमें नवीनता है। छायावाद को भारतीय ठहराने की कोशिश की गई है। निरालाजी मानवता की मुक्ति और सृजन स्वतंत्रता साहित्य का लक्ष्य मानते हैं। मुक्त छंद के प्रवर्तक निराला मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की मुक्ति चाहते हैं, और यह मुक्ति छंद के बंधन से अलग होने से है। संगीत तत्वों का समावेश निराला की मौलिक देन है।

पंतजी ने छायावादी काव्य भाषा के विवेचन में अधिक सतर्कता दिखाई है। ब्रजभाषा की तुलना में खड़ीबोली को काव्य भाषा के अनुकूल साबित किया। शब्द चयन में भावों को सुरक्षित रखने की क्षमता निर्भर रहती है। ध्वनि समानता और लय काव्य में अधिक प्रभावपूर्ण है, साथ ही संगीतात्मकता पैदा करती है। निराला और महादेवी ने गीति काव्य की भावात्मक और कलात्मक विशेषताओं के अतिरिक्त उसके भेदों की चर्चा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने रीति-शास्त्र के आग्रहों से मुक्त रहकर कलागत मूल्यों की सौंदर्यपूर्ण व्याख्या की। काव्य को स्थूल इतिवृत्तात्मकता के बंद दायरे से बाहर निकालकर सूक्ष्म अनुभूति के सौंदर्यमय एवं काल्पनिक चित्रण का साधन बनाया। भाषा की चित्रात्मकता, लाक्षणिकता और रागात्मकता पर बल दिया गया। मुक्त छंद की उद्भावना के द्वारा काव्य की मुक्ति प्रदान की। स्वर संगीत के समावेश से उसमें मौलिकता लायी गयी।

छायावादी कवियों की आलोचनागत मान्यताओं के विवेचन के उपरांत हम देखते हैं कि उन्होंने छायावादी कविता की सही पहचान और आस्वादन के अनुरूप काव्य मान्यताओं की स्थापना की। छायावादी कविता के आकलन के लिए द्विवेदी युगीन मापदण्डों में सुधारकर नये मापदण्डों को प्रस्तुत किया गया और उन्हें रोमांटिक मूल्यों से शाश्वत बना दिया।

छायावादी कवियों की आलोचना का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्री॰ जयशंकर प्रसाद सबसे प्रखर आलोचक है । उनके रस विवेचन और काव्य मान्यताएं अपने ढंग का अनोखा है । छायावाद जैसी काव्य प्रवृत्ति की सही पहचान और मूल्यांकन उन्होंने किया है । निराला जी के पंत जी के विषय में किये गये विचार मौलिक है । पंतजी ने छायावादी काव्य भाषा की प्रतिष्ठा में पूरा सहयोग दी है । संक्षेप में इन कवियों का योगदान महत्वपूर्ण है ।

छायावादोत्तर व्यक्तिपरक कविता व्यक्ति तत्व के उन्मेष की कविता है । इस काव्य पद्धति के अनुकूल काव्यालोचना के सिद्धांतों के प्रतिपादन के द्वारा इन कवि आलोचकों ने पाठकों की मदद की है । कवियों के आलोचक बनने का मूल कारण वही रहा जो छायावादी कवियों के मूल में रहा ।

छायावादोत्तर व्यक्तिपरक कवियों की आलोचना पर दृष्टिपात करें तो हमें स्पष्ट होगा कि इन्होंने परंपरागत काव्यालोचना का विरोध नहीं किया । जहाँ उन्होंने विरोध पाया उन्हें ठुकरा दिया और जो उन्हें मान्य रहे उन्हें हर्ष के साथ अपनाये । पुरानी मान्यताओं को वैयक्तिक स्पर्श से पुनः प्रतिष्ठित की गई । यही उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

श्रीरामधारीसिंह दिनकर की काव्यचेतना राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है । यह राष्ट्रीय चेतना उनकी काव्यालोचना में भी वर्तमान है । उनके विचारों के अध्ययन से मालूम होता है कि उनका विचार अधिक व्यापक और स्पष्ट है । परंपरागत काव्य मान्यताओं में मौलिक कवि दृष्टि से नवीनता लाने का यथोचित ध्यान दिया गया है । उनके काव्यांगों का विवेचन विशेष पठनीय है । काव्य भेदों में, रस काव्य और विचार काव्य की उद्भावना में उनका मौलिक चिंतन दृष्टव्य है । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत दिनकर ने छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद जैसी काव्य प्रवृत्तियों और समसामयिक कवियों को

अध्ययन का विषय बनाया है । मैथिलीशरण गुप्त को वे भारतीय परंपरा और संस्कृति के जीवंत कवि मानते हैं । आलोचक के रूप में दिनकर विशिष्ट स्थान के अधिकारी है ।

बच्चन जी की काव्यालोचना स्वस्थ और समृद्ध है । उन्होंने पुराने काव्य सिद्धांतों को नये युग की बदली काव्यचेतना के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया । गीतिकाव्य, उर्दू और रुबाईयात छंद संबंधी बच्चनजी के विचार उनके उदार और परिपाक दृष्टिकोण के परिचायक है । उन्होंने कवि-कर्म का मौलिक विचार किया है । इसमें "विश्रांति की स्थिति" और कलात्मक तनाव की स्थिति की उद्भावना उनके मौलिक चिंतन का उदाहरण है । कवि पंत के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचन पंतजी से उनकी गहन आत्मीयता और उनकी काव्य मर्मज्ञता को द्योतित करता है ।

भगवतीचरण वर्मा ने काव्य में वैयक्तिकता के समावेश में अधिक सतर्कता दिखाई है । गीति काव्य और भाषा के विषय में उनके विचार प्रभावकारी है । उनकी व्यावहारिक आलोचना उपयोगी है ।

संक्षेप में कहें तो छायावादोत्तर कवियों ने पुरानी काव्य मान्यताओं से यथास्थान लाभ उठाते हुए यत्र तत्र उन्हें वैयक्तिक स्पर्शों से पुष्ट किया है । रुबाई छंद का प्रतिपादन मूल्यवान सिद्ध होता है । उनकी आलोचना में मौलिकता अधिक नहीं दिखाई देती, किंतु इसमें संदेह नहीं है कि वे आलोचक केलिए अपेक्षित चिंतन शक्ति से समृद्ध है । इन कवि आलोचकों में दिनकर की उपलब्धियाँ विशेष उल्लेखनीय है ।

प्रगतिवादी काव्य धारा के स्पष्टीकरण केलिए प्रगतिवादी कवियों ने मार्क्सीय सौंदर्यशास्त्र का सहारा लिया । इसी कसौटी पर कला की परख और आलोचना की गई । प्रगतिवादी कवि आलोचकों में सर्वश्री नरेंद्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल, शिवमंगल सुमन और नागार्जुन प्रमुख है । डॉ॰ रामविलास शर्मा और

डॉ॰ रांगेय राघव के विचारों का अध्ययन मैं ने नहीं किया है । क्योंकि साहित्यिक क्षेत्र में इनकी प्रतिष्ठा कवि से अधिक स्वतंत्र आलोचक के रूप में हुई है । अतः इन दोनों की गणना प्रगतिवाद के प्रतिनिधि कवियों में नहीं की गई है । और उनकी मान्यताओं को मैं महत्वपूर्ण नहीं मानता ।

प्रगतिवादी कवियों की आलोचना की यह विशेषता रही कि उन्होंने काव्यालोचना का स्वतंत्र और विस्तार से विवेचन नहीं किया । समसामयिक सामाजिक समस्याओं की पर्यालोचना करते वक्त उन्होंने काव्य कला संबंधी अपनी मान्यताएं व्यक्त की है । काव्य के द्वारा सामाजिक क्रांति की संभावना और जन भाषा की उपयोगिता, उनके नवीन मौलिक आदर्श हैं । प्रगतिवाद के समर्थक होते हुए भी नरेंद्र शर्मा ने उसके ह्रास के कारणों का विवेचन किया है । मार्मिकता का अभाव एवं रुक्षता, उनकी राय में इसका कारण है । अंचल अनुभूति की अपूर्णता और अभिव्यक्ति की असफलता में इसके पराभव का कारण ढूंढते हैं । ये विचार शाश्वत काव्य मूल्यों के प्रति कवि की आस्था का प्रमाण है । प्रगतिवाद के प्रति यह आरोप है कि उसमें काव्य के सौंदर्य पक्ष की उपेक्षा की गयी है, यह आरोप सत्य ही है । इसलिए वाजपेयी जी को कहना पड़ा - "हम जिस जनवादी राष्ट्र या मानव समूह की कल्पना करते हैं, वह केवल आर्थिक दृष्टि से सुखी नहीं होगा, उसे पूर्णतः सांस्कृतिक और नैतिक मानव भी होना चाहिए ।"[1]

प्रगतिवादी कवियों की आलोचना का मूल्यांकन करते हुए यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि मार्क्सीय सौंदर्य शास्त्र के अनुसार काव्यालोचना के मान की नींव डालने में इनका योगदान महत्वपूर्ण है । उनका दृष्टिकोण एकांगी मालूम होता है । किंतु उसमें विशेषता है कि अभी तक उपेक्षित जनता को काव्य में प्रतिष्ठित करने में

---

1. नये साहित्य : नये प्रश्न - नंददुलारे वाजपेयी - पृ॰218

वे सफल हुए । हिन्दी काव्यालोचना के विकास में प्रगतिवादी कवियों का योगदान नगण्य है । अवश्य कतिपय प्रगतिवादी आलोचकों ने हिन्दी काव्यालोचना के विकास में योग दिया है ।

बदले हुए युग और परिस्थिति के अनुकूल नये रागात्मक संबंधों की तलाश में, अनेक मंजिलों को पार करते हुए, अभिव्यक्ति के अनेक आयामों को खोलते हुए प्रयोगवादी कविता नयी कविता के रूप में हिन्दी काव्य क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गई । इस काव्य धारा को प्रतिष्ठित करने में अज्ञेय, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त जैसे प्रतिनिधि कवियों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है । ये, भावयित्री तथा कारयित्री प्रतिभा से सम्पन्न कलाकार हैं । इन्होंने अपनी काव्यरचनाओं के द्वारा इस काव्यधारा को समृद्ध किया, साथ ही अपने सुलझे हुए विचारों से काव्यालोचना के क्षेत्र में नये प्रतिमान स्थापित किये । यह वस्तुत: युगीन मांग थी । अंग्रेजी आलोचक हेलन गार्डनर का यह कथन इसका समर्थन करता है – 'पुरानी मान्यताओं पर नयी रचनाओं का आकलन करना आलोचना में अपर्याप्त है, उन्में समय का स्पर्श अनिवार्य है[1] ।" युगानुकूल परिवर्तन काव्य मान्यताओं में आवश्यक इसीलिए होता है कि तो वह नयी रचनाओं के प्रति न्याय नहीं कर सकती ।

अज्ञेय जी ने काव्य को व्यक्ति चेतना के माध्यम से जीवन सत्य की अभिव्यक्ति कही है । यह विचार नवीन एवं मौलिक है । काव्य के तत्वों में अनुभूति की प्रधानता मानी गयी है । कवि व्यक्तित्व की महत्ता निस्संदे है । नये कवियों को म्प्रेषण की समस्या सबसे कठिन मालूम होती है । इसलिए अज्ञेय जी अपने अनुभूत सत्य की सक्षम अभिव्यक्ति केलिए भाषा में नये संस्कार और अर्थबोध भरना चाहते हैं ।

---

1. Judging the books on the old notions and standards are not sufficient in criticism, but they should have a touch of time.

The business of criticism – Helen gardner, Oxford paper books, 1966

काव्य पृथकत: और अंतत: शब्द है । किंतु उसमें शब्दातीत कुछ अर्थ भरने के नये प्रयोग में कवि लगे हुए है । भाषा संबंधी नये प्रयोग की यह मान्यता अज्ञेय जी की मौलिक पहचान है ।

मुक्तिबोध ने पहले पहल रचना प्रक्रिया के विवेचन के द्वारा इस जटिल और गूढ मनःस्थिति पर प्रकाश डाला है । व्यावहारिक आलोचना के अंतर्गत उन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर "कामायनी" के पुनर्मूल्यांकन का स्तुत्य कार्य किया । गिरिजाकुमार माथुर ने भाषाई टेक्नीक के अंतर्गत स्वर ध्वनि की उद्भावना करके भाषा की लयात्मकता में अधिक योग दिया है । जगदीश गुप्त ने रस निष्पत्ति के वजन पर "सह-अनुभूति" की कल्पना करके अपनी मौलिकता और नवीनता दर्शायी है । अर्थ-लय की परिकल्पना उनकी अपनी देन है । धर्मवीर भारती ने प्रगतिवाद में देशकालानुसार, सिद्धांतों में परिवर्तन लाने पर ज़ोर दिया है । मार्क्सवाद में व्यक्ति के महत्व की स्थापना उनकी मौलिकता कही जा सकती है । लक्ष्मीकांत वर्मा ने "लघुमानव की प्रतिष्ठा से नयी कविता को गौरवान्वित कर दिया । प्रयोगवादी नये कवियों की काव्यालोचना के अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि प्रयोगवादी कवियों ने परिचित मान्यताओं के विरुद्ध क्रांतिकारी दृष्टिकोण अपनाया है । नयी कविता के अनुरूप मान्यताओं में बौद्धिकता का समावेश करते हुए उन्होंने काव्य तत्वों में एक नया तत्व जोड दिया है । हिन्दी आलोचना के विकास में इनका योगदान महत्वपूर्ण है ।

आधुनिक हिन्दी कवियों की काव्यालोचना संबंधी मान्यताओं का सम्यक अध्ययन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने काव्य के स्वरूप और विशेषताओं के निर्धारण की पृष्ठभूमि में नयी मान्यताएं स्थापित की हैं । तात्पर्य यह है कि पुरानी काव्य मान्यताओं की व्याख्या-विश्लेषण मात्र उनका उद्देश्य नहीं रहा । कवियों के आलोचक बनने की यह नयी प्रवृत्ति आधुनिक काल में छायावाद से शुरू हुई । अपने सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति के विवेचन में उपयुक्त काव्य

मान्यताओं की स्थापना से उन्होंने इस दिशा में नयी स्फूर्ति प्रदान की । रोमांटिक मूल्यों और संगीत तत्वों से उन्हें आभूषित कर दिया गया । छायावादोत्तर व्यक्तिपरक कवि-आलोचकों ने वैयक्तिक अभिरुचि के अनुकूल मान्यताओं में परिवर्तन परिवर्द्धन उपस्थित किया । प्रगतिवादी कवि-आलोचक मार्क्सवादी दर्शन और सौंदर्यशास्त्र के अनुरूप काव्यसिद्धांतों को स्थापित करने का प्रयत्न किया । प्रयोगवादी नये कवियों ने आत्म सत्य को काव्य सत्य बनाने केलिए नये रागात्मक संबंधों की तलाश में काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया और तदनुकूल काव्य-मान्यताओं में वे आमूल चूल परिवर्तन लाये । उन्होंने अपने विचारों की सैद्धांतिकता की अपेक्षा उनकी व्यावहारिकता पर अधिक बल दिया । आलोचकों द्वारा निरूपित काव्य सिद्धांतों के स्थान पर इन कवि आलोचकों की मान्यताएं स्वानुभूत होती है और इसीलिए विशेष रूप से विचारणीय है ।

छायावाद से लेकर अब तक की विभिन्न काव्य प्रवृत्तियों के अंतर्गत आनेवाले प्रतिनिधि कवियों की काव्यालोचना के यथासंभव अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हिन्दी काव्यालोचना के विकास में इन कवियों का योगदान नगण्य नहीं है । इतना ही नहीं इनमें से कतिपय कवि-आलोचक आधुनिक हिन्दी कविता के मूर्धन्य आलोचकों की कोटि में आते हैं । सर्वश्री॰ जयशंकर प्रसाद, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय और गजाननमाधव मुक्तिबोध इस कोटि के आलोचक हैं । इनकी आलोचना में चिंतन की मौलिकता और प्रौढता की, दृष्टि से हिन्दी आलोचना की स्थायी सम्पदा है ।

सहायक ग्रंथ सूची

सहायक ग्रंथ सूची

संस्कृत और हिन्दी

1. अभिनव भारती — अभिनव गुप्त, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा ।
2. अभिव्यंजना — भगवान दास तिवारी, कुमार ग्रंथमाला प्रकाशन, इन्दौर ।
3. अर्धनारीश्वर : रामधारीसिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, 1952
4. अशोक के फूल : हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती, सं.12, 1979
5. आत्मनेपद — अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र.सं. 1960
6. आधुनिक कवि - 1 — महादेवी वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र.सं. संवत् 2022
7. आधुनिक कवि - 2 — सुमित्रानंदन पंत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्र.सं. संवत् 2001
8. आधुनिक कवि - 7 — हरिवंशराय बच्चन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र.सं. संवत् 1883
9. आधुनिक साहित्य — नंददुलारे वाजपेयी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य — अज्ञेय, राजपाल एण्ड सन्स, प्र.सं. 1976
11. आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धांत : डॉ. सुरेशचंद्र गुप्त, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-6, प्र.सं. 1960
12. आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ — डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
13. आरती और अंगारे — हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एण्ड सन्स, प्र.सं. 1958
14. आलोचना के मान — डॉ. शिवदान सिंह चौहान, रंजित प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, प्र.सं. 1958
15. उजली आग — रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, प्र.सं. 1956
16. एक साहित्यिक की डायरी — गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पाँचवाँ सं. 1980
17. एकांत गीत — हरिवंशराय बच्चन, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, चौथा संस्करण 1948
18. कदलीवन — नरेंद्र शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद ।

19. कविता के नये प्रतिमान   नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र॰सं॰1968

20. कवियों में सौम्य संत   हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली द्वि॰ सं॰1962

21. कामायनी   जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, प्र॰सं॰ 1935

22. कामायनी-एक पुनर्विचार   गजानन माधव मुक्तिबोध, हिमांशु प्रकाशन गंजीपुरा, जबलपुर, प्र॰सं॰ 1961

23. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन   डॉ॰ द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा । द्वि॰सं॰1963

24. काव्य और कला तथा अन्य निबंध   जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद, प्र॰सं॰2005

25. काव्य की भूमिका, : रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना प्र॰सं॰1958

26. काव्य के रूप : गुलाब राय, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, चौ॰सं॰1958

27. काव्य चिंतन   डॉ॰ नगेन्द्र, नवभारती प्रकाशन, मेरठ, प्र॰सं॰1951

28. काव्य प्रकाश   मम्मट, चौखम्बा विद्याभवन प्रकाशन, बनारस ।

29. काव्य मीमांसा   राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।

30. काव्य संग्रह - 2   रामेश्वर शुक्ल अंचल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पांचवां संस्करण, संवत् 2013

31. किरण वेला : रामेश्वर शुक्ल अंचल, सुधी जीवन ग्रंथमाला, प्रयाग, प्र॰सं॰1941

32. क्षणदा   महादेवी वर्मा, भारती भंडार इलाहाबाद, प्र॰सं॰ संवत् 2013

33. खिचड़ी विप्लव देखा हमने   नागार्जुन, संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज हापुड़-1, प्र॰सं॰ 1980

34. गद्यपथ   सुमित्रानंदन पंत, हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद, प्र॰सं॰1953

35. गीतिका   सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, लीडर प्रेस इलाहाबाद, पां॰सं॰2018

36. चक्रवाल   रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना द्वि॰सं॰1956

37. चयन : सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, कुसुमती, इलाहाबाद, द्वि॰सं॰1969

38• चाबुक : सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, निरूपमा प्रकाशन, प्रयाग, प्र०सं०1962

39• चांद का मुंह टेढ़ा है : गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वि०सं० 1965

40• चिंता अज्ञेय, सरस्वती प्रेस, बनारस ।

41• छायावाद का पुनर्मूल्यांकन; सुमित्रानंदन पंत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं०1965

42• टूटी छूटी कड़ियाँ हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एण्ड सन्स, प्र०सं०1973

43• ठंडा लोहा तथा अन्य कविताएं : धर्मवीर भारती, साहित्य भवन लि० इलाहाबाद, प्र०सं०1952

44• तारसप्तक सं०अज्ञेय, प्रतीक प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०1943

45• तीसरा सप्तक सं०अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र०सं० 1967

46• त्रिशंकु अज्ञेय, सरस्वती प्रेस बनारस, प्र०सं० 1954

47• दीपशिखा महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्र०सं० संवत्2011

48• दूसरा सप्तक सं० अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वि०सं० 1966

49• धर्मवीर भारती : साहित्य के विविध आयाम डॉ० पुष्पवंश,राजपाल, वि०भू० प्रकाशन, साहिबाबाद, प्र०सं०1980

50• धूप के धान गिरिजाकुमार माथुर, भारतीय ज्ञानपीठ, प्र०सं०1955

51• नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध मुक्तिबोध, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, प्र०सं०1964

52• नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकांत वर्मा, भारती प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं० संवत् 2014

53• नयी कविता स्वरूप और समस्याएं डॉ० जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र०सं० 1969

54• नये प्रतिमान पुराने निकष : लक्ष्मीकांत प्रतिमान, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्र०सं० 1966

55• नये साहित्य नये प्रश्न : नंददुलारे वाजपेयी, विद्यामंदिर, बनारस, प्र०सं०1963

56• नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र मुक्तिबोध, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं०1971

57· नाटक भारतेन्दु, विश्वविद्यालय परीक्षा बुक डिपो, प्रयाग, प्र·सं·1941

58· नीलकुसुम : रामधारी सिंह दिनकर, उदयाचल, पटना, प्र·सं·1954

59· पथ के साथी : महादेवी वर्मा, भारती भंडार, इलाहाबाद, प्र·सं· सं·2013

60· परिमल निराला, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, संवत् 1986

61· पल्लव पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, छठा सं· 1948

62· पंत और पल्लव निराला, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, प्र·सं·1949

63· पंत प्रसाद और मैथिलीशरण दिनकर, उदयाचल, पटना, प्र·सं· 1958

64· पर आँखें नहीं भरी - शिवमंगल सिंह सुमन, राजकमल, दिल्ली।

65· प्रगतिवाद : एक समीक्षा : धर्मवीर भारती, साहित्य भवन, लि· इलाहाबाद, प्र·सं·1949

66· प्रगति और परंपरा रामविलास शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद

67· प्रबंध पद्म : निराला, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, प्र·सं· संवत् 2011

68· प्रबंध प्रतिमा निराला, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्र·सं· संवत् 1963

69· प्रेम माधुरी भारतेन्दु, द्वि· सं· 1882

70· प्रेमघन सर्वस्व - 2 : बदरीनारायण चौधरी, प्रेमघन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र·सं· संवत् 2007

71 प्रेम संगीत भगवतीचरण वर्मा, विशाल भारत बुक डिपो, कलकत्ता, चौथा सं· 1949

72· प्रलय सृजन : शिवमंगल सिंह सुमन, प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद, प्र·सं·194[illegible]

73· प्रवासी के गीत : नरेंद्र शर्मा, भारती भंडार, इलाहाबाद, चौथा सं· संवत् 2009

74· फिलहाल : अशोक वाजपेयी, राजकमल, दिल्ली, प्र·सं· 1970

75· बसेरे से दूर हरिवंशराय बच्चन, राजपाल एण्ड सन्स, प्र·सं·1977

76· बावरा अहेरी : अज्ञेय, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद, प्र·सं·1954

77· बुद्ध और नाचघर : बच्चन, राजपाल एण्ड सन्स, प्र·सं· 1958

78· मधुकण : भगवतीचरण वर्मा, ओझाबंधु आश्रम, प्रयाग

79· मधुकलश बच्चन, सेंट्रल बुकडिपो, इलाहाबाद, पाँच·सं · 1947

80· मधुशाला : बच्चन, सेंट्रल बुकडिपो, इलाहाबाद, द्वि·सं·

81. मधूलिका   रामेश्वर शुक्ल अंचल, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, प्र॰सं॰1942

82. महाकवि निराला   संस्मरण   श्रद्धांजलियाँ, राजकुमार शर्मा, किताब महल, इलाहाबाद, प्र॰सं॰ 1957

83. महादेवी का गद्य   डॉ॰ सूर्यप्रसाद दीक्षित, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

84. माखनलाल चतुर्वेदी:एक अध्ययन   सं॰बख्शी, लोकचेतना प्रकाशन, जबलपुर, प्र॰सं॰ 1950

85. मानव : भगवतीचरण वर्मा॰ विशाल भारत बुकडिपो, कलकत्ता, द्वि॰सं॰1948

86. मिट्टी और फूल   नरेंद्र शर्मा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, द्वि॰सं॰ संवत् 2002

87. मिट्टी की ओर   दिनकर, उदयाचल,पटना, तृ॰सं॰ 1952

88. मुक्तिबोध : विचारक कवि और कथाकार   सुरेंद्र प्रताप, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र॰सं॰1978

89. मेरा रूप और तुम्हारा दर्पण   बाल स्वरूप राही, ग्रांड ट्रेडर्स एण्ड कम्पनी, दिल्ली, प्र॰सं॰ 1958

90. युग पथ   पंत, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्र॰सं॰ संवत् 2006

91. युगवाणी   पंत, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्र॰सं॰1939

92. रवीन्द्र कविता कानन   निराला, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्र॰सं॰1954

93. रश्मिबंध   पंत, राजकमल, दिल्ली, पंद्रहवाँ सं॰

94. रसज्ञ रंजन : महावीर प्रसाद द्विवेदी, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, नवीं सं॰1958

95. रसमीमांसा : रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, प्र॰सं॰2011

96. रीतिकाव्य की भूमिका : डॉ॰ नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, प्र॰सं

97. रेती के फूल   दिनकर, उदयाचल, पटना, द्वि॰सं॰ 1956

98. वनफूल : कन्हैयालाल सेठिया, भूमिका बच्चन

99. विचार और विवेचन : नगेन्द्र गौतम बुक डिपो, आगरा।

100. विचार विमर्श   महावीर प्रसाद द्विवेदी, भारती भण्डार, इलाहाबाद प्र॰सं॰ संवत् 1988

101· विचार और विवेचन   नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र०सं० 1955

102· विश्वास बढ़ता ही गया : सुमन, सरस्वती प्रेस, बनारस, प्र०सं० 1955

103· विस्मृति के फूल   भगवतीचरण वर्मा, साहित्य केंद्र, इलाहाबाद ।

104· शरणार्थी   अज्ञेय, शारदा प्रकाशन, बनारस, प्र०सं० संवत् 2004

105· शिल्प और दर्शन : पंत, किताब महल, इलाहाबाद, प्र०सं० 1961

106· संकल्पिता   महादेवी वर्मा, सेतु प्रकाशन, झाँसी, प्र०सं० संवत् 2015

107· संचारिणी   शांतिप्रिय द्विवेदी, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद

108· सत्य हरिश्चंद्र   हरिप्रकाश यंत्रालय, बनारस, द्वि०सं०

109· समाज और साहित्य   "अंचल", प्रथम संस्करण

110· समालोचना समुच्चय   महावीर प्रसाद द्विवेदी

111· सात गीत वर्ष   धर्मवीर भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, प्र०सं० 1959

112· साहित्य का मर्म   हजारी प्रसाद द्विवेदी, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

113· साहित्य के सिद्धांत तथा रूप   भगवती चरण वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र०सं० 1976

114· साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध   महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र०सं० 1962

115· साहित्यानुशीलन   शिवदानसिंह चौहान, आत्माराम एण्ड सन्स, प्र०सं० 1955

116· सांध्यगीत : महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्र०सं० संवत् 2013

117· सीपी और शंख   दिनकर, उदयाचल, पटना, प्र०सं० 1957

118· सुमित्रानंदन पंत : डॉ० नगेन्द्र, साहित्य रत्न भण्डार, इलाहाबाद, छठा सं० संवत् 2009

119· सूर संदर्भ   नंददुलारे वाजपेयी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ।

120· सोपान   बच्चन, भारती भंडार, इलाहाबाद, प्र०सं० संवत् 2010

121· स्कंदगुप्त : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, चौ०सं० 1978

122· हलाहल   बच्चन, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्र०सं० 1946

123· हंसमाला   नरेंद्र शर्मा, भारती भण्डार· प्र०सं० संवत् 2003

124· हिन्दी आलोचना का उद्भव और विकास   डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र, साहित्य सदन, दिल्ली, 1981

125· हिन्दी का गद्य साहित्य डॉ· रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र·सं· 1968

126· हिन्दी भाषा : भारतेन्दु, खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर, 1888

127· हिन्दी साहित्य – 3 : सं· धीरेंद्र वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, प्र·सं· 1969

128· हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, तेरहवां सं· संवत् 2018

129· हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी नंददुलारे वाजपेयी, लोकभारती, नवीन संस्करण 1963

130· हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास : डॉ· गणपतिचंद्र गुप्त, भारतेंदु भवन, चंडीगढ़, प्र·सं· 1965

131· हिन्दी काव्यालंकार सूत्र; व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

132· हिन्दी ध्वन्यालोक : आनंदवर्धन, व्याख्याकार – विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, आगरा।

133· हिन्दी साहित्यानुशीलन : अंचल, प्र·सं·

134· हिल्लोल + शिवमंगल सिंह सुमन, सरस्वती प्रेस, बनारस, द्वि·सं·1946

अंग्रेज़ी

1. Ben Johnson : Vol III Ed. C.H. Herford & others, Oxford, University Press, London, 1954

2. Encyclopaedia Britanica

3. Illusion and Reality - Christopher Caudwell, 1936, People Publishing House, Delhi.

4. Oxford Dictionary of quotations. 2nd Ed. 1953, Oxford University Press, London.

5. Selected Prose - T.S. Eliot, Ed. John Hayward, Penguin, 1965

6. The business of criticism, Helen Gardner, Oxford paperbacks, 1966

7. The complete poetical works of Shelly - Thomas Hutchinson, Oxford University Press, London, 1952.

पत्र-पत्रिकाएं

1. अवन्तिका, जनवरी 1954, नवंबर-दिसंबर, 1956
2. आजकल, जुलाई 1956, मार्च 1958
3. आधार, मार्च 1956
4. आनंद कादम्बिनी माला - 2, मेघ 8-9
5. आलोचना, जनवरी 1956, नवांक 56-57, जनवरी-जून 1981
6. इंदु कला प्रथम, किरण - 2
7. तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्य विवरण भाग - 1
8. देवनागर, कार्तिक संवत् 2010
9. प्रतीक - जून 1951
10. प्रसारिका - अक्तूबर-दिसंबर 1956
11. माधुरी - अगस्त 1923
12. रूपाभ - सितंबर 1938
13. विशाल भारत, जनवरी 1940
14. समीक्षा - दिनकर स्मृति अंक 11-12, मार्च अप्रैल 1975
15. सम्मेलन पत्रिका, भाग - 41, संख्या-4, संवत् 2012
16. सरस्वती जून 1958
17. हिमालय - अप्रैल, 1946
18. हंस - मार्च 1941
19. हरिश्चन्द्र चन्द्रिका - अगस्त 1874
20. नयी कविता, अंक - 2, अंक - 4, 1959